प्राचीन भारतीय संस्कृति

विनोद चन्द्र पाण्डेय
के. सिंह
एल. एन. मुकर्जी

प्राचीन भारतीय संस्कृति

(Ancient Indian Culture)

लेखक

विनोदचन्द्र पांडेय, एम० ए०

के० सिंह, एम० ए०

एल० एन० मुकर्जी, एम० ए०

प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ

प्रकाशन केन्द्र

रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ—*226020*

(फोन : 73035)

प्रकाशक : प्रकाशन केन्द्र,
रेलवे कासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ–226020
: 1989
मूल्य : पच्चीस रुपये पचास पैसे (Rs 25·50) मात्र ।

प्रस्तावना

मानवीय बुद्धि को प्रगल्भ, क्रियाशील एवं उदयशील बनाने के लिये इतिहासाध्ययन जैसा अन्य कोई भी साधन नहीं है। इतिहास का बाह्यवरण यद्यपि राजवंशों की नामावलियों अथवा रक्त की नदी बहा देने वाली दुर्भाग्यपूर्ण लड़ाइयों के वृत्तान्त से बना है, फिर भी उसकी आत्मा संस्कृति की स्थापना एवं प्रसार से सम्बन्ध रखती है। इसी श्रद्धा से भारत के प्राचीन इतिहास के अध्ययन एवं संशोधन का कार्य स्वातन्त्र्योत्तर काल में प्रारम्भ हुआ तथा अनेकानेक पुस्तकें प्रकाश में आयीं। किन्तु वर्ण्य-विषय की गहनता, गूढ़ता, विशालता विद्वानों के मतों में वैभिन्य आदि देखकर विद्यार्थी-वर्ग अत्यधिक कठिनाई का अनुभव करता था। अतएव विद्यार्थियों के लाभार्थ प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन किया गया। इस पुस्तक में 'प्राचीन भारत के इतिहास' (320 ई० 1200 ई०) से सम्बन्धित अद्यतन प्रकाशित सामग्री का उपयोग किया है। सरल सुबोध प्रश्नोत्तरात्मक शैली, प्रश्नों का सुस्पष्ट, पूर्ण एवं सुगठित उत्तर, प्रवाहमान भाषा आदि प्रस्तुत पुस्तक की कतिपय विशेषताएँ हैं।

आशा है, पुस्तक विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को लाभप्रद सिद्ध होगी।

—विनोद चन्द्र पांडे

—के० सिंह

विषय-सूची

भाग 1

भाग 2

भाग 3

भारतीय संस्कृति

प्रश्न—भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालिये और सिद्ध कीजिए कि भारत में विविधता में भी एकता है।

भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ कब से हुआ यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। अनुश्रुति के अनुसार उसका प्रारम्भ सृष्टि के आदि से है। अब तक प्राप्त प्रमाणों के अनुसार उसका प्राचीन रूप वैदिककालीन संस्कृति है। वैदिककालीन आर्य संस्कृति का उदय ईसवी शती के कई सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था। कुछ विद्वान् भारत की प्राचीन-तम् संस्कृति सिन्धु संस्कृति को मानते हैं, जिसके कुछ चिह्न मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों से प्राप्त हुए हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार सिन्धु नदी के किनारे कोई अन्य विदेशी संस्कृति प्रचलित थी। इस संस्कृति की समानता बेबिलोनिया और सुमेरिया की संस्कृतियों से दिखाई देती है। इस तर्क के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि बेबिलोनिया से यह संस्कृति सिन्धु प्रदेश में फैली थी परन्तु यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। सिधु-सभ्यता को भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत रखना ही अधिक उचित होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति का विशेष महत्व है क्योंकि यह संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इस संस्कृति का अध्ययन करने पर हमें इसकी कुछ मूलभूत विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं, जिनकी चर्चा नीचे की जा रही है।

(1) **प्राचीनता**—भारतीय संस्कृति की गणना विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों के मध्य होती है। इस संस्कृति के कई विशिष्ट और प्रमुख अंगों का विकास ईसा से कई शताब्दियों पूर्व हो चुका है। यूनान और रोम की सभ्यताओं का जन्म भारतीय संस्कृति के उद्भव के कुछ समय बाद हुआ। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में जो खुदाई हुई है उससे यह ज्ञात होता है कि जिस समय मिस्र और मेसोपोटामिया आदि में उच्च कोटि की सभ्यता विद्यमान थी उस समय भारत में भी एक अत्यन्त उच्च कोटि की सभ्यता फलीभूत हो रही थी।

(2) **स्थायित्व (Steadfastness)**—भारतीय संस्कृति का मूल तत्व उसमें निहित स्थायित्व की भावना है। मिस्र, यूनान, असीरिया, क्रीट, रोम, काबुल आदि की सभ्यताएँ एक समय उच्चता के शिखर पर थीं परन्तु समय-परिवर्तन के साथ समाप्त हो गयीं। परन्तु भारतीय संस्कृति आज तक अक्षुण्ण रूप से हमारे बीच वर्तमान है भारत में धर्म, भाषा, साहित्य, नीति, कला, सामाजिक व्यवस्था आदि का व्यापक रूप प्राचीन् काल से आज तक चला आ रहा है। वेद, उपनिषद्, मनु-

स्मृति, महाभारत, रामायण, राम, कृष्ण, वशिष्ठ, सीता, सावित्री आदि नाम आज भी किसी भारतीय को प्रभावित करने में पूर्ण समर्थ हैं।

(3) **संश्लेषणात्मक** (Synthetic) **प्रवृत्ति**—भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता उसकी संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति है। बाह्य रूप में यह संस्कृति संसार की अन्य संस्कृतियों की भाँति पृथकतावादी गुणों से युक्त है, किन्तु गम्भीरतापूर्वक देखने से हमें ज्ञात होगा कि यह संस्कृति अनेक संस्कृतियों के सम्पर्क में आकर भी यथावत बनी रही। ईरान, यूनान, अरब और योरुप के निवासी भारत में आये और चले गये परन्तु यहाँ की संस्कृति ज्यों-की-त्यों बनी रही। इसी कारण हूण, शक, मंगोल, तुर्क आदि जातियाँ भी लूटपाट, मारकाट में व्यस्त रहीं फिर भी ये सभी भारत के रंग में स्वयं रंग गये। इनमें से कुछ जातियों के लोगों ने हमारी भाषा, धर्म और व्यवहार आदि को भी अपना लिया। यह संश्लेषण कभी-कभी तो नीति के विरुद्ध विदेशियों द्वारा वैवाहिक सम्बन्धों को ग्रहण किए जाने के बाद होता था। कभी-कभी यह संश्लेषण या मेल देश के विशिष्ट लोगों के द्वारा अपनाई गई नम्र नीति के कारण होता था। अनेक व्यक्ति और जातियाँ भारतीय धर्म और भाषा को ग्रहण कर भारतीय समाज में मिल गईं।

(4) **विविधता तथा सुसम्पन्नता** (Diversification and contentment)—भारतीय संस्कृति की एक अन्य विशेषता उसकी विविधता तथा सुसम्पन्नता है। भारत में यह विविधता, अनेक क्षेत्रों में प्राप्त होती है। भारत जिस प्रकार विशाल भूखण्ड में व्याप्त है उसी प्रकार यहाँ अनेक जातियाँ, भाषाएं, मत तथा विचार और रीति-रिवाज व्याप्त हैं। यह विभिन्नता काश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले प्रदेशों में स्पष्ट दिखाई देती है। यह विविधता, भारतीय संस्कृति की सुसभ्यता को प्रकट करती है। भारतीय संस्कृति की यह विविधता अनेकता का दर्शन कराती है, किन्तु विचार करने पर इसके बीच दृढ़ता और एकता का सूत्र व्याप्त है।

विशाल देश में कला-कौशल, साहित्य, जीवन, व्यवहार सामाजिक-व्यवस्था, धर्म, भाषा आदि सम्बन्धी विविधता स्वाभाविक है किन्तु इस विविधता में भी एकता के दर्शन होते हैं। भारत में विविध दर्शनों, संगीत तथा कला की प्रणालियों और गान तथा नृत्य की शैलियों का विकास हुआ। ये सभी देश की सांस्कृतिक धरोहर हैं।

(5) **आस्तिकता** (Godliness)—भारतीय संस्कृति सदैव से आस्तिक रही है। सर्वात्मा का ध्यान तथा आराधना, उसके प्रति जिज्ञासा की भावना तथा चराचर सृष्टि में उसका विश्लेषण भारतीयों ने सदैव से किया है।

अध्यात्म की भावना के कारण भारतीय संस्कृति का एक अनुपम रूप सामने आता है। भारतीय संस्कृति में अध्यात्म की भावना को विशेष ध्यान दिया गया है। अध्यात्म और दार्शनिकता दोनों एक साथ जुड़े हुए हैं। विश्वात्मा सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। हम सभी उसके रूप हैं। माया का आश्रय लेकर विश्वात्मा संसार में प्रकट है।

(6) **सत्य** (Truth), **अहिंसा** (Non-violence), अपरिग्रह, अस्तेय और **ब्रह्मचर्य** (Self-control)—भारतीय संस्कृति में सभी धर्मों, व्यक्तियों आदि के प्रति

सहिष्णुता की भावना और जीवों के प्रति अहिंसा की वृत्ति एवं सत्य को ग्रहण करने का विश्वास स्थापित है। वैदिक ब्राह्मणों, बौद्धों तथा जैनियों ने इन सिद्धान्तों पर निरन्तर जोर दिया तथा इन्हीं आदर्शों को कार्य रूप में अपनाया। वह आदर्श केवल संन्यासी एवं विचारकों के लिए ही नहीं बल्कि राजा तथा प्रजा सभी का कल्याण इसी मार्ग पर चलकर है।

(7) **कर्म (Action) की भावना**—भारतीय जीवन में वेदों से लेकर आज तक कर्म-मार्ग को अपनाया गया है। गीता में महापुरुष श्री कृष्ण ने कहा है—

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

गीता का यह उपदेश पुरातन काल से भारतीय जन-जीवन को प्रभावित करता रहा है। आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्म की महत्ता के प्रतिपादन से सभी धर्मों में एकसूत्रता स्वयं स्थापित हो गई।

(8) **पुनर्जम (Re birth) का सिद्धान्त**—भारतीय अध्यात्म में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का महत्व है। इसके अनुसार व्यक्ति अपने किये गये कर्मों के अनुसार पुनः-पुनः मृत्यु प्राप्त कर भी जीवन धारण करता है। व्यक्ति पाप-कर्मों में रत रह कर अपना अलग जीवन नष्ट करता है जब कि धार्मिक कार्यों को करता हुआ व्यक्ति नवीन जीवन प्राप्त कर, देवत्व के गुणों से मुक्त हो जाता है।

(9) **सहिष्णुता (Considerateness) तथा आदर (respectfulness)**—भारतीय संस्कृति में अन्यान्य धर्मों तथा जातियों के प्रति समुचित आदर और सहिष्णुता की भावना प्रारम्भ से पायी गयी है। अशोक ने स्पष्ट कहा था, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा विविध दान व पूजा से गृहस्थ व संन्यासी, सब सम्प्रदाय वालों का सत्कार करते हैं किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की उतनी परवाह नहीं करते, जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्व) की वृद्धि हो। सम्प्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है। पर उसकी जड़ वाणी का संयम है, अर्थात् लोग अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें।

भारत के साम्प्रदायिक संघर्षों की कमी का कारण यही धार्मिक सहिष्णुता है।

(10) **अवतारवाद (Incarnational spirit)**—भारतीय धर्म के अनुसार ईश्वर संसार की रक्षा तथा धर्म की पुनर्स्थापना के लिए विविध अवतार धारण करता है। धर्म में सुधार की भावना समाज-सुधार के रूप में पायी जाती है अर्थात् धर्म का कोई स्थायी एवं अपरिवर्तित रूप नहीं है। धर्म के रूपों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी हो सकता है।

(11) **धर्म, त्याग (Sacrifice) तथा तप**—भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग धर्म है। धर्म का जीवन तथा मानव व्यवहार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भारतीय जनजीवन के श्वास में धर्म है। यहाँ का समस्त सामाजिक ढाँचा धर्म पर आधारित है और सभी बातों को धर्म की सीमा में बाँधा गया है। संसार में विचरण

करना भी धर्म का पालन करना है। धर्म के साथ ही तप एवं त्याग को भी यहाँ विशेष महत्व दिया गया है। तप तथा त्याग के द्वारा इस देश के महर्षियों ने असीम सिद्धियाँ प्राप्त कीं। त्याग तथा तप के द्वारा जीवन उदात्त एवं समाज के कल्याण के लिए कृतार्थ बनता है। अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह समाज के लिये बाधक है। त्याग और तप के द्वारा ही मानव का वास्तविक रूप निखरता है।

(12) **समन्वय (Synthesis) की भावना**—भारतीय जीवन में समन्वय की भावना उसकी आधारभूत विशेषता है। यह समन्वित जीवन विविध आश्रमों के सम्बन्धों की एकता तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि प्रवृत्तियों के सामंजस्य में निहित है। संन्यास को उच्च स्थान प्रदान करते हुए भी गृहस्थ जीवन व अर्थोपार्जन को उससे श्रेष्ठ बताया गया है।

(13) **जाति-व्यवस्था (Caste system)**—सामाजिक उन्नति के लिये भारतीय मनीषियों ने समाज को जातियों तथा वर्णों में विभाजित किया था। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ स्वधर्मपूर्वक व्यवसाय में उन्नति कर समाज में रहे। भौतिक जीवन को ग्रहण कर भी व्यक्ति पारमार्थिक उन्नति की ओर तत्पर हो सकता है। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक सेवाओं का पर्याप्त महत्व है। सामाजिक जीवन का नियन्त्रण भारतीय जाति-व्यवस्था की विशेषता है।

(14) **विभिन्न संस्कृतियों का योग (Blending of various civilizations)**—भारतीय संस्कृति में विभिन्न संस्कृतियों के योग के दर्शन होते हैं। आर्य, अनार्य शक, ग्रीक, यूनानी, कुषाण, हूण, पारसी तथा गौड़ आदि विभिन्न संस्कृतियों की विचारधारा के योग से भारतीय संस्कृति का विकास हुआ। भारतीय संस्कृति में सभी संस्कृतियाँ मिलकर भी भारतीय संस्कृति के रूप को बदल न सकीं। विदेशी विचारधाराओं का यहाँ सदैव स्वागत किया गया। समन्वय की वृत्ति भारतीय संस्कृति का प्राण और जीवन है। हैलियोडोरस, यूनान देश का निवासी था जिसने भागवत धर्म स्वीकार किया था। कनिष्क कुषाण-वंशी था किन्तु उसने बौद्ध धर्म का प्रसार किया। इस्लाम धर्म और हिन्दू धर्म में भी कुछ बातों में पर्याप्त समानता रही। मध्यकाल में अनेक मुसलमान सन्तों ने कृष्ण-भक्ति में योग दिया। एक विद्वान के अनुसार, "अनेक बाह्य आक्रमण हुये, अनेक जातियाँ आयीं तथा अनेक विधारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ फिर भी अपने देश में संस्कृति की आधारशिला को सुरक्षित रखते हुए हमने समय-समय पर इन सब जातियों को अपने में मिला लिया तथा इनकी सभ्यता को स्थान दिया।"

(15) **व्यावहारिक रूप तथा इहलौकिक (Practical and worldly) भावना**—कुछ विद्वानों का विचार है कि भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता की भावना की प्रधानता होने के कारण उसमें काल्पनिकता, जड़ता तथा इहलोक-विमुखता आ गई। इन विद्वानों के मतानुसार वास्तविक जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव भारतीय संस्कृति में आ गया। परन्तु यदि किंचित गहनता से विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि यह विचार ठीक नहीं है। भारतीय संस्कृति में कर्म के साथ जीवन का व्यवहार पक्ष सदैव साथ रहा और लोक की उन्नति के साथ ही परलोक की सिद्धि की ओर संकेत किया गया है। आर्थिक सम्पन्नता, शासन-विस्तार आदि के अनेक उदाहरण भारत में देखने को मिलेंगे। राजा सदैव प्रजा की रक्षा तथा भलाई का ध्यान रखते

थे। आध्यात्मिकता का जितना आदर भारत में हुआ उतना ही भौतिकता की ओर भी ध्यान दिया गया। शिक्षा के अन्तर्गत दर्शन, चिकित्सा, कला, युद्ध-संचालन, अर्थ-शास्त्र आदि विषय रखे गये जो एक ओर परलोक तत्व की ओर संकेत करते थे और दूसरी ओर मानव की भौतिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करते थे। मोहनलाल विद्यार्थी ने स्पष्ट किया है, "भारतीय संस्कृति खड़ी तो इस भूमि पर है पर इसका शीश आकाश की ओर उठा हुआ है। इसकी तुलना उस अश्वत्थ वृक्ष से की गई है जिसकी नींव स्वर्ग में है परन्तु शाखायें पृथ्वी की ओर हैं।......हमने भौतिकता और आध्यात्मिकता को विभिन्न नहीं समझा। भगवान को, जैसा कि उपनिषदों में बताया गया है, प्रत्येक पदार्थ में निहित समझा गया है। अतएव उसको व्यक्त करने के लिये प्रत्येक पदार्थ तत्व या विद्या को पराकाष्ठा पर पहुँचना आवश्यक समझा गया।... हमने कभी सन्तुलन का त्याग नहीं किया, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के पारस्परिक सम्बन्धों में सन्तुलन का सदैव ध्यान रखा।"

(1) **प्रवहमान (Developing) संस्कृति**—भारतीय संस्कृति एक प्रवहमान संस्कृति है। उसकी धारा का प्रवाह भारत से दूर विदेशों में भी फैला। अन्य देशों की संस्कृतियाँ काल-कवलित हो गयीं किन्तु भारतीय संस्कृति ने अनेक झंझावात झेले और नष्ट नहीं हुई। एक विद्वान् ने भारतीय संस्कृति के विषय में ठीक ही कहा है, "हमारा प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमने समयानुसार अपनी सभ्यता में परिवर्तन किया है और समाज के सम्मुख एक नये समन्वय को प्रस्तुत किया।"

डॉ० बैजनाथ पुरी ने इस विकास गति को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है, "वास्तव में भारतीय संस्कृति में परिवर्तन की भावना सदैव से रही है पर उसके अस्तित्व और सिद्धान्तों को नष्ट करने का कभी प्रयास नहीं किया गया। राजनैतिक प्रतिकूल परिस्थितियों के फलस्वरूप वहाँ की सांस्कृतिक मूल धारा में पानी सूखने लगा हो पर उसका स्रोत कभी भी बन्द नहीं हुआ। इस संस्कृति का स्वरूप सदैव से ही जागृत है और इसने विश्व-शान्ति की भावना को भी अपनाया है।"

समय के अनुसार भारतीय संस्कृति के बाह्य रूप में परिवर्तन हुआ है परन्तु उसकी आत्मा वही है। भारतीय विचारधारा में एक तारतम्य के दर्शन होते हैं।

अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही भारतीय संस्कृति की गणना विश्व की महान् संस्कृतियों में की जाती है। आज भी यह संस्कृति अविचलित रूप से संसार के सम्मुख उपस्थित है। प्राचीन काल से यह संस्कृति संसार का पथ-प्रदर्शन करती रही है और करती रहेगी।

भारत में विविधता में एकता

भारतीय संस्कृति विभिन्नता में एकता प्रकट करती है। भारत एक अत्यन्त विशाल देश है। इसकी विशालता के फलस्वरूप बहुत से विद्वान् इसे एक महाद्वीप कह देते हैं। यह इङ्गलैण्ड से बीसगुना बड़ा है और यहाँ लगभग 2,000 जातियाँ निवास करती हैं। 179 भाषायें यहाँ बोली जाती हैं और स्थानीय भाषाओं की संख्या 544 है। अनेक धर्मों को मानने वाले लोग यहाँ निवास करते हैं। वैदिक धर्म,

जैन धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, पारसी धर्म आदि अनेक धर्मों के लोग इस देश में निवास करते हैं। यही नहीं, विभिन्न सम्प्रदायों के लोग यहाँ एक साथ रहते हैं। विभिन्न धर्मानुयायियों और सम्प्रदाय वालों के आचार-विचार, रहन-सहन भाषा आदि में अन्तर है। उत्तरी और दक्षिणी भारत के लोगों के रहन-सहन, क्रिया-कलाप आदि में विशाल अन्तर के दर्शन होते हैं। विविधता का एक रूप यहाँ यह भी देखने को मिलता है कि यहाँ के कुछ लोग अत्यन्त सुसभ्य और उन्नत हैं। जबकि बहुत से लोग अत्यन्त असभ्य और पिजड़े हैं। इस देश में एक ओर अनेक शुष्क जलवायु वाले स्थान हैं तो दूसरी ओर आर्द्र जलवायु वाले स्थान भी हैं। एक ओर मैदान हैं तो दूसरी ओर पर्वत शिखर हैं। एक ओर ठण्डे स्थान हैं तो दूसरी ओर गर्म स्थान। भारत में विविधता कितनी अधिक है यह इस बात से स्पष्ट हो जाएगी कि यहाँ अनेक बड़े-बड़े सम्राट हुए परन्तु कोई भी सम्राट सम्पूर्ण भारत पर अपना राज्य स्थापित न कर सका। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, अलाउद्दीन खिलजी और अकबर जैसे शक्तिशाली नरेश भी इस देश के सभी क्षेत्रों को अपने अधीन नहीं ला सके। दक्षिणी भारत प्रायः स्वतन्त्र ही रहा।

यह ठीक है कि यहाँ विविधता और विभिन्नता के दर्शन होते हैं परन्तु इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया जायेगा कि यहाँ विविधता में भी एकता है। इन विभिन्नताओं के बावजूद भारत एक राष्ट्र है। सुप्रसिद्ध विद्वान् विन्सेण्ट स्मिथ लिखता है, "भारत की विभिन्नता में एकता निहित है।" भारतीय संस्कृति विभिन्नता में एकता प्रकट करती है। यहाँ इस तथ्य की हम स्पष्ट रूप में व्याख्या करेंगे।

(1) **भौगोलिक एकता**—भारतवर्ष भौगोलिक दृष्टि से एक देश है। यहाँ की भौगोलिक एकता उसके मानचित्र पर एक दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जाती है। यदि संसार के मानचित्र पर एक विहंगम दृष्टि डाली जाय तो उसके देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष एक अलग देश है और उसकी सीमाएँ प्रकृति द्वारा निश्चित कर दी गई हैं। उसके उत्तर में हिमालय पर्वत है और शेष तीन ओर समुद्र है। देश में कोई ऐसा ऊँचा पर्वत या नदी नहीं है जिसके ऊपर जाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना कठिन हो। यहाँ भ्रमण करते समय मनुष्य यह कभी भी अनुभव नहीं कर सकता कि वह किसी देश के बाहर भ्रमण कर रहा है। भारत-वासी सदैव ही इसको अपना देश मानते हैं। विष्णु पुराण में कहा गया है कि समुद्र के उत्तर में तथा हिमालय के दक्षिण में जो देश है वह भारत है और वहाँ के निवासी भारत की सन्तान कहलाते हैं।

उत्तर यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ।।

प्राचीनकाल से ही भारत को सात नगरों, सात नदियों और सात पर्वतों वाला देश कहा गया है। इन सातों नगरों; नदियों और पर्वतों में उत्तरी और दक्षिणी भारत दोनों की ही नदियों तथा नगरों के नाम मिलते हैं। प्राचीनकाल से ही चाणक्य जैसे विचारक भारत की भौगोलिक एकता को देखकर उसे "हिमालय से समुद्र पर्यन्त सहस्र विस्तीर्ण 'चक्रवर्ती' का क्षेत्र" कहते रहे हैं।

(2) **धार्मिक एकता**—भारत में अनेक धर्मों और सम्प्रदायों के लोग रहते हैं। तीन बड़े धर्म—ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म का जन्म भारत में ही हुआ है। साथ ही ईसाई, पारसीक, इस्लाम आदि धर्मों के लोग भी विदेशों से यहाँ आये। सम्प्रदायों की तो गणना करना ही मुश्किल है। कोई ज्ञानमार्गी है तो कोई भक्तिमार्गी। कोई मूर्तिपूजा में विश्वास करता है तो कोई मूर्तिपूजा का कट्टर विरोधी है। केवल ब्राह्मण धर्म को ही ले लीजिये, उसमें भी अनेक मत-मतान्तर और सम्प्रदाय हैं। इस्लाम धर्म के मानने वालों में भी शिया और सुन्नियों के सम्प्रदाय हैं। बौद्धों में भी हीनयान और महायान हैं। जैनियों में भी श्वेताम्बर और दिगम्बर अलग-अलग हैं। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में विविधता के दर्शन होते हैं। परन्तु इस विविधता में भी एक तरह की एकता है। हिन्दू और मुसलमान दोनों बहुत से त्यौहार मिलकर ही मनाते हैं। यहाँ के निवासी उत्तरी और दक्षिणी भारत की नदियों को पवित्र मानते हैं। सभी धर्मों के अनुयायी और सभी मतों के मानने वाले कहीं-न-कहीं एक हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ विविधता में भी एकता के दर्शन होते हैं।

(3) **सांस्कृतिक एकता**—भारत एक अत्यन्त विशाल देश है परन्तु फिर भी वह सांस्कृतिक एकता में बँधा हुआ है। इसका बहुत कुछ श्रेय ब्राह्मणों को प्राप्त है। प्राचीन काल से भारत में एक तरह की संस्कृति के प्रचार करने में वे लगे रहे हैं। देश में सर्वत्र गीता, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों का सम्मान होता रहा है। संस्कृत भाषा को सभी विद्वान् श्रद्धा की दृष्टि से देखते रहे हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, मुहम्मद साहब आदि महापुरुषों को देश के सभी लोग श्रद्धा की दृष्टि से देखते रहे हैं। एक दूसरे के धार्मिक तीर्थस्थानों के प्रति लोगों में आदर की भावना है। उत्तर और दक्षिण में विभिन्नता होने के साथ ही सांस्कृतिक एकता के दर्शन होते हैं। प्रो० हुमायूँ कबीर ने भारतीय एकता के सम्बन्ध में लिखा है, "भारतीय सांस्कृतिक एकता की कहानी एकता और समाधानों का समन्वय है। यह प्राचीन परम्पराओं और नवीन मान्यताओं के पूर्ण सहयोग की उन्नति की कहानी है। इस संस्कृति का स्वरूप प्राचीन काल में भी रहा और जब तक यह संसार है तब तक इसका स्वरूप बना रहेगा। बहुत सी दूसरी संस्कृतियाँ यहाँ आज नष्ट हो गईं परन्तु भारतीय संस्कृति और उसकी एकता अमर है।"

(4) **भाषा सम्बन्धी एकता**—हम पहले ही इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। परन्तु लगभग सभी भाषाओं की जननी संस्कृत ही है। इस कारण यहाँ भाषा सम्बन्धी एकता के दर्शन होते हैं। अनेक प्रान्तीय भाषाओं का भी विकास हुआ है परन्तु ये सभी भाषाएँ संस्कृत से प्रभावित हुई हैं, यहाँ तक कि दक्षिण को तामिल और तेलगू आदि भाषाएँ भी बहुत अंशों में संस्कृत से प्रभावित हैं।

(5) **जातीय एकता**—भारत में विभिन्न जातियों के लोग बहुत समय से रहते आ रहे हैं। यहाँ विदेशों से भी अनेक जातियों के लोग आये हैं। इस तरह जातियों में विविधता के दर्शन होते हैं। परन्तु इस विविधता में भी एकता है। शक, हूण, कुषाण, आदि जातियाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति से बहुत अधिक प्रभावित हुईं और पूरी तरह भारतीयों में विलीन हो गईं। कालान्तर में भारत में आने वाले ईसाई और मुसलमान जातियाँ भारतीयों से अलग रहीं परन्तु फिर भी बहुत कुछ

अंशों में वे भारतीयों से प्रभावित हुए विना न रह सकीं। भारत के ग्रामों में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सब एक ही तरह का जीवन व्यतीत करते हैं और उनमें अन्तर स्पष्ट करना कठिन हो जाता है।

(6) **आर्थिक एकता**—भारत में विभिन्न प्रकार की जलवायु पायी जाती है और इस कारण उपज और आर्थिक व्यवस्था का विभिन्न प्रकार का होना स्वाभाविक है। यहाँ कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ उपज भारी मात्रा में होती है और कुछ प्रदेशों में नाम-मात्र को भी पैदावार नहीं होती। परन्तु फिर भी कुछ अंशों में भारत में आर्थिक एकता विद्यमान है। आज तो यह आर्थिक एकता और भी अधिक सुदृढ़ हो गई है। कृषि अत्यन्त प्राचीन काल से भारत का प्रमुख व्यवसाय रहा है। आज भी भारत की आर्थिक समस्याएँ एक ही तरह की हैं और एक ही तरह की व्यवस्था द्वारा उनका समाधान किया जा सकता है।

(7) **राजनीतिक एकता**—भारत जैसे विशाल देश में राजनीतिक एकता का होना एक अत्यन्त आश्चर्य का विषय है। यह ठीक है कि प्राचीन-काल में यहाँ अनेक राज्य थे परन्तु शक्तिशाली राजा सम्पूर्ण भारत को जीतकर चक्रवर्ती पद प्राप्त करने का प्रयास करते थे। वे अश्वमेध, राजसूय या वाजपेय आदि यज्ञ किया करते थे। चाणक्य ने हिमालय से समुद्र पर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण भारत भूमि को एक चक्रवर्ती सम्राट का क्षेत्र कहा था। प्राचीन भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त आदि शक्तिशाली राजाओं ने समस्त भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने का प्रयास किया। मध्य काल में अलाउद्दीन खिलजी और अकबर आदि ने इस क्षेत्र में बहुत अधिक प्रयास किया। अँग्रेज भी अपने शासन-काल में यही प्रयास करते रहे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दुस्तान दो राष्ट्रों में बँट गया परन्तु भारतीय क्षेत्र की राजनीतिक एकता पर कभी कोई आँच नहीं आयी।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत में अनेक विभिन्नताओं के बावजूद यहाँ भौतिक एकता है। सुप्रसिद्ध विद्वान् रिजले लिखता है : "यद्यपि भारत के बौद्धिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में पूरी विभिन्नता है परन्तु फिर भी उनके अन्तस्तल में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक मौलिक एकता का दर्शन किया जा सकता है।" ऋग्वेद के 10/90 के सहस्र शीर्षा: मन्त्र में ठीक ही कहा गया है, "यह हमारा राष्ट्र हजारों मस्तकों, हजारों आँखों और हजारों हाथ-पैरों वाला एक पुरुष ही है। ज्ञानवान लोग इसके मुख हैं वीर लोग इसकी भुजायें हैं, वाणिज्य के पण्डित जाँघें हैं और कर्मचारीगण इसके चरण हैं। इसी भावना से पूरे देश को एक राष्ट्र पुरुष मानकर उसकी सम्यक् उन्नति करना शासन का कार्य है।" इस प्रकार अति प्राचीन काल में भारत ने समस्त विश्व को विविधता में एकता के दर्शन करने का मूल मन्त्र दिया। पं० जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही लिखा है : "सभ्यता के प्रारम्भ से ही एकता के स्वप्न ने भारत के मस्तिष्क पर अधिकार कर लिया है।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत में विविधता में एकता है और यहाँ की सांस्कृतिक एकता संसार के अन्य राष्ट्रों के लिए आदर्श रही है।

2

वर्ण-व्यवस्था

प्रश्न (1) वर्णों का उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

अथवा

वर्ण-व्यवस्था के उद्भव पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

अथवा

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार क्या है ? उसकी उत्पत्ति-विषयक विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

भारत के सामाजिक इतिहास में भारतीय वर्ण-व्यवस्था का अपना अलग स्थान है। प्राचीन भारत में इस व्यवस्था की स्थापना मानव मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर की गयी थी। इस व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक-व्यवस्था और संगठन को स्थायित्व प्रदान करना था। प्राचीन भारत में इस व्यवस्था ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करने में भी योगदान दिया। चारों वर्णों के अलग-अलग कार्यों के निर्धारण के फलस्वरूप समाज में संघर्ष की स्थिति नहीं उत्पन्न होने पाती थी। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार समस्त समाजों को 4 वर्णों में विभाजित किया गया था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, स्मृतियों, महाभारत, भगवद्गीता, रामायण आदि सभी ग्रन्थों में वर्णों का उल्लेख हुआ है। विभिन्न ग्रंथों में वर्ण-व्यवस्था के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार से वर्णन हैं। यहाँ इस पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

(1) **वेद**—भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाला सबसे प्रमुख ग्रंथ वेद है। वेदों को विचारकों ने अलौकिक सत्ता की देन माना है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, कटि से वैश्य और पैरों से शूद्र वर्ण की उत्पत्ति हुयी है। डॉ० कीथ ने लिखा है कि ऋग्वेद में एक शासक क्षत्रिय होगा। इसका भी वर्णन मिलता है। वैदिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में समाज विभक्त था। यह भी प्रमाण मिलता है कि वैदिक काल में पुरोहित का कार्य ब्राह्मण ही करते थे तथा शासन कार्य करना क्षत्रियों का वंशानुगत कार्य था। लोग अपने ही वर्ण में विवाह करते थे ऐसी प्रथा थी। यह भी प्रमाण मिलता है कि लोग वर्ण परिवर्तन कर सकते थे जैसे विश्वामित्र ब्राह्मण से क्षत्रिय बन गये थे। इसी प्रकार परशुराम ने भी धर्म परिवर्तन कर लिया था। कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि वर्ण परिवर्तन नहीं हो सकता था।

(2) **ब्राह्मण ग्रन्थ**—ब्राह्मण ग्रंथ के मन्त्रों से इस बात का पता चलता है कि उस समय चार वर्ण विकसित हो चुके थे। तैतिरेय ब्राह्मण ग्रंथ में ब्राह्मण, क्षत्रिय

तथा वैश्य के लिये अलग-अलग बलि की प्रथाएँ थीं। शूद्रों की दशा में निम्न थी। उनको अनार्य कह कर सम्बोधित किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में ऐसा कहा गया है कि चारों वर्णों की उत्पत्ति दैवी अग्नि से हुयी है। यज्ञ करने के समय शूद्र भी उपस्थित हो सकते थे लेकिन वे यज्ञ के संयोजक तथा पुरोहित से बात नहीं कर सकते थे। विवाह के नियम कठोर नहीं थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य वर्ण में भी विवाह कर सकता था। लेकिन शूद्र लोग अपने ही वर्ण में विवाह करने के अधिकारी थे। उच्च वर्ण की स्त्रियों को अपने से नीचे वर्ण के पुरुष से विवाह करने का अधिकार नहीं था।

(3) **उपनिषद्**—यद्यपि उपनिषद् उस समय के दार्शनिक ग्रंथ माने जाते हैं तथापि उनमें वर्णों के विषय में पर्याप्त उल्लेख किया गया है। 'बृहदारण्योकोपनिषद्' से चारों वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विषय-वस्तु मिलती है। इससे क्षत्रिय वर्ण की अच्छी दशा का ज्ञान होता है। ब्राह्मणों के लिये ऐसा कहा गया है कि वह क्षत्रियों में ही अपने यश को स्थापित कर सकता था। 'छन्दोग्योपनिषद्' में भी चार वर्णों का उल्लेख किया गया है जो जीवधारण करने वाले अच्छे कर्म करते हैं उनको उच्च-स्तर की योनियों में जन्म लेने का अवसर मिलता है। उत्तम कोटि की योनि में ब्राह्मण और क्षत्रिय माने जाते हैं जो अच्छे कार्य नहीं करते उनको निम्नकोटि की योनि प्राप्त होती थी।

(4) **स्मृतियों के अनुसार**—मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के पाँचवें श्लोक में लिखा है कि उस समय समाज में चार वर्ण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी गयी है। इन वर्णों में श्रेष्ठतम ब्राह्मण और निम्नतम शूद्र हैं। अपने वर्ण से हट कर निम्न वर्ण से विवाह करने पर जो सन्तान पैदा होती थी उसको वर्ण संकर कहा जाता था। मनु ने विभिन्न वर्णों के कर्मों का भी विस्तार के साथ उल्लेख किया है। ब्राह्मण को अगर अपने वर्ण के कर्म न मिलें तो उसको अन्य वर्णों के कार्य का चुनाव कर लेना चाहिये। याज्ञवल्क्य, वशिष्ट, बोधायन स्मृतियों में भी चार वर्णों का उल्लेख किया गया है।

(5) **महाभारत**—महाभारत के शान्ति पर्व में उल्लिखित भारद्वाज तथा भृगु ऋषियों के पारस्परिक संवादों से ज्ञात होता है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था थी। किन्तु वर्णभेद रंग भेद पर ही आधारित था। भृगु के अनुसार पहले केवल एक ही वर्ण था, वह था ब्राह्मणों का, किन्तु बाद में ब्राह्मणों ने अपने कर्म और अधिकार के कारण अन्य वर्ण बना लिये। भृगु का वर्ण विभाजन गुण पर आधारित है। इन मनीषियों के वक्तव्य से ज्ञात होता है कि जो जिस वर्ण में उत्पन्न होता है वह उसी वर्ण का हो जाता है। तपस्या और व्रत की कमी के कारण लोगों को निम्न स्तर की योनियों की प्राप्ति होती है।

(6) **भगवद् गीता**—गीता के चतुर्थ अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुये कहा है कि हे अर्जुन गुण और कर्मों के विभाजन से, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तथा शूद्र मेरे बनाये हुये हैं। वर्ण का आधार जन्म था अथवा कर्म इस पर सभी एक मत नहीं हैं। उदाहरणार्थ द्रोणाचार्य और कृपाचार्य क्षत्रिय नहीं कहलाये। जन्म से ब्राह्मण होने के कारण वे ब्राह्मण ही कहे गये। युधिष्ठिर का कार्य क्षत्रियों जैसा नहीं था फिर भी उनको क्षत्रिय ही कहा गया।

(7) **रामायण**—रामायण भी वर्ण धर्म पर प्रकाश डालती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य सामान्य धर्म थे। वेदों का अध्ययन, व्रत यज्ञ करना, दान देना इन्हीं का कार्य था। शूद्रों का कार्य अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना था। वे यज्ञ के समय उपस्थित रह सकते थे लेकिन यज्ञ सम्पादन में भाग नही ले सकते थे सभी वर्णों में पूर्ण सहयोग था। वर्ण परिवर्तन हो सकता था विश्वामित्र ने वर्ण परिवर्तन किया था। यह वर्ण परिवर्तन का एक उदाहरण है।

(8) **विदेशी विचारकों के मत**—मेगस्थनीज तथा ह्वेनसांग के यात्रा विवरणों से भारतीय वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। मेगस्थनीज ने भारत में सात जातियों का उल्लेख किया है। दार्शनिक, योद्धा, शिल्पी, कृषक, पशुपालक, सदस्य पारिदर्शक थे। कोई अपने जातिगत आचरणों को व्यक्त नहीं कर सकता था। स्वजाति से बाहर हटकर कोई विवाह भी नहीं कर सकता। ह्वेनसांग ने भी अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि जातियाँ अपनी सीमा से पृथक हटकर विवाह नहीं कर सकती थीं। ब्राह्मण धर्म की रक्षा करता था, क्षत्रिय राजकाज देखते तथा रक्षा करने का कार्य करते थे, वाणिक तथा कृषक वैश्व वर्ण में आते तथा शूद्र अन्तिम वर्ण था जो अन्य वर्णों की सेवा करता तथा कृषि का भी कार्य करता था।

इस वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था का प्रचलन था। प्रमुख चार वर्ण थे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जो विभिन्न वर्ण बनाये गये उनके अलग-अलग कार्यों का उल्लेख किया गया है इस व्यवस्था को वर्ण धर्म भी कहते हैं।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार—प्राचीन भारतीय समाज के दो रूप थे—आर्य तथा अनार्य। आर्यों में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं था। सभी में विवाह आदि के सम्बन्ध स्थिर होते थे। आरम्भ में उनका निवास स्थान सप्तसिन्धु था। ये अपनी जीविका के लिये देशाटन करते थे। सभ्यता के विकास के फलस्वरूप ये एक स्थान पर रहने लगे। आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ अनेक परिवार एक साथ रहने लगे और अपने पशुओं को एक स्थान पर बाँधने लगे।

पशु बाड़े के स्थान को गोत्र कहते थे। परिवार के मुखिया के नाम पर गोत्र का नाम पड़ जाता था। कुछ समय बाद एक गोत्र के रहने वाले समस्त परिवार उस गोत्र में सम्मिलित हो गये। ब्राह्मण शास्त्रकारों ने इन गोत्रों का सम्बन्ध ऋषियों से स्थापित कर दिया। अनेक गोत्रों के मिलने पर गोष्ठियों और ग्रामों और जनपदों का निर्माण हुआ। जनपदों में भी मात्र पुरोहित और स्वर्णकार आदि अनेक वर्ण बन गये। आर्यों की भाँति अनार्यों में भी इसी प्रकार की एकता स्थापित हुई धीरे-धीरे आर्य और अनार्य आपस में मिलने लगे। अनार्यों के सम्पर्क से आर्यों के गौर वर्ण में अन्तर आया। अतः रक्त की शुद्धता के लिए संघर्ष हुआ और तदुपरान्त आर्यों के कार्य में बाधा पड़ने लगी। फलस्वरूप आर्यों ने अपने को तीन वर्णों में विभाजित कर लिया। एक वर्ग को पूजा पाठ और यज्ञ आदि कर्म समर्पित किये गये, दूसरे पर रक्षा का भार छोड़ा गया और तीसरे वर्ग को व्यवसाय और पशु-पालन का कार्य सौंप गया। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्गों का जन्म हुआ। आर्यों और अनार्यों के सम्पर्क से जो सन्तान हुई वह शूद्र कहलाई। इनका कार्य सेवा करना था।

(अ) **वर्ण व्यवस्था का आधार—गुण तथा कर्म**—प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था का आधार गुण तथा कर्म थे। मनुष्य की विभिन्न वृत्तियों के आधार पर वर्णों का निर्माण होता था जो व्यक्ति जिस कार्य में निपुण होता था उसी के आधार पर उसका वर्ण हो जाता था। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टगुणकर्म-विभागशः'

ऋग्वेद में भी एक जगह लिखा है—

'न दासोऽनार्यो महित्वा ब्रतंमिभय'

(ब) **वर्ण का आधार-जन्म**—कालान्तर में वर्गों का विभाजन जन्म के आधार पर भी किया गाय। धीरे-धीरे वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आने लगी। चारा वर्णों का कार्य संकुचित सीमा में बद्ध कर दिया गया। बालक की जाति उसके पिता की ही जाति होने लगी। यह कहा गया कि ब्राह्मण पुत्र चाहे किसी जाति की स्त्री से उत्पन्न हो, ब्राह्मण ही कहलायेगा—

'त्रिष्णु वर्गेषु जातो हि ब्राह्मणो भवेत्'

महाभारत काल में बालक का वर्ण माता के वर्ण से होने लगा अर्थात चाहे किसी वर्ण के पुरुष से कोई व्यक्ति क्यों न उत्पन्न हुआ हो, इसका वर्ण वही कहलायेगा जो उसकी माता का वर्ण था। इस युग में अन्तर-वर्ण विवाहों के द्वारा अनेक जातियाँ बन गयीं। धीरे-धीरे अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों का अन्त हो गया। अपने ही वर्ण से विवाह करने के फलस्वरूप वर्ण व्यवस्था में अधिक कठोरता हो गयी।

वर्ण-व्यवस्था के जन्मगत प्रमाणों की व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न मत व्यक्त किये गये। मैगस्थनीज जो चौथी शताब्दी ई० पू० में चन्द्रगुप्त के दरबार में आया, यह लिखा है कि भारत में सात प्रकार की जातियाँ थीं। दार्शनिक, योद्धा, शिल्पी, कृषक पशुपालक, सदस्य और पारिदर्शक। उसने उस युग की व्यवस्था के विषय में लिखा है किसी को भी अपनी जाति से बाहर विवाह करने, अपने व्यवसाय या व्यापार को परिवर्तित करने और एक से अधिक प्रकार के व्यापार करने का अधिकार नहीं था। केवल दार्शनिकों को ही इस प्रकार की छूट प्रदान की गई थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालान्तर में यह व्यवस्था जन्म के अनुसार ही निर्धारित की गई। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गुण कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था समाप्त हो गयी। मनु ने जति भेद का आधार कर्म ही माना है उन्होंने लिखा है—

'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विवजः उच्चयते'।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति-विषयक सिद्धान्त

(1) **पुरुष सिद्धान्त**—वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को प्रतीक रूप में पुरुष माना गया है जो विश्व पुरुष अथवा जो सम्पूर्ण मानव जाति का प्रतीक है। इसी विश्व पुरुष के शारीरिक अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति मानी जाती है। मुँह से ब्राह्मणों की उत्पत्ति मानी जाती है। जिसका मुख्य कार्य प्रवचन करना होता है, इसलिए इनका

परम कर्त्तव्य सम्पूर्ण मानव जाति को ज्ञान और उपदेश देना है। भुजा से जो शक्ति का प्रतीक है क्षत्रियों की उत्पत्ति मानी जाती है। अतः क्षत्रियों का मुख्य कार्य मानव जाति की रक्षा करना है।

वैश्य वर्ण की उत्पत्ति संबंधी विचारों में कुछ मतभेद है। शायद वैश्यों की उत्पत्ति जांघ से इसलिये मानी जाती है क्योंकि यह शरीर के निचले-भाग को सम्बोधित करता है और यह भाग भोजन पचाने के लिये होता है। शूद्रों की उत्पत्ति विश्व पुरुष के पैर से मानी जाती है जो सम्पूर्ण शरीर का सेवक होता है इसलिये शूद्रों का कर्त्तव्य सारे समाज की सेवा करना होता है।

किन्तु मनुस्मृति, रामायण तथा विष्णु पुराण में वर्णों की चर्चा वैदिक मत से कुछ भिन्न है। विष्णु पुराण के अनुसार जब मानव जाति पतन के गर्त में चली गयी तो प्रत्येक कर्त्तव्य को एक दूसरे से भिन्न किया गया। तैतरीय संहिता के अनुसार चारों वर्णों की उत्पत्ति विश्व पुरुष के चार अंगों से हुई है। ब्राह्मणों को सर्वोपरि स्थान इस कारण दिया गया क्योंकि वह मुँह से उत्पन्न हुए।

(2) **वर्ण (त्वचा का रंग)**—महाभारत में भृगु ऋषि ने भारद्वाज का वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार, मनुष्यों की त्वचा को रंगों को ही बताया है। भृगु ऋषि के अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्मा से कुछ ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई और उसके बाद क्षत्रिय, वैश्य व शूद्रों की उत्पत्ति हुई। इसका मुख्य कारण उनकी त्वचा का रंग था। ब्राह्मण लोग श्वेत (सफेद) क्षत्रिय लोग लोहित (लाल) वैश्य लोग पीतकाय (पीला) और शूद्र लोग असित (काला) वर्ण के होते थे। भृगु ऋषि के सिद्धान्त में भारद्वाज मुनि से शंका प्रकट करते हुये पूछा, वर्णों का वर्ग उनकी त्वचा के रंग के आधार पर किया जाय तो वर्णों का पता लगाना बड़ा ही दुष्कर है, क्योंकि व्यक्ति और रंग की अनन्त किस्में हैं। इस प्रकार विविध रंगों को निम्न प्रकार चार वर्णों में रखा जा सकता है।

(3) **द्विज सिद्धान्त**—भारद्वाज मुनि ने जब भृगु ऋषि के वर्ण सिद्धान्त में शंका प्रकट की तो उन्होंने ब्रह्म सिद्धान्त का आश्रय लिया। उनके अनुसार आदि में ब्रह्मा से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई जिन्हें भृगु ऋषि ने द्विज कहा और द्विज लोग अपने कार्यों के अनुसार चारों वर्णों में विभक्त हो गये। द्विज लोगों में से जो लोग सुख और आनन्द के पीछे पड़े तथा जिनका स्वभाव क्रोधी और रूखा हो गया तथा जिनमें साहस का अंश ज्यादा पाया जाने लगा था और वे अपने द्विज धर्म को अपेक्षित समझने लगे, क्षत्रिय कहलाये। जो अपने द्विज धर्म से उदास हो खेती बारी और पशुपालन में लग गये वे वैश्य कहलाये।

वे द्विज जो अपना धर्म छोडने लगे, असत्य बोलने लगे, अन्य प्राणियों को सताने लगे तथा जिनके अन्दर कृष्ण गुण अधिक पाया जाने लगा और मनचाहा पेशा अपनाने लगे वे शूद्र कहलाये। इस प्रकार भृगु ने उन लोगों को ब्राह्मण कहा जो द्विज धर्म से वंचित नहीं हुये और जो द्विज धर्म के प्रति उदास हो आनन्द और सुख के उपासक हो गये, क्षत्रिय कहा तथा जो द्विज धर्म को भुलाकर कृष्ण और लोहित गुणो से प्रभावित हो खेती-बारी करने लगे वैश्य कहलाये और जो कृष्ण धर्म से प्रभावित हो प्राणियों को सताने लगे और असत्य बोलने लगे शूद्र कहलाए। भृगु

के अनुसार सभी ब्राह्मण थे परन्तु बाद में अपने कर्मों के कारण द्विज अन्य वर्गों के सदस्य बन गये।

राजा जनक ने पराशर मुनि से पूछते हुये एक स्थान पर कहा है जब सभी मानव जाति उस ब्रह्म से ही उत्पन्न हुयी तो क्यों नहीं सभी एक वर्ग माने जाते। पराशर मुनि ने कहा—यह सत्य है कि सभी ब्रह्म से उत्पन्न हुये परन्तु जब भूमि और बीज निम्न किस्म का होगा तब पौधे भी निम्न गुण के होंगे। इसी प्रकार ब्रह्म के मुँह से उत्पन्न हुये ब्राह्मण उच्च हैं और पैर से उत्पन्न हुये शूद्र नीच।

(4) **कर्म तथा वर्ण का सिद्धान्त**—स्मृति में वर्ण धर्म के लिये विभिन्न प्रकार के कर्मों को आवश्यक माना गया है। मनु के अनुसार व्यक्ति को अपने वर्ण के द्वारा बताया हुआ कार्य ही करना चाहिये। उसे अपने से ऊँचे वर्ण का अथवा अपने से नीचे वर्ण का कार्य न करना चाहिये। मनु के अनुसार अपने वर्ण धर्म को ही मानना चाहिये। हो सकता है कि वह अपने वर्ण धर्म को पूर्ण रूप से न पूरा कर सके उस पर भी उसे अपने ही कर्म को पूरा या अधूरा करना चाहिये।

दूसरे वर्णों के कर्म को पूर्ण रूप से करने के बजाय अपने वर्ण के कर्म को अधूरा करना ही उत्तम होता है।

इस सन्दर्भ में मार्कण्डेय ने कौशिक मुनि की कहानी को बताया है। मार्कण्डेय ऋषि ने कौशिक मुनि को कहानी बताते हुये वर्णन किया है कि किस प्रकार कौशिक मुनि ने वर्ण धर्म को मिथिला के धार्मिक व्याध से धारण किया। कौशिक मुनि ने एक दिन इस धार्मिक व्याध को मांस बेचते हुये पाया और आश्चर्य से जिज्ञासा प्रकट करते हुये प्रश्न किया कि इतना विद्वान होते हुये भी वह मांस क्यों बेच रहा है? इस पर मिथिला के धार्मिक व्याध ने उत्तर दिया है "द्विज मैं अपने वर्ण का काम कर रहा हूँ और इस प्रकार अपना धर्म निबाह रहा हूँ। जिसे स्रष्टा ने मुझे करने के लिये पैदा किया है। मैं अपने वर्ण धर्म को पूरा करके ही अपने से बड़े और नीचे वर्ण वाले व्यक्तियों की सेवा कर सकता हूँ। भाग्य बलवान होता है पूर्व जन्म के कार्यों को उसके निष्कर्मों को मिटाना बड़ा मुश्किल है। जो कार्य मैं इस जन्म में कर रहा हूँ वह पूर्व जन्म के कार्यों का ही फल है। जो अपने वर्ण के धर्म का पालन करता है उसे मोक्ष प्राप्त होता है।"

उपर्युक्त वार्तालाप से, जो कौशिक मुनि और मिथिला के व्याध के बीच स्पष्ट हुआ है कि पूर्व जन्म के कर्मों से ही व्यक्ति विभिन्न प्रकार के वर्णों में जन्म लेता है और अपने वर्ण धर्म को ही पालन करके उच्च वर्ण में जन्म ले सकता है।

(5) **गुण का सिद्धान्त**—वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लक्षणों को ही आधार माना गया है। महाभारत में इस सन्दर्भ के अन्तर्गत धर्मराज युधिष्ठिर और जलदेवता का सम्वाद प्रमाण है। जलदेवता के प्रश्न, "कौन ब्राह्मण है?" का उत्तर देते हुये धर्मराज ने बताया है "जो सत्यवादी है, दानी है, दयालु है, क्षमाशील है, जो चरित्रवान है तथा जो दूसरे के प्रति सहानुभूति रखता है और जो तपस्वी है वही स्मृतियों द्वारा ब्राह्मण कहा गया है।" इस पर जलदेवता ने पुनः प्रश्न किया "यदि ये गुण और लक्षण किसी शूद्र में पाये जाएँ तो क्या वह ब्राह्मण कहा जायेगा।" इसका उत्तर देते हुये युधिष्ठिर ने कहा "यदि ये गुण किसी शूद्र में पाये जाएँ तो

वह शूद्र नहीं है परन्तु ब्राह्मण है और यदि किसी ब्राह्मण में ये गुण न हों तो वह ब्राह्मण नहीं शूद्र है ।"

इस सिद्धान्त के अनुसार सभी व्यक्ति जन्म के समय शूद्र होते हैं ज्यों-ज्यों व्यक्ति गुण को अपनाता जाता है त्यों-त्यों उसका वर्ण भी बनता जाता है । संस्कारों द्वारा ही व्यक्ति को जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में प्रवेश कराया जाता है और वह गुण को धारण करता है अन्यथा सभी जन्म से शूद्र होते हैं । अतः जीवन-वृत्ति और गुण ही मुख्य आधार है जिन पर विभिन्न वर्णों को निश्चित किया गया है ।

गुण सिद्धाँत का गीता में भी वर्णन किया गया है । गीता के अनुसार सारा कर्मकाण्ड तीन मुख्य गुण—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण का फल है । सतोगुण का अर्थ ज्ञान और प्रकृति से है जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है और शान्ति मिलती है तथा जिसके कारण व्यक्ति सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है । रजोगुण का मुख्य आधार काम और वासना है जिसके कारण व्यक्ति के अन्दर अनेक प्रकार की इच्छायें और कामनायें प्रकट होती हैं तथा जो कार्यों के लिये उसे प्रेरित करती है । तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है जिसके कारण प्रत्येक वस्तु के बारे में व्यक्ति अज्ञानी रहता है, जिसमें गुण पाया जाता है वह उसी प्रकार से उच्च और नीच वर्णों में जन्म लेता है ।

इस प्रकार से ये गुण वर्ण-व्यवस्था के मनोनैतिक आधार हैं । गुण व्यक्ति के स्वभाव, इच्छा, अभिरुचि तथा भावना आदि को व्यक्त करते हैं जो सामाजिक संबंध सामूहिक लक्षण सामाजिक संगठन से संबंधित हैं । इन्हीं गुणों के आधार पर वह अपना संबंध समाज और समूह से बनाता है ।

प्रश्न (2) प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म न होकर कर्म था । इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ।

अथवा

हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म था अथवा कर्म । इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचारों की समीक्षा कीजिए ।

इस अध्याय के प्रश्न (1) के अन्तर्गत हमने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म और कर्म दोनों ही थे । यह अत्यन्त विवादास्पद विषय रहा है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म था अथवा जन्म । कोई व्यक्ति किस वर्ण का था यह किस बात पर निर्भर करता था, इसका जन्म किस परिवार में हुआ है ? अथवा उसके कर्म व गुण किस प्रकार के हैं ? किसी व्यक्ति को वर्ण विशेष में क्यों रखा गया ? आखिर इसका क्या आधार था ? इस प्रश्न का उत्तर पा लेना भी परम आवश्यक है । जब वर्ण व्यवस्था का निर्माण हुआ तो समाज के प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुसार कार्यों को अपना लिया । जिनकी रुचि विद्या तथा अध्ययन में अधिक थी इसके अतिरिक्त वे कोई भी कार्य करने के योग्य नहीं थे, उन्होंने ज्ञान प्राप्त करना तथा अध्यात्म साधना को चुन लिया ऐसे लोगों को ब्राह्मण कह दिया गया । जिनकी रुचि वीरता तथा साहस के कार्यों में अधिक थी, साथ ही जो स्फूर्ति-वाहन और बलशाली थे, उन्होंने रक्षा करने तथा युद्ध करने के कार्य को अपना लिया तथा क्षत्रिय बन गए । घरों में भी तब ऐसी बात रही होगी कि एक भाई ब्राह्मण का कार्य करता रहा होगा और दूसरा

भाई क्षत्रिय का काम । समाज के जो शेष कार्य थे वे वैश्यों को दे दिए गए। विजित जातियाँ जैसे-जैसे बढ़ती गयीं, वे आर्यों के सम्पर्क में आती गयीं। उनको कोई महत्व का कार्य न देकर अन्य वर्णों की सेवा का कार्य दे दिया गया। एक आधार तो वर्ण-विभाजन का यही कहा जा सकता है।

वर्ण के निश्चय में केवल गुण कर्म स्वभाव ही कारण है या जन्म का भी कोई स्थान है इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। प्राचीन वण-व्यवस्था का आधार जन्मजात था लेकिन आगे चलकर विद्वानों ने गुण कर्म को उसका आधार बनाया। शुक्रनीति में कहा गया है कि जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नहीं हो सकता बल्कि सारे वर्ण भेद का आधार गुण है।

उपनिषदों में भी ब्राह्मणादि वर्ण-व्यवस्था को गुण-कर्म-स्वभावानुसार माना गया है और सत्यवादी ब्रह्मज्ञानी को ही कहा गया है। लघु पराशर स्मृति के भी अनेक श्लोकों में वर्ण-व्यवस्था के गुण कर्मानुसार होने की ध्वनि पायी जाती है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि जन्म से सभी शूद्र होते हैं कर्म के आधार पर वे ब्राह्मण होते हैं।

महाभारत के वनपर्व में कहा गया है कि कुल स्वाध्याय और शास्त्र श्रवण द्विजत्व के कारण नहीं, केवल सदाचार ही करता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। चारों वेदों का जानने वाला भी जो दुराचारी है वह शूद्र से भी बढ़कर है जो अग्निहोत्रादि करने वाला, दमनशील और जीतेन्द्रिय है वह ब्राह्मण है।

ब्रह्मपुराण में बताया गया है कि ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होना संस्कार वेद श्रवण ब्राह्मण पिता की सन्तान होना आदि गुण ब्राह्मणत्व का नहीं बल्कि इनका कारण तो केवल वृत है। अन्य शब्दों में ब्राह्मणोचित सदाचार से ही पुरुष ब्राह्मण बनता है। सदाचारी शूद्र कुलोत्पन्न पुरुष भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता है।

इस तरह के बहुत से ऐसे प्रमाण हैं जिनसे कि सिद्ध होता है कि वर्ण का आधार जन्म न होकर कर्म है। ऐसी दिशा में यह मानना कि जाति भी वर्ण निश्चय में एक आवश्यक अंग है मात्र भ्रम पैदा करने वाली बात है। वर्ण परिवर्तन के अनेक प्रमाण मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं जैसा कि पूर्व अध्याय में विवेचन किया जा चुका है। हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि वर्ण-व्यवस्था मुख्य रूप से श्रम विभाजन के सिद्धान्त के ही आधार पर कायम की गयी थी। लोग वर्ण धर्म का पालन करके समाज सेवा में ही अपना कल्याण समझते थे। विभिन्न पुरुषों की शिक्षा भी अपनी आन्तरिक रुचि के आधार पर दी जाती थी।

कुछ विद्वान् प्राचीन वर्ण-व्यवस्था को भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म मानते हैं परन्तु कर्म और गुण को उसका आधार बतलाते हैं। वर्ण-व्यवस्था की वैज्ञानिकता शीर्षक अपने लेख में स्वामी श्री राघवाचार्य ने लिखा है— वर्णानुगत भेद का मूलाधार क्या था? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए 50 शताब्दी पूर्व भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रांगण से क्षत्रिय वीर अर्जुन के सम्मुख निःसृत शब्द निर्णायक हो सकते हैं। स्नेह कारुण्य एवं धर्माधर्म के भय से शोकाकुल अर्जुन को सावधान करते हुए भगवान ने कहा था।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।

पहले श्लोक में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि यदि तुम्हारा ध्यान स्वधर्म पर चला जाय, तो तुम कांपोगे नहीं, भयभीत नहीं होगे । क्षत्रिय के लिए धर्मतः प्राप्त युद्ध से बढ़कर अन्य कोई साधन श्रेयस्कर नहीं है ।

दूसरे श्लोक में भगवान कृष्ण ने बताया है कि शौर्य, तेज, चातुर्य, युद्ध से न भागने का स्वभाव, दान और प्रभुत्व अर्थात् हितकर शासन का भाव ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक धर्म हैं ।

तीसरे श्लोक में, भगवान कृष्ण ने कहा है कि यदि अहंकार का आश्रय लेकर यह तुम मानते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तुम्हारी यह मान्यता मिथ्या सिद्ध होगी, कारण तुम्हारा क्षात्र-स्वभाव स्वयं ही तुमको युद्ध में संलग्न कर देगा ।

अर्जुन क्षत्रिय था । युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है । युद्ध से पलायन न करना क्षत्रिय का स्वभाव होता है । अतः भले ही अर्जुन अपने धर्म से अर्थात् युद्ध से विरत होने का प्रयास करता, फिर भी वह युद्ध से विरत नहीं रह सकता । उसकी प्रकृति उससे युद्ध करा ही लेती । भगवान कृष्ण द्वारा प्रयुक्त ये साधिकार शब्द स्पष्ट निर्देश कर रहे हैं कि वर्ण शरीर के रंग की वस्तु न होकर स्वभाव का तथ्य है, जो किसी भी अवस्था में नहीं परिवर्तित होता ।

"प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यसंस्कार विशेषाच्च" का यही तात्पर्य है । चातुर्वर्ण्य प्रकृति में स्थित रहता है । अपने पूर्व संस्कारों के वश जिसकी जैसी प्रकृति मिली है, जिसको जैसा स्वभाव मिला है, वही उसका वर्ण है ।

इस प्रकार स्वामी श्री राघवाचार्य वर्ण का निर्धारण कर्मानुसार करते हैं । उनका विचार है कि भारतीय संस्कृति में कर्त्तव्य को ही अधिकार माना गया है । चारों वर्णों की महत्ता अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करने में ही है । यदि किसी वर्ण का व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो वह अपने वर्ण से वंचित हो जाता है ।

महामहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी का विचार है कि "व्यावहारिक आत्मा के अनुसार—मन, प्राण, वाक्य-भायाश बलित होने के फलस्वरूप विभिन्न शक्ति रखते हैं । मन में ज्ञान शक्ति, प्राण में क्रिया-शक्ति और वाक् में अर्थशक्ति यही तीनों वर्ण-व्यवस्था के मुख्य बीज हैं । जहाँ ज्ञान-शक्ति की प्रधानता है वह ब्राह्मण है, जहाँ प्राण शक्ति की प्रधानता हो, वह क्षत्रिय है, जहाँ अर्थ-शक्ति की प्रधानता हो वह वैश्य है ।" इस प्रकार महामहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा ने भी वर्णों का आधार कर्म ही माना है ।

डा० रामदत्त भारद्वाज का विचार है कि वर्ण-व्यवस्था जन्म और कर्म दोनों पर ही आधारित है। श्रीमद्भगवद् गीता में लिखा है, "चातुर्वर्ण्यमया सृष्ट गुणकर्मविभाग्नः (4-13) इस उद्धरण के अनुसार वर्ण-व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर है, किन्तु यह व्यवस्था किसके द्वारा हुई ? "मया" अर्थात् ईश्वर के द्वारा। "सृष्टम" शब्द दृष्टव्य है। ऋग्वेद (10-99-12) और यजुर्वेद (31-11) के "पुरुषसूक्त" में ब्राह्मणोअस्य सुखं...पदभ्यां शूद्रोजायत" इस मन्त्र में 'जुन' धातु से व्युत्पन्न 'जायत' (अर्थात उत्पन्न हुआ) शब्द विद्यमान है जिससे स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था जन्म से भी है।

श्री बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय का विचार है कि प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण का आधार जन्म था न कि कर्म अथवा गुण। उन्होंने स्पष्ट किया है कि यदि किसी मनुष्य का वर्ण उसकी वृत्ति या कर्म पर ही निर्भर होता तो द्रोणाचार्य क्षत्रिय ही कहलाते क्योंकि उनका व्यवसाय युद्ध करना था। द्रोणाचार्य ब्राह्मण ही कहलाए और इससे स्पष्ट है कि वर्ण का आधार जन्म है। अश्वत्थामा में ब्राह्मण के न तो कोई गुण थे न कोई कर्म। वह कर्म क्षत्रिय का करता था और गुणों में तो वे इतने क्रूर थे कि उन्होंने रात्रि में पाण्डवों के शिविर में घुसकर सोए हुए द्रोपदी के बच्चे का बध कर डाला। उसके बाद भी अश्वत्थामा ब्राह्मण ही हैं। कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध के प्रारम्भ होने से पहले अर्जुन कहते हैं। "मैं युद्ध न करूँगा भिक्षा माँग कर जिऊँगा। गुण अथवा कर्म ही से वर्णवाद को निश्चित करना होता तो उनको इस बात का खण्डन करने की आवश्यकता नहीं थी। अर्जुन में सभी ब्राह्मणोचित गुण थे परन्तु अर्जुन क्षत्रिय ही रहा। कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि उसका धर्म युद्ध करना है अतएव वर्ण जन्म से ही निश्चित होता था तो विश्वामित्र ब्राह्मण कैसे कहलाए। इसका उत्तर यह है कि तप का अलौकिक प्रभाव होता है, उससे शरीर के परमाणु तक बदल जाते हैं। अतः वर्ण का सम्बन्ध जन्मजात शरीर से है। विश्वामित्र ने महान तप किया और इसके फलस्वरूप ही वह ब्राह्मण कहलाए। इस प्रकार बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय ने स्पष्ट कहा है कि वर्ण का वास्तविक आधार जन्म को ही माना जाना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में डा० राधाकृष्णन् का विचार भी उल्लेखनीय है। उनका विचार है कि वर्णों का विभाजन व्यक्तिगत स्वभाव पर आधारित है। जो अपरिवर्तनीय नहीं है। ब्राह्मण में केवल एक ही वर्ण था परन्तु शनैः-शनै करके सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार 4 वर्ण बने। प्रत्येक वर्ग के लिए सुनिश्चित व्यवसाय और कर्त्तव्य नियत करने, उन्हें अधिकार और विशेषाधिकार देने से य आशा की जाती थी कि विभिन्न वर्ग सहयोगपूर्वक कार्य करेंगे और उनमें जातीय समन्वय हो सकेगा। यह एक ऐसा साँचा है जिसमें सब मनुष्यों को उनकी व्यावसायिक योग्यता और स्वभाव के अनुसार ढाला जा सकता है। वर्ण-धर्म का आधार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के विधान को पूर्ण करने का यत्न करना चाहिए। हमें अपनी योग्यता के अनुकूल ही अपने जीवन को अनुशासित करना चाहिए जिसके योग्य हम नहीं हैं उसके पीछे दौड़ कर अपनी ऊर्जाओं का अपव्यय करने से कोई लाभ नहीं।

डा० राधाकृष्णन् का यह भी विचार है कि योजना का ध्येय यह अवश्य था कि आनुवांशिकता और शिक्षा का वर्गीकरण वर्गों, सदस्यों में यथायोग्य बनाना

और परम्परा का विकास किया जाय। परन्तु इन विभाजन को कठोर नहीं समझा जाता था और उन्हें ऐसे व्यक्तियों के नाम मिलते हैं जिन्होंने आपना सामाजिक वर्णन बतला दिया।

श्री के० एम० पाणिक्कर का मत अन्य विद्वानों से बिल्कुल भिन्न है। उनका कथन है कि वर्ण चतुष्टय की भावना वास्तव में एक कपोल कल्पित भावना है और सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप उसे ढाल दिया गया है। डा० घुरिए का विचार है कि आरम्भ में केवल आर्य और दास दो ही वर्ण थे। आर्य जहाँ गए उन्होंने वहाँ के आदिवासियों को पराजित किया और उन्हें दास कह कर सम्बोधित किया। यहाँ के मूल निवासियों को उन्होंने दास कह कर पुकारा और अपने तथा उनके बीच अन्तर स्पष्ट करने हेतु वर्मा शब्द का प्रयोग किया। डा० घुरिए ने यह भी स्पष्ट किया है कि वर्ण-विभाजन का आधार पेशा या कर्म था, रंग या जन्म नहीं। अपने कथन को सत्य प्रमाणित करने के लिए वे पतंजलि का भाष्य एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों से पौराणिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था के निर्णायक कारक या आधार के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद रहा है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वर्ण-व्यवस्था केवल जन्म पर ही आधारित थी। यह कहना उतना ही गलत होगा जितना कि यह कहना कि वर्ण का आधार केवल मात्र कर्म था और जन्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। यह सम्भव है कि कर्म या गुण प्रधान हो, पर जन्म की पूरी तरह अपेक्षा की जाती थी ऐसी बात नहीं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वास्तव में वर्ण का आधार जन्म और कर्म दोनों ही था। विभिन्न युगों में अलग-अलग मान्यताएँ प्रचलित रहीं। अतएव इन दोनों में से किसी एक को ही वर्ण का आधार मानना उचित नहीं है।

प्रश्न (3) विभिन्न वर्णों के कर्मों अथवा गुणों पर प्रकाश डालिए और बतलाइए कि आर्यों ने समाज के एक भाग को इतना हीन क्यों माना ?

अथवा

मनुस्मृति के अनुसार विभिन्न वर्गों के कर्म पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

प्राचीन भारतीय हिन्दू शास्त्रों में चारों वर्णों के कर्मों तथा गुणों का पृथक-पृथक उल्लेख किया गया है। विभिन्न वर्णों के कर्मों का उल्लेख किया गया है।

चार वर्ण—

(1) ब्राह्मण

(2) क्षत्रिय

(3) वैश्य

(4) शूद्र।

(1) **ब्राह्मण वर्ण के कर्म और गुण**—मनुस्मृति में ब्राह्मण के कर्म इस प्रकार बताए गए हैं—

"अध्यापनमध्यनं यजन याजनं तथा।
दानं प्रति ग्रह चैव ब्राह्मणानां कल्पयत ॥

यो उनधीत्य द्विजी वेदमन्यत्र कुरूपे श्रमत्।
सजीवमेय व शूद्रत्वमाशु गच्छति सात्वयः ।।''

इसका भावार्थ है—पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना, दान लेना और दान देना ये ब्राह्मण के कर्म रखे गए हैं। ब्राह्मण के लिए वेद का पढ़ना आवश्यक बतलाया गया है। जो वेदों को छोड़ कर अन्य व्यवसायों और सेवाओं में परिश्रम करता है वह ब्राह्मण अपने जीवन में कुल सहित शूद्रत्व को प्राप्त करता है। ब्राह्मण के तीन कर्म हैं—

'प्रति ग्रहो याजनं न तथैव ध्यापनं।'

इनकी जोड़ी के तीन और कर्म दान, यजन और अध्ययन मिलाने से कुल छः कर्म हो जाते हैं। ब्राह्मण पृथ्वी का देवता होता है वह मानव समाज रूपी शरीर के मुख के समान है वह विज्ञान स्वरूप है। इस संसार में जो कुछ भी है वह ब्राह्मण का है। विद्या, तप तथा जन्म इन तीन कारणों से ब्राह्मण पूर्ण ब्राह्मण होता है। विद्या और तप से हीन ब्राह्मण नाम का ही ब्राह्मण होता है, स्वाध्ययन तथा तपस्या एवं प्रवचन करना उसका मुख्य कर्म है। ब्राह्मण शब्द का अर्थ होता है ब्रह्मा की सन्तान लेकिन इसका शब्दार्थ है, ब्रह्मा की श्रेष्ठ सन्तान। ज्ञान कर्म का जनक है और विद्या या ज्ञान के कारण ही ब्राह्मण श्रेष्ठ सन्तान माना गया है। ब्राह्मण जो कुछ सोचता है, क्षत्रिय उसी कार्य को रूप प्रदान करता है ब्राह्मण ज्ञान प्रधान है और क्षत्रिय कर्म प्रधान। विधान का निर्माण ब्राह्मण करता है और क्षत्रिय उसका पालन करके उसकी रक्षा करता है जो व्यक्ति इस विधान का आचरण नहीं करता क्षत्रिय उसको दण्डित करता है। अध्ययन अध्यापन, यजन याजन दान तथा प्रतिग्रह ब्राह्मण के ये 6 कर्म हैं। शाम, दम, तप, शोच, शांति आर्जव, दान, विज्ञान तथा आस्तिकता ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। वेद, ब्राह्मण, अरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र दर्शन, सूत्र स्मृति रामायण, महाभारत, पुराण आदि ब्राह्मणों के ही अनुभव के परिणाम हैं। विद्या ब्राह्मण की है तथा सदाचार ब्राह्मण की सम्मति है। मात्र गायत्री मन्त्र को जानने वाला जीतेन्द्रिय ब्राह्मण सर्वाशी तथा विक्रमी और अनियमित त्रिवेदज्ञ से श्रेष्ठ है। ब्रा ण समाज का शास्ता है क्योंकि वह समाज उपदेशक है। वेदवित तथा वेद प्रदप्रवता होने के कारण यह महान् है।

ब्राह्मण निम्नकोटि के कार्यों को करने के लिए जन्म नहीं लेता। उसका जीवन तो मुक्ति का साधक होता है। ज्ञान रूपी भण्डार की रक्षा करने के लिए ही भगवान ने उसको पैदा किया है। ब्राह्मण को व्रतों का अनुष्ठान करना चाहिए यही ब्राह्मण की तपस्या है। वेद न पढ़ कर बाह्य विषयों का पठन करने वाला ब्राह्मण पतित हो जाता है। वेदों का अध्ययन न करने तथा उसके आचरण न करने से आलस्य तथा अन्य दोष से ब्राह्मण विनष्ट हो जाता है। ब्राह्मण समाज रूपी शरीर का प्राण होता है। ब्राह्मण को दम्भ, पाखंड व्यर्थ अभियान, छल आदि दोषों से दूर रहना है। ज्ञान ही ब्राह्मण का आलोक है, सदाचार उसका तप है और आर्जव आदि गुण विरोधी वर्ग को भस्म कर देने वाले आग्नेय गुण हैं। यदि ब्राह्मण इन गुणों से हीन हो जाता है, तो उसका विनष्ट हुआ समझना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य स्वयं अस्त होकर भी संसार को अंधकार में डाल देता है और निशा-

चर प्राणियों के अत्याचार करने का अवसर प्रदान करता है । वैसे ही ब्राह्मण अपने पतित होने के साथ समाज को भी पतित बना देता है ।

(2) **क्षत्रिय वर्ण के कार्य और गुण**—मनुस्मृति के अनुसार—

प्रजानांक रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेवासतिश्च क्षत्रियस्य समाहतः ।।

इसका भावार्थ है प्रजाओं की रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन, नृत्यु, भोगादि विषयों में आसक्ति का होना ये संक्षेप में क्षत्रियों का कर्त्तव्य है । भोगों में आसक्त होने के कारण प्रजापालन में बाधा पहुँचती है । रघुवंशी राजाओं के बारे में ऐसा कहा जाता है कि "प्रजाय गृह मेधिनाम" । इसकी टीका करते हुए मल्लिनाथ ने कहा है, "न तुम कामोपभोगाय" अर्थात् विवाह, पितृ ऋण चुकाने के लिये किये जाते थे, कामोपयोग के लिये नहीं ।

क्षत्रियों का मुख्य कार्य रक्षा करना होता है । दुःख से बचाने वाला, उन्नत ललाट, चमत्कृत चक्षु, प्रलम्भ बाहु, विस्तृत वक्षास्थल तथा मांसल जंघों वाला, दुर्जनों के हृदय में भय आतंक और सज्जनों के हृदय में निर्भीकता पैदा करने वाला प्राणी रूपी फलों के मृत्यु देवता का पूजन करने वाला, शक्ति स्वास्थ्य एवं तेज वाला, धीर, वीर, और उन्नत मना आर्य ही क्षत्रिय कहा जाता है । उसका काम है प्रजा की रक्षा करना, दान यज्ञ, अध्ययन तथा विषयों में अनासक्ति ये क्षत्रिय के धर्म हैं । क्षत्रियों को आर्य जाति की भुजा कहा गया है । अस्त्र-शस्त्र उसकी शोभा है । संसार कानून का वह मृगा युद्ध है । उद्यत नर पशुओं को नष्ट करने वाला है । जैसे सिंह की वधू वीर पुत्र को पैदा करके निद्रा का आनन्द लेती है उसी प्रकार से क्षत्रिय वधू ऐसे वीर पुत्र को पैदा करके अनन्त प्रतिष्ठा का भाजन बनती है । वृहद् कान्तारों और पर्वतों से सुशोभित इस आर्य भूमि को क्षत्रियों ने तलवार की धार से रोका और हूणों के रक्त से रंजित किया है अनेक विदेशी आक्रमणकारियों के घमंड को चूर किया है । क्षत्रिय जाति भू-माता की रक्षा करती है, तलवार उसका साथी है, रणक्षेत्र उसका प्राण है तथा स्वप्न में भी मृत्यु से नहीं डरता है । क्षत्रियों के अभाव में अन्य वर्णों को अपमानित होना पड़ता है । दंड के जो पात्र हैं वे ज्ञात से शांत नहीं होते । पर्वतों के पंख तोड़ने के लिए वृहस्पति के ज्ञान का नहीं बल्कि इन्द्र की वज्र विद्या किस काम की थी, इसके लिए तो राम के वाणों की आवश्यकता थी । क्षत्रिय वीर भावों के वातावरण में पलता है, वीरता की कहानियाँ सुनकर बड़ा होता है और आत्म-सम्मानपूर्वक जीवित रहता है । अपमानित होने से अच्छा वह मृत्यु को ही समझता है । अपने इन्हीं गुणों के कारण क्षत्रिय राजपद से विभूषित होता है ।

क्षत्रियों के अभाव में भय और दंड से शासित रहने वाले उपद्रव मचाते हैं । राष्ट्र त्रस्त हो जाता है । बड़े-बड़े कलाकार इन नर पशुओं को शांत नहीं कर पाते । ऐसे जघन्य कार्य करने वालों से समाज की रक्षा के लिए भगवान ने क्षत्रियों को पैदा किया है । इन्द्र, पवन, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र, कुबेर का अंश लेकर विधाता ने क्षत्रियों को बनाया है । इसीलिए क्षत्रिय अपने तेज से सबको अभिभूत करता है । बालक क्षत्रिय भी महान् है क्षत्रिय ही राजा है । क्षत्रियों के अभाव से समाज सभी की मर्यादा विनष्ट हो जाती है । धर्म यथा अर्थ की अवहेलना करके अपने पूर्वजों के पथ

को त्याग कर कामोपयोग में रत रहने वाला क्षत्रिय विनाश को प्राप्त करता है। क्षत्रिय को प्रजा के विषय में न्यायी, पशुओं के विषय में उग्र, मित्रों के विषय में निश्छल तथा ब्राह्मणों के विषय में क्षमाशील होना चाहिए। अनर्थकारी दोषों का पिता लोभ है अतएव क्षत्रिय को लोभ से बचना चाहिए शराब पीना, जुआ खेलना, स्त्रियों पर आसक्ति करना, हरिण आदि पशुओं के वध में ही वीरता दिखाना, मार-पीट करना, गाली देना, दूसरों का धन पड़प लेना इन सात दोषों के कारण क्षत्रिय अपने स्थान से गिर जाता है।

पतन और मृत्यु इनमें पतन क्षत्रिय के लिये अधिक दुखदायी होता है। क्षत्रिय को राजनीति, आचारनीति, दण्ड नीति और अर्थ शास्त्रादि विद्या का पारंगत होना चाहिए, उसे ब्राह्मण में भक्ति रखनी चाहिये, अप्राप्य वस्तु को धर्म और न्यायपूर्वक प्राप्त करना चाहिए, उस वस्तु की रक्षा करनी चाहिए, तथा सत्पात्र और विद्वानों के लिये इसका त्याग करना चाहिये। प्रजा की रक्षा से बढ़कर क्षत्रिय के लिए दूसरा कोई धर्म नहीं है। क्षत्रिय कन्या को भी मन्त्रिमण्डल उसे सब कुछ सम्हालना चाहिये। भारत की पौराणिक गाथाओं, रामायण और महाभारत राजाओं की ही गाथाएँ हैं।

(3) **वैश्य वर्ण, कार्य तथा गुण**—वैश्य वर्ण के कार्यों का उल्लेख मनुस्मृति में निम्नलिखित ढंग से उल्लेख किया है।

"पशूनां रक्षणं दानमिज्या ध्ययनमेव च।
वाणिक्वथ कुशीदं च वंश्यस्व कृषिचवेच ॥"

अर्थात् पशुओं का रक्षण (श्रीमद्भागवत गीता में कृषि गोरक्षण वाणिज्य कहा है) मनु ने इसको कुछ व्यापक बनाकर पशुना रक्षण कहा है। दान यज्ञ, अध्ययन, वाणिज्य, ब्याज लेना और कृषि कर्म में वैश्यों के कर्म हैं। आर्यों के गृहस्थ जीवन में योग एवं क्षेत्र का विशेष महत्व है। ये अभय शब्द भारतीय अर्थशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। प्राप्ति का संरक्षण योग तथा अप्राप्ति की कोशिश क्षेम कहा जाता है। इन्हें अस्ति तथा प्राप्ति के नामों से अभिहित किया जाता है। आर्य स्वास्ति को निमित्त देवताओं से प्रार्थना करते थे। प्राप्त धन का उचित रूप से विद्यमान रहना ही स्वास्ति है। स्वास्ति की कामना आर्यों की समृद्धिशीलता का मूल है। स्वास्ति और सुप्राप्ति अर्थात् योग और क्षेम के लिये सतत्, प्रयास करने वाली जाति वस्तु उत्पादन, संरक्षण और वितरण नीति में अवश्य ही कुशल रही होगी। जुआ मत खेलो, खेती ही करो, परिश्रम से प्राप्त वित्त में आनन्द मनाओ। हे वित्तन ! इस खेती में ही गौंवे मिलती हैं और कृषि में ही पत्नी मिलती हैं। संसार के बनाने वाले ने हमें विशेष रूप से यही निर्देश दिया है। ऋग्वेद में हमको इसी आशय का एक श्लोक मिलता है। ज्ञान और शक्ति के उपासकों के अलावा लक्ष्मी के पुजारियों के वर्ग का भी यत्रतत्र आभास मिलता है। विनिमय के भी उपाख्यान कम नहीं है। अर्थशास्त्र अपने आप में स्वयं एक उपवेद है। उस समय देश धन्य-धान्य से परिपूरित था। न्याय विधान रखने वाले ब्राह्मणों और सामाजिक राजन्यों के अतिरिक्त भी आर्यों का एक उन्नत वर्ग था। उनका नाम वैश्य था। वैश्य को भारतीय समाजशास्त्र की अलंकारिक भाषा में विशाल आर्य राष्ट्र का जंघा बतलाया गया है। जैसे भोज्य और पेय वस्तुओं को उदर में डालने का कार्य हाथ करता है तथा उदर रक्त में शक्ति का

संचार सम्पूर्ण शरीर में करता है उसी प्रकार वैश्य राष्ट्र के आर्थिक भाग का वाहक है। मनु महाराज ने पशु रक्षण, क्रय विक्रय और कुसीद इस वर्ग की आजीविका बताया है। ब्राह्मण और क्षत्रियों की ही भाँति इसके ऊपर भी राष्ट्र की रक्षा का भार होता है। संक्षेप में वैश्यों के कर्म थे—पशुपालन, दान, यज्ञ, पढ़ना, व्यापार करना। ब्राह्मणों के गम्भीर अनुभव तथा राजाओं का महान् पराक्रम यदि स्तुति करने योग्य था तो राष्ट्र को समृद्ध तथा सुखी बनाने में वैश्यों का भी महत्वपूर्ण स्थान था।

(4) **शूद्र वर्ण के कार्य तथा गुण**—मनुस्मृति के अनुसार—

"एक मेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत।
एतोषामेव वर्णानां शुश्रुषामन सूचय ॥"

अर्थात् ईश्वर ने शूद्रों का एक ही धर्म बनाया था। वह है इन वर्गों की बिना निन्दा किये हुए ही सेवा करना। शूद्र समाज के शरीर का चरण माना गया है। वह विश्वरूप परमात्मा के चरण अथवा यरण से उत्पन्न हुआ है। यह कथन भी शूद्र की महिमा को प्रकाशित करता है। शूद्र महान् तपस्वी है। उसकी सहिष्णुता सराही जानी चाहिये। भारतीय वर्ण विधान में इसको चतुर्थ स्थान प्रदान किया गया है। तीन वर्णों की सतत सेवा ही उसका धर्म था। सेवाभार गहन है, यह एक प्रकार का व्रत है अतः उसका अनुष्ठान करने वाला शूद्र भी व्रती ही है। मानव समष्टि का भगवान का ही स्वरूप है। उसकी सेवा वाला कोई भी व्यक्ति अपमान का भाग नहीं है। भगवान की आराधना करके शूद्र भी समुन्नत और समृद्ध हो सकता है। लेकिन उसका पारायण नर प्राणियों में निवास करता है। मानव प्राणी शूद्र का सर्वोत्तम साधना मन्दिर है, विशालकाय भारतीय समाज शूद्र के ही ऊपर आश्रित है। शूद्र धन्य है।

शूद्र यदि नौकरी करना चाहे तो अन्य वर्ण उसे अपने यहाँ रख सकते हैं। यदि शूद्र ईश्वर को पाना चाहता है तो उसे विद्वान् ब्राह्मण उसको अपना सेवक मान ले तो उसको स्वर्ग प्राप्त करने से रोकने वाला कोई नहीं। शूद्र को पठन पाठन का कोई अधिकार नहीं था। वह किसी भी धार्मिक कृत्य में भाग नहीं ले सकता था। धार्मिक वृत्ति का शूद्र राजा की आज्ञा लेकर धार्मिक कृत्य कर सकता था। आवश्यकता पड़ने पर शूद्र शिल्पी का भी कार्य कर सकता था। यदि स्वामी सन्तानहीन है तो शूद्र भी पिण्डदान कर सकता था। यदि स्वामी अपाहिज हो गया है तो शूद्र सेवक को स्वामी का साथ कदापि नहीं छोड़ना चाहिये।

आर्यों ने समाज के एक भाग को इतना हीन क्यों माना—हमारे सामने यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि आर्यों ने समाज के एक भाग को इतना हीन क्यों माना था? जिस वर्ण को हीन ध्यान दिया गया था उसके साथ तो समाज का रुख अत्यन्त अन्यायपूर्ण था। आखिर इस बात को समाज ने अनुचित क्यों नहीं कहा? हमारे पूर्व वैदिक साहित्य और काल तीन वर्णों की ही रचना के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। ये तीनों वर्ण आर्य जनों से ही निर्मित किये गये थे। चतुर्थ वर्ग तो विजित अनार्य जातियों से बना। श्री विश्वनाथ शुक्ल के शब्दों में कह सकते हैं—

"विजेताओं की नैतिकता अपने सदस्यों के लिए तो एक प्रकार की होती थी लेकिन विजित शत्रुओं के लिए दूसरे ही प्रकार की होती है। आर्य जन परस्पर व्यवहार में जो बातें निन्द्य और अन्यायपूर्ण मानते थे। विजित अनार्यों के लिए उन्हें उचित मानते थे। अंग्रेज लोग भी विजित भारतीयों में ऐसा व्यवहार करने में कोई सकोच नहीं करते थे जैसा वे अपने समाज में एक दूसरे के प्रति कभी भी नहीं कर सकते थे। यह दोहरी नैतिकता समाज में आदिकाल से बड़ी मात्रा में प्रताड़ना और शोषण के लिए उत्तरदायी रही है।"

शूद्रों के लिये अपनी नीति का औचित्य प्रमाणित करने के लिये वर्णों का सम्बन्ध सत, रज, तम, गुणों के साथ जोड़ दिया गया है। शूद्र लोग तमो गुण वाले होते थे। महाभारत के शान्तिपूर्वक में शूद्रांण असितज्ञ तथा द्वारा तमोगुणमय होने का संकेत मिलता है—

"हिसांनृता प्रिया लुब्ध सर्व कर्मेपिजी वनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥"

इस श्लोक में ब्राह्मणों के भ्रष्ट हो जाने पर शूद्र बन जाने की बात कही गयी है। यद्यपि शूद्र भी जन्म से ब्राह्मण ही थे लेकिन अपने कर्म से वे शूद्र बन गये। उनमें लालच, मिथ्या तथा आजीविका के लिए सभी कार्य करने का दुर्गुण वर्तमान था। पवित्रता नष्ट हो जाने के कारण वे काले और कलुषमय चरित्र वाले, तमोगुण के लक्षणों से युक्त शूद्र हो गये। किसी के प्रति बुरा व्यवहार करना और सामाजिक व्यवस्था द्वारा इस बुरे व्यवहार की स्वीकृति उसी अवस्था में उचित हो सकती है जब यह बुरा व्यवहार प्रतिकार स्वरूप हो अर्थात् किसी व्यक्ति का कुछ दोष और अपराध हो तब उसे दण्ड देने के उद्देश्य से उसके प्रति बुरा व्यवहार किया जाय। यहाँ देखा जाता है कि शूद्रों को अपराधी घोषित करने का प्रयास किया गया है। शूद्र बेचारा इस प्रकार अपने आप ही ऊँचे स्थान से नीचे गिर गया। इसीलिए समाज ने उसको समस्त सुखों से वंचित कर दिया। लेकिन यह बात भी गलत प्रतीत होती है विजित शूद्र जातियों के ऊपर दुर्व्यवहार तथा औचित्य की मुहर लगाने के लिए ही इस प्रकार के तर्क किये गये हैं।

प्रश्न 4—प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था के महत्व पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

अथवा

वर्ण-व्यवस्था के गुण दोषों की विवेचना कीजिये।

अथवा

प्राचीन भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था अनेक दोषों से युक्त थी परन्तु फिर भी वह भारतीय समाज में दीर्घजीवी रह सकी। क्यों? स्पष्ट रूप से लिखिए।

प्राचीन भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था उसकी अनुपम धरोहर है। इस व्यवस्था को अपनाकर उसने अत्यधिक उन्नति की। कतिपय विद्वान् इस व्यवस्था के दोषों का भी उल्लेख करते हैं। यह ठीक है कि आधुनिक समाज में वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण दिखलाई देती है परन्तु फिर भी यह स्थिति अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है। इसका मूल कारण यही रहा है कि इस व्यवस्था से भारतीय समाज को हानियों के बजाय लाभ अत्यधिक हुए हैं। यहाँ हम वर्ण-व्यवस्था के महत्व और

दोषों का उल्लेख करते हुए इस तथ्य का निरूपण करेंगे कि अनेक दोषों के बावजूद यह व्यवस्था आज भी समाज में क्यों चली आ रही है।

वर्ण-व्यवस्था का महत्व—अनेक पाश्चात्य विद्वान् प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था को असमानता की नीति पर आधारित एक पक्षपात-पूर्ण व्यवस्था मानते हैं। परन्तु उनका यह भ्रम है। वर्ण-व्यवस्था का जो रूप उपनिषदों, महाभारत और कुछ स्मृतियों में प्राप्त हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह व्यवस्था, मनोवैज्ञानिक आधार पर समाज को संगठित रखने का सुन्दरतम् प्रयास थी। यह व्यवस्था समाज को विभाजित करने वाली नहीं बल्कि सभी को अपने दायित्वों का निर्वाह करने के लिये प्रेरणा देने वाली थी। इस व्यवस्था की उपयोगिता को निम्नलिखित तथ्यों से समझा जा सकता है।

(1) **स्वतन्त्रता की रक्षा**—हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि जिस समय वर्ण-व्यवस्था स्थापित हुई उस समय लोगों का सम्बन्ध राजा से न होकर जनपदों और उनके नियमों से था। प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से कार्य करने के लिए स्वतंत्र था। वर्ण-व्यवस्था का कर्मानुसार होने के फलस्वरूप किसी पर कोई बन्धन नहीं था।

(2) **एकता की भावना**—वर्ण-व्यवस्था एकता की भावना लाने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। एक ही वर्ण के लोग अन्य लोगों से मिले और धीरे-धीरे समस्त समाज में इस एकता का प्रसार हो गया। अति प्राचीन काल में वर्ण का बन्धन कठोर न होने के कारण एकता की भावना को और अधिक बढ़ावा मिला। साधारणतया यह देखा जाता है कि एक ही काम करने वाले लोग अपना एक संघ बना लेते हैं और उनमें अत्यधिक प्रेम और एकता विद्यमान रहती है। यही बात विभिन्न वर्णों के विषय में थी।

(3) **सामाजिक संघर्षों से छुटकारा**—वर्ण-व्यवस्था का आधार-भूत महत्व इस बात में है कि उसने अनावश्यक प्रतियोगिता पर नियन्त्रण रख कर व्यक्तियों को संघर्षों से छुटकारा दिलाया। यदि प्रत्येक व्यक्ति पद पाने की आकांक्षा करने लगे तो असफलता के फलस्वरूप व्यक्ति का सामाजिक जीवन ही विघटित नहीं होता, बल्कि उससे समाज के संगठन के हेतु खतरा उत्पन्न हो जाता है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज को 4 भागों में विभाजित करके प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्य इस प्रकार निर्धारित किये गये कि वे एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप न कर सकें। प्राचीन भारत में व्यक्तियों को यह विश्वास दिलाया गया कि वर्ण धर्म का पालन करना ही मोक्ष का सरलतम् साधन है। इसके फलस्रूप प्रत्येक व्यक्ति न केवल अपनी आजीवका, व्यवसाय, और कार्यक्षेत्र के प्रति आश्वस्त रहा बलिक साथ ही उसे इन कार्यों से बहुत अधिक उच्च मानवीय लक्षणों को भी प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ। इसी आधार पर भारतीय संस्कृति में मानवता के गुण का सबसे अधिक विकास हुआ।

(4) **श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण**—वर्ण-व्यवस्था श्रम विभाजन और विशेषीकरण के क्षेत्र में सर्वोत्तम प्रयास था और उसके फलस्वरूप समाज को किसी भी समस्या का सामना नहीं करना पड़ा। सभी वर्णों के लोग अपने-अपने कर्म को करते थे जिससे कि अपने कर्म में उनको विशेष योग्यता प्राप्त हो जाती थी। विशेषी-

कारण के लिये आवश्यक है कि सभी लोग उसी कर्म को करें जिसमें कि रुचि हो। परम्परागत पारिवारिक पेशे में रुचि अपने आप उत्पन्न हो जाती थी। भारतीय ज्ञान, कला दर्शन, नृत्य, संगीत आदि के क्षेत्रों में इसीलिये विशेषीकरण प्राप्त हो सका। इसका श्रेय इस देश की वर्ण-व्यवस्था को ही दिया जा सकता है।

इस व्यवस्था के फलस्वरूप न केवल व्यावसायिक योग्यता का विकास ही हुआ बल्कि आजीविका से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान स्वमेव हो गया। वर्ण-व्यवस्था का ही परिणाम था कि अतीत में भारतीय समाज ज्ञान, वाणिज्य सेवा के क्षेत्र में संसार में अग्रणी थी।

(5) **गतिशीलता** – वर्ण-व्यवस्था ने नियन्त्रित गतिशीलता के स्थान पर सामाजिक विकास में पूर्ण योगदान दिया। कोई भी समाज तब तक प्रगतिशील नहीं बनाया जा सकता जब तक कि उसमें गतिशीलता का गुण न हो। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा व्यक्तियों में श्रम-विभाजन अवश्य कर दिया गया है परन्तु उसके अन्तर्गत व्यक्तियों को अपनी सामाजिक स्थिति में उन्नति करने की भी छूट प्रदान की गयी। वर्ण-व्यवस्था मनुष्य के कर्म और गुणों को सर्वोच्च स्थान दिया गया। यही वह आधार है कि जिसके फलस्वरूप अनेक व्यक्तियों ने निम्न वर्णों में जन्म लेने के बाद भी अपने गुण एवं कर्म के आधार पर उच्च वर्णों की सदस्यता प्राप्त की। वर्ण-व्यवस्था की इस गतिशीलता प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही व्यक्तियों को अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करने की सर्वाधिक प्रेरणा प्राप्त हुयी और इसी के कारण हमारा समाज संगठित था।

(6) **समानता**—प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि इस अवस्था का आदर्श असमानता में भी समानता के गुणों को प्राप्त करना था। इस व्यवस्था में सामाजिक दृष्टिकोण से एक संस्तरण अवश्य देखने को मिलता है परन्तु क्रियात्मक रूप से सभी वर्णों की सेवाओं को समान महत्व दिया है। ऋग्वेद के पुरुष सूत्र के अनुसार यदि हम यह मान लें कि ब्रह्म के 4 अंगों में से 4 वर्णों की उत्पत्ति हुयी तो भी यह मानना पड़ेगा कि उससे वर्ण-व्यवस्था की समता वादी नीति ही स्पष्ट होती है। क्योंकि शरीर के विभिन्न अंग केवल बाह्य रूप से एक दूसरे से अलग हैं जब कि सामाजिक दृष्टि से सभी का महत्व समान है। वास्तव में वर्ण-व्यवस्था का प्रमुख आधार यही था कि अलग-अलग व्यक्तियों को कार्यों को करने के बाद समाज में सभी व्यक्तियों का महत्व समान रहा।

(7) **रक्त की पवित्रता**—वर्ण-व्यवस्था के द्वारा सभी वर्णों को अपनी-अपनी रक्त पवित्रता बनाये रखने का प्रोत्साहन दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारी सांस्कृतिक विशेषताएँ बिना किसी एक पीढ़ी में हस्तान्तरित होती रही। भारतीय समाज में रक्त का अधिक मिश्रण नहीं हो सका और इसी के फलस्वरूप हमारी संस्कृति नष्ट होने से बच गयी।

(8) **अनुशासन की भावना**— वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत हर व्यक्ति को अपने वर्ण के नियमों का पालन कठोरता के साथ करना पड़ता था। जो ऐसा करने में असमर्थ होते थे उनको वर्ण से निकाल दिया जाता था। इस तरह नियम पालक और अनुशासित समाज का ढाँचा तैयार हो गया।

(9) **सभ्य, सुसंस्कृत एवं सुव्यवस्थित जीवन को प्रोत्साहन**—वर्ण-व्यवस्था ने सभ्य, सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित जीवन को प्रोत्साहित किया है। भारतीय दार्शनिकों के द्वारा निर्देशित वर्णाश्रम व्यवस्था समाज तथा व्यक्ति की सुव्यवस्थित प्रगति के लिये उचित रही। इस व्यवस्था के कारण प्रारम्भ से ही व्यक्तियों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का निर्धारण हो चुका था। लोग जैसे-जैसे अवस्था में बढ़ते जाते थे वैसे-वैसे ही सामाजिक अनुशासन में सहायता मिलती थी।

(10) **कला की उन्नति**—फ्रान्सीसी विचारक अबेडुबाय ने लिखा है कि साधारण औजारों से हिन्दुओं ने ऐसी महत्वपूर्ण कला कृतियाँ प्रस्तुत की हैं जिनकी तुलना अधिक व्यय से बनी विदेशी वस्तुओं से की जा सकती है। साहित्य और कला के क्षेत्र में जो पूर्णता यहाँ के विचारकों को मिली वह अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। इसका श्रेय वर्ण-व्यवस्था को ही दिया जा सकता है कि हमारे समाज में उच्चस्तरीय कला कृतियाँ तैयारी हो सकीं।

वर्ण-व्यवस्था के दोष—ऊपर हमने वर्ण-व्यवस्था के गुणों का विस्तार से उल्लेख किया है। इन गुणों के होते हुये भी अनेक विद्वान् यह मानते हैं कि वर्णन व्यवस्था भारतीय समाज के लिये अच्छी न रही। ये विद्वान् वर्ण-व्यवस्था के निम्नलिखित दोष बतलाते हैं—

(1) **नैतिकता के दोहरे स्तर पर आधारित**—वर्ण-व्यवस्था के आलोचकों का मत है कि वर्ण-व्यवस्था नैतिकता के दोहरे स्तर पर आधारित है। शास्त्रों में यह तर्क दिया गया है कि स्वभाव संबंधी विशेषतायें जन्मजात होती हैं और इसी कारण विभिन्न वर्णों के अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे से भिन्न होना उचित है। परन्तु वहाँ इस तथ्य की जानबूझ कर अवहेलना की गयी है कि उन गुणों के फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था का निर्माण नहीं हुआ बल्कि जब सैकड़ों की परम्परा में एक समूह एक तरह का व्यवसाय करता रहा को अपने द्वारा किये जाने वाले कार्यों और परिस्थिति संबंधी कारकों से उसमें एक विशेष प्रकार के स्वभाव का विकास हो गया। इस तरह वर्ण-व्यवस्था का आधार ही भेदभाव पर आधारित है।

(2) **सामाजिक न्याय, समानता, स्वतन्त्रता और अन्य माननीय सिद्धान्तों की उपेक्षा**—मानव व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक न्याय, समानता, स्वतन्त्रता तथा अन्य मानवीय सिद्धांतों की पूरी तरह से उपेक्षा की गयी है यह एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था है जिसमें कि जन्म से ही किसी व्यक्ति की उच्चता तथा निम्नता को निर्धारित कर दिया जाता है। जन्म के साथ किसी व्यक्ति को उच्च परिस्थिति तथा दूसरे को निम्न सामाजिक परिस्थिति दे देना अच्छा नहीं है।

के० एम० पाणिक्कर ने कहा है कि यदि वर्णों उपवर्णों का विभाजन करने के स्थान में उनको चतुर्वर्ण्य के सिद्धान्त में ही संगठित किया गया होता तो हिन्दू समाज छिन्न-भिन्न नहीं होता।

वर्ण-व्यवस्था में किसी वर्ण के कर्म रोचक तथा किसी के अत्यन्त दुखद के लगते हैं। मनुष्य ने अपने मन के अनुसार अपने कर्म का निश्चय किये गये हैं। उनको ही स्वीकार करे, तभी व्यक्ति तथा समाज की उन्नति हो सकती है। सामाजिक

व्यवस्था को टूटने में बचाने के लिए लोगों में वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त के अनुसार अपने लिए निश्चित कर्म के अनुष्ठान के लिए बाध्य बताया जाता है। यहाँ शंका होती है कि एक वर्ण में एक दूसरे वर्ण वाली प्रवृत्ति के लोग हो सकते हैं। ऐसी दशा में उनको क्या करना चाहिए। ऐसी दशा में उनसे उनके वर्ण के कार्य कराना तो अन्याय ही होगा। यही बात हिन्दू वैवाहिक जीवन में भी देखने को मिलती है। पति-पत्नी के सम्बन्ध चाहे अच्छे हों या नहीं, जीवन-पर्यन्त उनको एक साथ रहना है। इस तरह ईश्वरीय वरदान कहा जाने वाला जीवन भुगता जाने लगता है।

(3) **एकाधिकार की सामाजिक नीति**—वर्ण-व्यवस्था एकाधिकार की सामाजिक नीति पर आधारित है। आरम्भ में शक्ति-सम्पन्न लोगों ने सबसे अधिक अधिकार स्वयं प्राप्त कर लिए। फिर किसी भी दूसरे समूह के इस स्थिति में जाने पर पूर्ण नियन्त्रण लगा दिया। यह स्थिति सामाजिक प्रगति में बाधक सिद्ध हुई और उसी के फलस्वरूप भारतीय सामाजिक व्यवस्था में चेतना और जागरूकता का नितान्त अभाव रहा।

(4) **वर्ण-संकरता की भ्रमपूर्ण धारणा**—वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत वर्ण-संकरता की धारणा अत्यन्त भ्रमपूर्ण, संकीर्ण, पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति की परिचायक रही है। यह कहना है कि एक दूसरे से भिन्न वर्ण या पुरुष से उत्पन्न संतान वर्ण संकर होती है पूरी तरह से निराधार है। उसे न तो जैवकीय सिद्धान्त पर सिद्ध किया जा सका है और न बौद्धिक आधार पर। एक विद्वान् ने लिखा है, ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत का अधिकार सम्पन्न वर्ग किसी भी धारणा को धर्म का जामा पहनाने के लिए तैयार था और उससे समाज का संगठन कितना ही विषाक्त हो जाये, उसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी।

(5) **शूद्रों का अमानवीय शोषण**—वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के एक बड़े वर्ग को शूद्र कह कर उसका अमानवीय शोषण किया गया। शूद्रों के प्रति समाज में अत्यन्त उपेक्षा भाव था। अधिकतर अच्छी बातें तो सवर्ण के लिए थीं। शूद्र के लिए तो टूटे बर्तन में भी भोजन करने के लिए मना किया गया था। 'भिन्न भाराडेषु, भोजन'। मनुस्मृति उसे फटे पुराने और जूठे अन्न से ही निर्वाह करना है—

"उच्छिष्टमन्नं दातंव्य जीर्णानि वसनानि च।" —मनुस्मृति

ब्राह्मण को समाज में सर्वोच्च स्थान देकर उसकी सर्वोच्च शक्ति नहीं दी गयी जैसे कन्या को हिस्सा नहीं दिया जाता पर जीवन भर उसका पैर छूते थे।

शूद्रों के प्रति वह व्यवहार सभी मानवीय सिद्धान्तों के विरुद्ध था और उसमें न्याय के सभी सिद्धान्तों की नृशन्स हत्य की गयी थी। इस व्यवस्था को धर्म का अंग मान कर उसके आधार पर वर्ण धर्म का प्रतिपादन स्वयं हिन्दू धर्म के रूप को कुलषित करना है।

वर्ण-व्यवस्था के स्थायित्व के कारण—ऊपर हमने वर्ण-व्यवस्था के विभिन्न उद्देश्यों का उल्लेख किया है। परन्तु इसके बाद भी यह व्यवस्था समाज में स्थायी रूप से विद्यमान रही है। यह व्यवस्था इतने दोषों से युक्त होते हुए भी इतनी दीर्घ जीवी कैसे आज भी भारतीय समाज में विद्यमान है। इसके अनेक सामाजिक;

मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक कारण हैं। जिनका उल्लेख यहाँ संक्षेप में किया जा रहा है :—

(1) वर्ण-व्यवस्था के स्थायित्व का प्रमुख कारण यह रहा है कि उसके अन्तर्गत समाज में सर्वोच्च वर्णों ने केवल सामाजिक अधिकारों पर ही कार्य किया है आर्थिक अधिकारों का ही महत्व सर्वोच्च रहा है लेकिन राजनीतिक शक्ति व आर्थिक अधिकार अन्य वर्णों के पास रहने से सर्वोच्च-वर्ण का अधिक विरोध न हो सका। ब्राह्मण वर्ग के पास सामाजिक और धार्मिक अधिकार तो रहे परन्तु उन्होंने आर्थिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयास कभी नहीं किया। राजनीतिक क्षेत्र में भी ब्राह्मणों ने अधिक हस्तक्षेप नहीं किया। यही कारण था कि क्षत्रियों और वैश्यों ने उनका विरोध न करके सम्मान ही दिया। शूद्रों को तीनों वर्णों की सेवा करने का आदेश दिया गया और इस कारण इस व्यवस्था का विरोध समय-समय पर अवश्य किया गया परन्तु उनके पास शिक्षा, धर्म-प्रशासन और सम्पत्ति के अधिकार के न होने से उनके विरोध का कोई मूल्य न था। फलस्वरूप यह विभाजन लम्बे समय तक स्थायी बना रहा।

(2) वर्ण-व्यवस्था की स्थिरता का दूसरा प्रमुख कारण बौद्ध और जैन धर्मों का विकास था। ये धर्म वर्ण-व्यवस्था के विरोध में उत्पन्न हुए थे परन्तु उन्हीं के फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था को स्थायित्व प्राप्त हुआ। इसका कारण यह था कि उस समय तक वर्ण-व्यवस्था को पूरी तरह से एक धार्मिक व्यवस्था के रूप में स्थापित किया जा चुका था। लोगों को यह विश्वास के रूप में दिया गया था कि वर्ण-व्यवस्था के विरोध से हिन्दू धर्म का पतन हो जायेगा।

(3) वर्ण-व्यवस्था के स्थायी रहने का एक अन्य कारण उच्च वर्गों के हाथ में ही शासन और धर्म का होना था। धर्म-प्रधान शासन में राजा सदैव ही धर्मभीरु होता है, फलस्वरूप राज्य की सर्वोच्च शक्ति ब्राह्मणों के ही हाथों में सुरक्षित रही। वही शासक वर्ग के सलाहकार रहे और उन्होंने शासन पर नियन्त्रण रखा। साथ ही धर्म के द्वारा राजा के अलौकिक अधिकारों की व्याख्या होने के फलस्वरूप क्षत्रिय अपने शासनाधिकार के प्रति भी आश्वस्त रहे तथा इस कारण उन्होंने कभी भी खुले रूप में इस व्यवस्था का विरोध नहीं किया।

(4) कर्म का भोग, पुनर्जीवन और मोक्ष के विश्वासों ने भी वर्ण-व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान किया। व्यक्ति को जब यह विश्वास हो गया कि पूर्व जन्म के बुरे कर्मों के फलस्वरूप उसे निम्न वर्ण मिला है तो उसने इस व्यवस्था का विरोध करना उचित न समझा बल्कि उसने इस व्यवस्था में ही रहकर आगामी जीवन को अच्छा बनाना श्रेयस्कर माना। व्यक्ति की भाग्यवादी प्रवृत्ति ने उसे निष्क्रिय बना दिया। सामाजिक चेतना के अभाव में किसी भी व्यवस्था का विरोध सम्भव नहीं है। और उसके फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था के विरोध होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। मोक्ष की धारणा के फलस्वरूप व्यक्ति को आत्म-विकास का अवसर मिला परन्तु हाथ ही उसने व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति केवल अपने आप में ही सीमित रह गया तथा उसे दूसरों के बारे में अथवा समूह के बारे में विचार करने की चिन्ता ही नहीं रही। इस कारण भी वर्ण-व्यवस्था स्थायी बनी रही।

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था को स्थिर बनाने रखने में किसी अलौकिक शक्ति का हाथ नहीं था बल्कि साम जिक, धार्मिक दशाओं के संयुक्त प्रभाव से ही यह व्यवस्था स्थिर रही। साथ ही यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि आधुनिक युग में यह व्यवस्था चाहे दोषपूर्ण दिखलाई दे परन्तु प्राचीन भारतीय समाज की उन्नति का यह मेरुदण्ड रही, इसमें किंचित-मात्र भी सन्देह नहीं है।

●

3

आश्रम-व्यवस्था

प्रश्न 1—प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार वर्णाश्रम धर्म के आदर्शों की व्याख्या कीजिए।

अथवा

आश्रम व्यवस्था के मूलाधारों की व्याख्या कीजिए।

अथवा

आश्रम-व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक आधार को स्पष्ट कीजिए और विभिन्न आश्रम पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

अथवा

आश्रम-व्यवस्था के नैतिक, मनोवैज्ञानिक आधार की मीमांसा कीजिए।

अथवा

भारतीय जीवन-क्रम में विभिन्न आश्रमों को स्पष्ट कीजिए और आश्रम-व्यवस्था के महत्व को समझाइये। ब्रह्मचर्य और सन्यास आश्रम पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

आश्रम-व्यवस्था, हिन्दू समाज की अत्यन्त प्राचीन विशेषता है। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अनेकानेक रहस्य विद्यमान हैं। इस प्रणाली का वैदिक काल में अस्तित्व था. इस बात मे भी इतिहासकारों एवं विद्वानों में एकमतता नहीं है। इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं कि सभ्य परिवारों के सदस्य अपनी बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था वैदिक साहित्य एवं वीरगाथाएँ आदि पढ़ने में व्यतीत करते थे। अथर्ववेद काल में यही व्यवस्था ब्रह्मचर्य कहलायी।

इतिहास इस बात का भी प्रमाण देता है कि समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे, जो प्राकृतिक शक्तियों को सन्तुष्ट एवं वश करने के प्रयास के लोग रहते थे।

उनकी जीवन शैली समाज के सर्वथा भिन्न पायी जाती थी। बड़े-बड़े बाल रखना, शरीर पर राख डालना तथा निर्वस्त्र घूमते रहना उनके प्रमुख कार्य होते थे। इन्हें ऋषि-मुनि के नाम से जाना जाता था। जनता का यह विश्वास था कि इन लोगों में अप्राकृतिक शक्तियों का वास है। उदाहरणतः लोगों का विश्वास था कि ये लोग उड़ सकते हैं। उन दिनों मोक्ष-प्राप्ति के लिये तप का महत्वपूर्ण स्थान था।

उस समय चारों आश्रमों ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास की व्यवस्था पायी जाती थी। आगे हम इन व्यवस्थाओं के बारे में पृथक्-पृथक् रूप से बढ़ेंगे। इन चारों व्यवस्थाओं का समाज में अस्तित्व होते हुये भी यह आवश्यक था कि सभी लोग इसी प्रणाली में अपना जीवन व्यतीत करें।

वस्तुतः संन्यासियों की जीवन-शैली अर्थात् हिन्दू पुरुषों की जीवन-शैली सम्भवतः यही थी। समाज का ऐतिहासिक अवलोकन इस बात का प्रमाण देता है कि ऋषि-मुनियों की यह जीवन-शैली न्यूनाधिक एवं परिवर्तित रूप में हर युग में पायी गयी है। आधुनिक हिप्पियों की जीवन-शैली भी कुछ-कुछ इन ऋषियों की जीवन-शैली से मिलती है। परन्तु आध्यात्मिक स्तर पर वर्तमान हिप्पियों एवं प्राचीन हिप्पियों में जमीन-आसमान का अन्तर है।

इन आश्रमों के पीछे क्या सामाजिक औचित्य था? इसका आभास वैदिक साहित्य के अध्ययन से मिलता है। वैदिक साहित्य में तीन ऋणों का उल्लेख है। तैत्तरीय संहिता के अनुसार, "प्रत्येक ब्राह्मण तीन ऋण लिये हुए इस संसार में जन्म लेता है। ऋषि ऋण, देव-ऋण, एवं पितृ ऋण। पहले ऋण को वेदों अध्ययन का करके दूसरे को देवताओं को बलि अर्पित करके और तीसरे को मृतपूर्वजों का श्राद्ध करने के लिये सन्तान उत्पन्न करके चुकाया जा सकता है।"

800-500 वर्ष ईसा पूर्व जीवन से सम्बन्धित 63 दर्शन प्रणालियां भारत में थीं। कुलीन परिवारों की चर्चा करते हुए उपनिषद् ने भी पुत्र, यश अथवा सम्पत्ति की इच्छा को व्यर्थ बताया है। 500 वर्ष ईसा के पूर्व तक संन्यास के विचार ने बहुत जोर पकड़ा। वैदिक धर्म के प्रतिपालकों ने चार आश्रमों के सिद्धान्त की निन्दा की और बताया की आध्यात्मिक मोक्ष के लिए संन्यास आवश्यक नहीं। यह गृहस्थ आश्रम में ही प्राप्त किया जा सकता है। श्री अरविन्द दर्शन, जिसका कि वर्तमान समय में अत्यन्त महत्व है, का भी कहना है, कि आध्यात्मिक मोक्ष के लिए गृहस्थाश्रम भी अनुचित नहीं।

ईसाई युग के प्रारम्भ से कुछ ऐसे विचारक हुए जिन्होंने, चारों आश्रमों के संश्लेषण पर बल दिया और इस संश्लेषण को समाज के हित में बताया। 800 वर्ष ईसा पूर्व आश्रम समुच्चय का सिद्धान्त अस्तित्व में आया। इस बात पर सभी लोग एकमत थे कि प्रत्येक व्यक्ति को बाल्यावस्था और किशोरावस्था में ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करना चाहिए। आज भी इस बात के समर्थक पाये जाते हैं। मनु-स्मृति में इन चारों आश्रमों के संयोग के समुच्चय के सिद्धान्त को अच्छे ढंग से प्रतिपादित किया गया है।

आश्रमों का मनोनैतिक आधार—वस्तुतः आश्रमों की व्यवस्था, जीवन के विभिन्न उद्देश्यों को पूर्ति का साधन थी। जीवन का उद्देश्य चार पुरुषार्थों में निहित

माना जाता था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये चार पुरुषार्थ, चार आश्रमों के माध्यम से पूर्ण किये जाते थे। प्रत्येक आश्रम, व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकास की वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति उस अवस्था से सम्बन्धित पुरुषार्थ की साधना करता है।

वस्तुत: आश्रम-व्यवस्था यदि एक ओर धर्म-परम्परा से सम्बन्धित रही है तो दूसरी ओर इसमें यज्ञ आदि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। चारों आश्रमों को चार प्रकार का यज्ञ माना गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम की ज्ञान-यज्ञ से तुलना की गई है। गृहस्थाश्रम को धर्म-यज्ञ माना गया है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति उस यज्ञ की तैयारी करता है, जो संन्यास आश्रम में पूर्ण होता है। संन्यास आश्रम में व्यक्ति हर प्रकार से लीन होकर ज्ञान की चरम सीमा प्राप्त करता है।

स्पष्टत: आश्रम-व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संगठन की आधारशिला है। यहाँ व्यवस्था के अन्तर्गत, व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार उसको शिक्षा तथा पालन-पोषण सम्बन्धी सभी समस्याओं के समाधान के लिए व्यवस्थाएँ दी गयी हैं। जिन्हें हिन्दू अपने सामाजिक संगठन और जीवन के लिये आवश्यक समझते हैं।

राजर्षि भीष्म पितामह के अनुसार देश (स्थान) और काल (समय) के अनुसार 'धर्म' अधर्म हो सकता है और 'अधर्म' धर्म हो सकता है। ऐसी जटिल परिस्थितियों की व्याख्या शास्त्रकारों ने नहीं की है। उन्होंने धर्म के सन्दर्भ में केवल 'श्रम' तथा 'गुण' की विवेचना की है। आश्रम-व्यवस्था के अन्दर इन दोनों बातों पर ध्यान दिया गया है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। अत: उसके प्राकृतिक विकास का अध्ययन उसके नैसर्गिक गुणों के सन्दर्भ में किया जाना चाहिये। विचारकों का मत है कि किसी व्यक्ति को सामाजिक इकाई के रूप में तथा सामाजिक संगठन का उपयुक्त अंग बनाने के लिये हम उसे दो दृष्टिकोणों में देखें।

(1) व्यक्ति का अध्ययन, जो कि एक सामाजिक प्राणी है, उसकी दीक्षा एवं प्राकृतिक विकास के आधार पर होना चाहिये, ताकि उसे अपने जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता दी जा सके।

(2) व्यक्ति का अध्ययन, उसके प्राकृतिक स्वभाव, गुण एवं प्रकृति के आधार कर करना चाहिये।

पहला दृष्टिकोण आश्रम-व्यवस्था में लिया गया है और दूसरा दृष्टिकोण जिसका सम्बन्ध पहले दृष्टिकोण से है, वर्ण-व्यवस्था में लिया गया है।

अत: आश्रम-व्यवस्था एवं वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन तथा सम्बन्धित व्यवहारों का आधार लिया गया है। जीवन के कुछ मौलिक विचारों एवं सिद्धान्तों पर ही इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं का निर्माण हुआ है। आश्रम-व्यवस्था, जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बन्धित समस्याओं को हल करने की व्यवस्था प्रस्तुत करती है। ये अवस्थाएँ उसकी आयु, गुण आदि पर आधारित हैं। इसके विपरीत वर्ण-व्यवस्था, सामाजिक स्तरीकरण तथा सामाजिक एकीकरण की व्यवस्थाएँ प्रस्तुत करती हैं।

आश्रम व्यवस्था का सिद्धान्त—हिन्दू विचारधारा के अनुसार, व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन अध्ययन और आत्मानुशासन का है। इस अध्ययन काल में उसे चार अवस्थाओं से, दीक्षा की चारों दशाओं से, जिसे आश्रम कहते हैं, गुजरना पड़ता है। आश्रम-व्यवस्था के मनोनैतिक सिद्धान्त को समझाने के लिए 'पुरुषार्थ' के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। वास्तव में 'पुरुषार्थ' ही आश्रम-व्यवस्था में मनोवैज्ञानिक आधार है। पुरुषार्थ चार होते हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इन पुरुषार्थों का वर्णन पीछे किया जा चुका है। व्यक्ति को आश्रम-व्यवस्था के माध्यम द्वारा मनोवैज्ञानिक दीक्षा, पुरुषार्थों के आधार पर दिलायी जाती है और साथ-साथ उसे समाज के साथ व्यवहार करना सिखलाया जाता है। आश्रम-व्यवस्था मनुष्य जीवन की शिक्षा प्राप्त करने की अवस्थायें है, जिसका मुख्य उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति में व्यक्ति को सहायता देना है। आश्रम-व्यवस्था को विभिन्न अवस्थाओं में हम देखते हैं कि व्यक्ति और समूह का कार्य अलग-अलग होने के साथ सामूहिक भी होता है। व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में अपनी प्राकृतिक अवस्था में रहकर तटस्थ की नीति अपनाता है। गृहस्थ आश्रम में सारे व्यक्ति परिवार और समाज का उत्तरदायी सदस्य बन जाता है और सारा समाज भी उसके प्रति उत्तरदायी सदस्य बन जाता है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति पुनः समाज से तटस्थ हो जाता है, और वह मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। चतुर्थ आश्रम संन्यास आश्रम में व्यक्ति, दैवी शक्तियों से सम्बन्ध रखने लगता है। वह 'स्वयं' से ही सम्बन्ध रखता है और इस अवस्था में समाज में उसका सम्बन्ध बिल्कुल समाप्त हो जाता है। वह समाज के सभी बन्धनों से मुक्त हो परमात्मा की खोज में लगा रहता है—आत्म चिंतन और आत्म-ज्ञान ही उसका मुख्य कार्य होता है। वस्तुतः यह मानव विकास की अन्तिम अवस्था है। जिसमें वह सामाजिक तथा प्राकृतिक रूप से सांसारिक बन्धनों से ऊपर उठ जाता है।

आश्रम व्यवस्था के सिद्धान्त को स्पष्ट करने की दृष्टि से डॉ० पाडुरंग काणे के विचारों की चर्चा—डा० काणे के अनुसार, "भारतीय लेखकों ने अपने दिव्यदर्शन एवं प्रकाश के अनुसार आश्रमों के सिद्धान्त एवं व्यवहार के विषय में अपने मत दिये हैं। ब्रह्मचर्य में व्यक्ति को अनुशासन और संकल्प के अनुसार रहना पड़ता था, उसे आज्ञाकारिता, आदर, सादे जीवन और उच्च विचार के सद्गुण सीखने पड़ते थे। ब्रह्मचर्य के उपरान्त व्यक्ति विवाह करता था, गृहस्थ होता था, संसार के आनन्द का स्वाद लेता था, जीवन का उपयोग करता था, सन्तोनोत्पत्ति करता था, अपनी सन्तानों पड़ोसियों, मित्रों और सम्बन्धियों के प्रति अपने कर्त्तव्य करता था, उपयोगी परिश्रमी और योग्य नागरिक होता था तथा एक कुल का संस्थापक होता था। ऐसा कहा जाता है कि लगभग 50 वर्ष की अवस्था हो जाने पर वह संसार के सुख एवं वासनाओं के सुख से ऊपर उठता था तथा वन की राह लेता था, जहाँ वह आत्म-निग्रही एवं निरापराध जीवन बिताता तपस्वी था। इसके उपरान्त संन्यास का आश्रम आता था। वह इसी जीवन में अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है, या इसी प्रकार के कई जीवनों तक चलता जायेगा, जब तक कि उसे मुक्ति प्राप्त न हो जाय।

आश्रम का अर्थ—आश्रम शब्द संस्कृत के 'श्रम' धातु से लिया गया है।

जिसका अर्थ परिश्रम, कार्य तथा शरीर को उद्देश्य के साथ गतिशील रखना है। आश्रम शब्द का अर्थ दो तरह से लगाया जा सकता है—

(अ) वह स्थान जहाँ कार्य किया जाता है, और

(ब) कार्य जो अपेक्षित है, उसे करना।

धर्म तथा नीतिशास्त्र के विश्वकोष के जर्मन विद्वान् पाल डायसन ने आश्रम के दो अर्थ बतलाये हैं—(1) वह स्थान जहाँ 'श्रम' अथवा प्रयत्न किया जाय, (2) श्रम अथवा प्रयत्न करना।

आश्रम शब्द का शाब्दिक अर्थ विश्राम स्थल या पड़ाव से होता है। हिन्दुओं के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। उस लक्ष्य की ओर लम्बी यात्रा में आश्रम पड़ाव के समान है। महाभारत के शान्ति पर्व में वेदव्यास ने आश्रम-व्यवस्था को चार डंडों वाली एक सीढ़ी बताया है, जो ब्रह्म की ओर ले जाने वाली है।

''चतुष्पदी हि निः श्रेणी, वमण्यदा, प्रतिष्ठिता, एतामानुमुहिदि, श्रेणी ब्रह्म लोके महीयते।''

इस प्रकार मनुष्य आश्रम व्यवस्थाओं में अपने को एक अवस्था से दूसरी व्यवस्था के लिये तैयार करता मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है।

आश्रमों के प्रकार—भारतीय धर्म-सूत्रों में चार आश्रमों की चर्चा की गयी है—

(1) ब्रह्मचर्याश्रम, (2) गृहस्थाश्रम, (3) वानप्रस्थाश्रम और (4) संन्यास आश्रम।

(1) **ब्रह्मचर्य आश्रम**—आश्रम धर्म के अनुसार सम्पूर्ण मानव जीवन को 4 भागों में बाँटा गया है तथा प्रत्येक विभाग को आश्रम कहते हैं। इनमें प्रथम आश्रम है ब्रह्मचर्य। बालक का उपनयन संस्कार समाप्त हो जाने के उपरान्त उसको विद्याध्ययन कार्य में लगाया जाता था। इसी स्थान में ब्रह्मचर्य आश्रम आरम्भ होता है। मनु ने द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के उपनयन की आयु पृथक् बतलायी है। अन्य वर्ण वालों की अपेक्षा ब्राह्मण का विद्यारम्भ पहिले हो जाता था। विद्यार्थी विद्या का उपार्जन गुरु के गृह (गुरुकुल) में ही रहकर करता था। किसी-किसी का विद्यारम्भ पिता ही के घर पर रह कर दिया जाया करता था। श्रद्धा, सेवा, संयम और आज्ञाकारिता के भावों से परिपूरित छात्र वेद, वेदांगों तथा विभिन्न विषयों का अध्ययन करता था : स्मृतियों में छात्रों के लिए अनुशासन के लिए जो नियम बतलाये गये है उनसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम कठोर नियन्त्रण और साधन का जीवन था। सम्पूर्ण मानव जीवन रूपी भवन की आधारशिला इस आश्रम की कठोर तपश्चर्या ही थी। सभी स्मृतियों में इस आश्रम की अनिवार्यता पर जोर दिया गया है और स्पष्ट शब्दों में यह प्रतिपादित किया गया है कि जिस द्विज जाति से ब्रह्मचर्य आश्रम भ्रष्ट हो जाता है और उसे पढ़ाना, उसके लिए यज्ञ करना या उसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करना निषिद्ध किया गया है। इस आश्रम की अनिवार्यता से ऐसा सिद्ध होता है कि प्राचीन हिन्दू समाज में शिक्षा को भली-भाँति

समझा गया था और बहुत ऊँचा था। इस शिक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक, शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक विकास करना था तथा जीवन-यात्रा सफलतापूर्वक पूरी करने में उसे सक्षम करना था। इसी विद्या के बल पर व्यक्ति मानव जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर सकता था (सा विद्या या विमुक्तये)।

अब यह प्रश्न है कि उस समय के ब्रह्मचारी को क्या करना पड़ता था और कौन-कौन सी वस्तुयें उसके लिए निषिद्ध थीं ? इसका उल्लेख वायु-पुराण में इस प्रकार दिया गया है—

"दण्डी च मेखली चैव ह्याशायी तथा जती।
गुरुशश्रुषणं भेक्ष विद्यार्थे ब्रह्मचारियाँ॥

"ब्रह्मचारी दण्ड, मेखला को धारण करे, भूमि पर शयन करे, जटाधारी हो, गुरु की श्रद्धापूर्वक सेवा करने वाला हो, एवं विद्याध्ययन के लिये भिक्षावृत्ति करे।"

"ब्रह्मचारी के निषेधात्मक कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में मनुस्मृति में लिखा गया है—

"मधु, मांस, गन्ध, माल्य, अच्छे मधुरादि रस (सिरका आदि), स्त्री, प्राणियों की हिंसा, तैलादि मर्दन, आँखों में अंजन, जूता पहनना, छात्र धारण करना, काम, क्रोध, लोभ, नाचना गाना, बजाना, जुआ, झगड़ा, पर-निन्दा, असत्य और कामुक प्रवृत्ति ब्रह्मचारी के लिए वर्जित है।"

ब्रह्मचारी सब विद्यायें सीख कर अपने घर जाने लगता था तो भविष्य के जीवन के लिए आदेश देता हुआ गुरु कहता था—

"वेदमच्याचार्यो अन्तेवासिन मनुशास्ति।
सत्यंवद धर्मचर स्वाध्यायान्मा प्रमदः॥

अर्थात् वेदाध्ययन कराने के अनन्तर आचार्य-शिष्य को अनुशासित करता है कि तू सत्य बोल, धर्म का आचरण कर, स्वाध्याय से कभी प्रमाद न कर।

(2) **गृहस्थ आश्रम**—प्रायः पच्चीस वर्ष तक की अवस्था विद्यार्थी को गुरु-कुल में व्यतीत करनी पडती थी और इस समय तक अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद वह ग्रहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। कुछ विद्यार्थी ऐसे भी होते थे जो या तो अपना विद्याध्ययन ही जारी रखते थे या संन्यास लेते थे। परन्तु आश्रम व्यवस्था के अनुसार दूसरा आश्रम गृहस्थ आश्रम था। गृहस्थाश्रम में रहकर व्यक्ति को मुख्यतः तीन कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता था—(1) अध्ययन (विद का अध्ययन)(2) यजन (यज्ञ आदि करना) (3) दान। उसे तीन ऋणों (1) ऋषि ऋण, (2) पितृ ऋण, और (3) देव ऋण से मुक्त होने का प्रयास करना पड़ता था। विधिवत् यज्ञ द्वारा वह देव ऋण से अध्ययन के द्वारा वह ऋषि ऋण से, और पुत्रोत्पादन द्वारा पितृ ऋण से उऋण हो सकता था। जीवन के सुखों का उपभोग करते हुए व्यक्ति को अपने सभी सामाजिक दायित्वों का पालन करना पड़ता था। गृहस्थ के दैनिक कार्य-क्रम में पंच महायज्ञ का समावेश किया गया था जिसका मनुस्मृति में विवेचन किया गया है। पंच महायज्ञ इस प्रकार है—

(1) ब्रह्म यज्ञ—वेद का अध्ययन तथा अध्ययन ।

(2) पितृ यज्ञ—मृत पितरों के निमित्त तर्पण ।

(3) देंव यज्ञ—देवताओं के निमित्त वृत्त आदि के लिए भोजन की व्यवस्था करना ।

(4) भूत यज्ञ—प्राणियों जैसे कुत्ते, असहाय आदि के लिये भोजन की व्यवस्था करना ।

(5) मनुष्य यज्ञ—अभ्यागतों अर्थात् अतिथियों का सत्कार करना ।

प्रथम तीन यज्ञों के साथ बाद के 2 यज्ञों का समावेश इस बात का सूचक है कि गृहस्थ की सहानुभूति का क्षेत्र काफी विस्तृत था । यह केवल अपने ही प्राणियों तथा अतिथि सत्कार आदि गुणों को बहुत आवश्यक बतलाया गया है ।

विभिन्न स्मृतियों में गृहस्थ आश्रम की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है—शुक्रनीति के अनुसार जगत् के पालन के लिये विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना अनिवार्य है । मनु ने लिखा है—"जिस प्रकार वायु का आश्रय लेकर सभी जन्तु जीते हैं उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर सब आश्रम व्यवहार करते हैं, क्योंकि तीनों आश्रम अन्नादि के लिये गृहस्थी पर निर्भर करते हैं, इसलिये गृहस्थाश्रम ज्येष्ठ साधन है ।"

वायु-पुराण में गृहस्थ आश्रम के विषय में निम्नलिखित उल्लेख हैं—

"दारोग्नेयो आतिथेय इत्या श्राद्धक्रिया: प्रजा: ।
इत्येय वैगृहस्थस्य सभासाद धर्म संग्रह ।।"

अर्थात् व्यक्ति अपने गुण कर्म तथा स्वभाव वाली स्त्री के साथ यज्ञ करे, अतिथि सेवा करे, ऋषियों और पितरों की सेवा करे तथा सन्तान उत्पन्न करे, यही गृहस्थ-आश्रम वालों के कर्त्तव्य हैं । शुक्रनीति के अनुसार, जगत के पालन के लिये विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना अनिवार्य है । मनु ने इस बात पर भी जोर दिया है कि प्रथम तीन आश्रमों की अवहेलना कर जो व्यक्ति केवल मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करता है, उसका पतन होता है ।"

अनधीत्य द्विजो वेदान अनुत्पाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्टवा चैन यज्ञैश्च मोक्षनिच्छत् प्रजत्यधः ।।

एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाने की मर्यादा प्राय: सर्वमान्य थी और प्राय: इसका उल्लंघन नहीं किया जाता था, यद्यपि विशिष्ट व्यक्तियों के लिये संन्यास लेने का भी विधान था ।

(3) **वानप्रस्थ आश्रम**—गृहस्थाश्रम बिता लेने के बाद व्यक्ति को वानप्रस्थ में प्रवेश करने का नियम था । वानप्रस्थ ग्रहण करने के पूर्व उसे अपने पारिवारिक कर्त्तव्य पूरे कर लेने पड़ते हैं । ऐसा कहा गया है कि अपने पौत्र का मुँह देख लेने पर व्यक्ति को परिवार से अवकाश ग्रहण कर लेना चाहिये । इसका अर्थ यह है कि अवकाश ग्रहण करने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को अपने पुत्र को इस योग्य बना देना चाहिये कि वह अपने परिवार और समाज की भलाई के लिए गृहस्थ के कर्त्तव्यों का

भार उठा सके। कौटिल्य ने वानप्रस्थ लेने के पूर्व सभी कर्त्तव्यों का पूरा करना आवश्यक बताते हुए लिखा है—"यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी और पुत्रों का भरण-पोषण का प्रबन्ध किये बिना तपस्वी का जीवन ग्रहण करेगा तो वह दण्डित किया जायगा।"

गृहस्थाश्रम को सबसे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है क्योंकि इस आश्रम में धर्म, अर्थ एवं काम तीनों की प्राप्ति की जाती है। किन्तु गृहस्थ को अपने चरम उद्देश्य मोक्ष को ध्यान में रखते हुए ही अर्थ एवं काम साधना के रूप में प्रयोग करना पड़ता है। इसके बाद ही वानप्रस्थ आश्रम आता है। इस आश्रम में रहकर व्यक्ति सांसारिक इच्छाओं, कामनाओं तथा लोभ का परित्याग करके अपने परलोक को सिधारता है। इसके लिये वह जीवन को संयमित ढंग से व्यतीत करना आरम्भ कर देता है। इस आश्रम में वन में रहने की व्यवस्था है। मनुस्मृति में इस सम्बन्ध में लिखा गया है—

गृहस्थावस्तु यदा पश्येद्लीपलितभात्मान: ।
अपास्यास्येव चापत्यं तदारराश्रमाश्रयेत ।।

अर्थात् जब मनुष्य यह देख ले कि उसके शरीर की त्वचा शिथिल हो गयी है अर्थात् झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, बाल पक गए हैं, पुत्र के भी पुत्र हो गया है तब विषयों से रहित होकर वन का आश्रय ले।

वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य को किस प्रकार की वेशभूषा धारण करना चाहिए, क्या खाना-पीना चाहिए। इन सब का उल्लेख वायु-पुराण में है—

चीर पत्रजिनानि स्यु: धान्यमूलं फलौषधम् ।
उभे धन्ध्य वाग द्रश्च दोमश्चारराव त्वनम् ।।

अर्थात् बलकल अथवा मृगचर्म धारण करे, धान्य कन्द-मूल और फलों का भक्षण करे, दोनों समय स्नान करे तथा परमात्मा का चिन्तन करते हुए प्रातः और सायं समय अग्निहोत्र करे।

वानप्रस्थी के लिये मनु महाराज ने निम्नलिखित कर्मों का विधान किया है।

'स्वाध्ये नित्यमुक्त: स्यादवनान्तो मेल समाहित ।
दाता नित्यमानादाता सर्व भुतानुकम्पक: ।।

अर्थात् नित्य स्वाध्याय में निरत रहे, अत्यन्त संयमी हो, सबका उपासक हो, उसका मन यश में हो, नित्यप्रति दान देने वाला हो, दान लेने वाले से बचता रहे, अर्थात् सब प्राणियों पर दया करने वाला हो। इस प्रकार वानप्रस्थ आश्रम का जीवन स्वाध्याय, अग्निहोत्र एवं संयम का होता है।

वानप्रस्थ आश्रम में मोक्ष-प्राप्ति का साधन—वानप्रस्थ आश्रम को प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में मोक्ष-प्राप्ति का एक साधन माना गया है। इस आश्रम में रहने वाले व्यक्ति से यह अपेक्षित था कि वह नित्य स्वाध्याय में लगा रहे। सभी का उपकार करे। अपने मन को रखकर नित्यप्रति दान देने वाला हो किन्तु स्वयं दान

लेने से बचता रहे। सभी प्राणियों पर दया करने वाला हो। इन सभी आचरणों का उल्लेख मनुस्मृति में किया गया है।

ऐसे वनवासी के अनुभव और निर्बाध-चिन्तन से समाज को तो लाभ होता ही था साथ ही वह स्वयं भी इस तपश्चर्या के द्वारा सम्पूर्ण त्याग के लिये प्रस्तुत होता था।

(4) **अभ्यास आश्रम**—वानप्रस्थ आश्रम में उपनिषद् और स्मृतियों का अध्ययन करने के पश्चात् आत्म के पश्चात् आत्म-संयम के साथ 25 वर्ष बाद व्यक्तिगत संन्यास आश्रम में प्रवेश करता है इसमें प्रवेश करने के पूर्व निम्नलिखित प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी—

"पुत्रैषणा वित्तेषणा लोकेषणा मया।
परित्यक्ता मन्तः सर्वभूतेभ्योऽमयमस्तु ॥"

अर्थात् आयु के तृतीय भाग को यथोचित रीति से वन में व्यतीत कर आयु के चतुर्थ भाग से सभी संगों को त्याग कर परिव्राज्य अर्थात् संन्यासी हो जाय।

वायु-पुराण के संन्यासी के निम्नलिखित कर्त्तव्य बताए गये हैं—

आसन्नमुसाने भैद्धयं अस्तेयं शोचमेव च।
अप्रमादोऽव्यापश्र्च दया मतीष च क्षमा ॥
अक्रोधी गुरु शुश्रुषा सत्यं च दशम् स्मृतम्।
दशलक्षण को हनेष धर्म प्रीक्तः स्वयंमुवा ॥

अर्थात् संन्यासी के दस कर्त्तव्य होते हैं—(1) भिक्षावरण से भोजन प्राप्त करना, (2) चोरी न करना, (3) बाह्य एवं अभ्यन्तर पवित्रता रखना, (4) प्रसादी न होना, (5) ब्रह्मचर्य का पालन करना, (6) गुरु की सेवा करना, (7) प्राणियों के लिये क्षमाशील होना, (8) क्रोध न करना, (9) गुरु की सेवा करना, (10) सत्य बोलना। मनु महाराज ने दैनिक आचरण से सम्बन्धित संन्यासी के लिये विशेष बातें बतलायी हैं—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पाद वस्त्रपूतं जलं पिवेत्
सत्यपूतां वेदप्राच मनः पूतः समाचरेत ॥

अर्थात् संन्यासी को अपने ऊपर सब प्रकार का संयम रखना चाहिये। इसे नीची दृष्टि करके चलना चाहिये, वस्त्र से छानकर पानी पीना चाहिए। सत्य से पवित्र करके वाणी का प्रयोग करना चाहिये एवं मन से पूर्ण और पवित्र होकर आचरण करना चाहिए।

संन्यास आश्रम एक प्रकार का व्रत है जो प्रत्येक संन्यासी द्वारा पालन किया जाना चाहिये। ईश्वर में लीन होकर मोक्ष की कामना करनी चाहिए।

आश्रम अवस्था का महत्व—भारतीय आश्रम-व्यवस्था व्यष्टि और समष्टि दोनों के लिये उपयोगी थी। व्यक्ति के लिये तो इसका महत्व था ही साथ ही समाज भी इससे लाभान्वित होता था।

(अ) **व्यक्तिगत महत्व**—आश्रम-व्यवस्था व्यक्ति को आत्म-संयम, आत्म-

नियन्त्रण, क्षमा इन्द्रिय-निग्रह आदि की शिक्षा प्रदान करती थी। आत्म-संयम और आत्म-नियन्त्रण का पाठ इस व्यवस्था द्वारा ही पढ़ाया जा सकता था।

आश्रम-व्यवस्था का सबसे बड़ा महत्व यह था कि यह व्यवस्था पुरुषार्थ तथा त्रिगुणों—धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की साधना के लिये अवसर देती थी।

जैसे पहले लिखा जा चुका है कि व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है। मोक्ष का अर्थ है अपनी आत्मा को परमात्मा से मिला देना। इस व्यवस्था द्वारा ही व्यक्ति को इस परम लक्ष्य के प्राप्त करने में सहायता मिलती थी।

(ब) सामाजिक महत्व—आश्रम-व्यवस्था का सामाजिक महत्व भी था। व्यक्ति का जीवन विभिन्न आश्रमों में बाँध दिया गया था, इसलिये समाज में विप्लव के दर्शन नहीं होते थे। साथ ही समाज का ढाँचा सुचारु रूप से चलता था। गृहस्थ का यह कर्त्तव्य था कि वह अन्य आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों को आश्रय प्रदान करे। मनु ने स्पष्ट कहा है, 'जिस प्रकार जन्तु वायु के सहारे जीवित हैं उसी प्रकार सब प्राणी गृहस्थ आश्रम से जीवन धारण करते हैं। जैसे बड़ी तथा छोटी नदियाँ समुद्र में जाकर स्थिर होती हैं वैसे ही तीनों आश्रम गृहस्थ आश्रम में स्थिति प्राप्त करते हैं।''

इस आश्रम-व्यवस्था के फलस्वरूप समाज में होड की भावना का भीषण रूप दृष्टिगत नहीं होता था। उस समय व्यक्ति में कटुता की भावना न थी और आधुनिक समाज की भाँति प्राचीन समाज अन्धा होकर नहीं दौड़ रहा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आश्रम-व्यवस्था प्राचीन भारतीय आर्य समाज की रीढ़ थी। इस व्यवस्था को अपना ही भारतीय आर्य इतनी अधिक उन्नति कर सकें कि हम भारतीय आज भी बड़े गौरव के साथ कहते हैं कि हम आर्यों के वंशज हैं, जिनकी सभ्यता और संस्कृति अत्यन्त उच्च-कोटि की थी।

●

4

संस्कार

प्रश्न (1) संस्कार से आप क्या समझते हैं? हिन्दू संस्कारों के उद्देश्यों का विवेचन कीजिये और विभिन्न संस्कारों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

अथवा

प्रमुख संस्कारों का उल्लेख कीजिए और संस्कार के महत्व की विवेचना कीजिये।

अथवा

विभिन्न संस्कारों का विवेचन कीजिए और उनके महत्व पर प्रकाश डालिए ।

प्राचीन भारतीय जन-जीवन संस्कारों से बँधा हुआ है। "संस्कार" व्यक्ति को सुसंगठित और अनुशासित करने के विभिन्न उपाय थे जिससे कि वह समाज में रहकर सुखमय जीवन व्यतीत कर सके। उनसे व्यक्ति और समाज दोनों का ही हित होता था। संस्कार धार्मिक एवं कर्मकाण्ड कार्यों के रूप में जन्म से मरण-पर्यन्त किये जाते थे। इनका उद्देश्य केवल मात्र मानव की भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति ही नहीं था, बल्कि उसको शुद्ध करना ही था।

संस्कार का अर्थ—हिन्दुओं के विविध संस्कारों को समझने से पूर्व सर्वप्रथम 'संस्कार' का शाब्दिक अर्थ समझना आवश्यक है। संस्कार के अनेक अर्थ हैं जैसे—पूर्ण करना, परिमार्जित करना, आत्म-प्रजनन का गुण, स्मृति-चिह्न, पवित्र करने वाला अनुष्ठान इत्यादि। किन्तु हिन्दू समाज के सन्दर्भ में, संस्कार का अभिप्राय उस क्रिया से है जिससे शुद्धता प्राप्त हो और जिसके फलस्वरूप शिक्षा-दीक्षा के अनन्तर, व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो। वस्तुत: व्यक्ति का समाज के अनुरूप विकसित होना आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के हेतु हिन्दू समाज में संस्कार को एक साधन रूप में अपनाया गया है जो मनुष्य के भौतिक, अभौतिक पक्षों से सम्बन्धित है। इनके द्वारा व्यक्ति के समाजीकरण में सहायता मिलती है और उसमें श्रम, गुण तथा कर्म के प्रति निष्ठा प्रस्फुटित होती है। संस्कार प्राय: विश्व के सभी ममाजों में प्रचलित हैं। मुसलमानों में सुन्नत' तथा ईसाईयों में 'बपतिस्सा' प्रचलित है, परन्तु हिन्दू समाज के संस्कारों की अपनी विशिष्टता है। ये व्यक्ति की आयु कर्म तथा आश्रम आदि से सम्बन्धित रहे हैं।

हिन्दू समाज में संस्कारों को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था। संस्कार को धर्म का ही एक अंग माना जाता था। जैमिनी के अनुसार, "संस्कार वह क्रिया है जिसके करने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य हो जाता है।" तन्त्रावार्तिक के अनुसार, "संस्कार वे क्रियाएँ तथा रीतियाँ हैं जिनसे योग्यता प्राप्त होती है।" वीर मित्रोदय के अनुसार, "संस्कार वह योग्यता है, जो शास्त्र-सम्मत क्रियाओं को करने में उत्पन्न होती हैं।" दूसरे शब्दों में संस्कार का अभियाय उन धार्मिक क्रियाओं तथा उस मानसिक व बौद्धिक परिवार से है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से विकसित कर सके। इसके अतिरिक्त इसके अन्तर्गत धार्मिक विधि-विधान तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट है। यह एक ऐसा कृत्य है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पन्न किया जाता था। इसके द्वारा व्यक्ति को अपने शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास का अवसर मिलता है :

संस्कारों का उद्देश्य—हिन्दू समाज की भाँति, हिन्दू संस्कारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अत्यन्त प्राचीन है। अत: हिन्दू संस्कारों के क्या निश्चित उद्देश्य हैं, इस सम्बन्ध में अधिकारपूर्ण ढंग से कुछ कहना कठिन है। मनुस्मृति के अनुसार, शुद्धिकारक हवन, चूड़ाकरण, मौञ्जी बन्धन (यज्ञोपवीत) संस्कारों में गर्भाशय से उत्पन्न दोष दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य के अनुसार संस्कार द्वारा बीज

गर्भ से उत्पन्न दोष दूर हो जाते हैं। इनकी व्यावहारिक उपयोगिता को दृष्टि में रखकर इनके कुछ उद्देश्यों का विवेचन किया जा सकता है। हिन्दू संस्कार हिन्दू धर्म के अंग हैं। धर्म का उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज को प्रत्येक दृष्टि से विकसित करना है। संक्षेप में हम संस्कारों के उद्देश्यों को निम्नलिखित विभागों में व्यक्त कर सकते हैं :—

(1) **व्यक्तित्व को विकसित करना**—हिन्दू संस्कारों का प्रमुख उद्देश्य, व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्णरूप से विकसित करना है, हिन्दू धर्म में व्यक्तित्व के विकास की सहज स्वतन्त्रता की व्यवस्था नहीं है। यह व्यक्ति की विशेष आदतों के अनुरूप विकसित करता है। किन्तु व्यक्ति का व्यक्तित्व अत्यन्त व्यापक होता है। उसके अनेक पक्ष होते हैं जैसे—शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक इत्यादि। अतः हिन्दुओं के सोलह संस्कार व्यक्तित्व के किसी न किसी पक्ष से सम्बन्धित होते हैं और उसे विकसित करने में योग देते हैं।

(2) **भौतिक सम्पन्नता की वृद्धि**—हिन्दू संस्कारों का द्वितीय प्रयोजन व्यक्ति को भौतिक समृद्धि को प्राप्त करने में समर्थ बनाना है। हिन्दुओं का यह दृढ़ विश्वास रहा है कि विविध संस्कारों को सम्पन्न करने से दैवी आशीर्वाद प्राप्त होता है और मनोकामना पूर्ण होती है। अतः संस्कारों को सम्पन्न करने से दैवी आशीर्वाद प्राप्त होता है और मनोकामना पूर्ण होती हैं। अतः संस्कारों को सम्पन्न करने में अभीष्ट की प्राप्ति की भावना निहित है।

(3) **आध्यात्मिक अभ्युदय**—हिन्दू धर्म का उद्देश्य भौतिक प्रगति के अतिरिक्त व्यक्ति को आध्यात्मिक प्रगति की दिशा में भी उन्मुख करता है। संस्कार इस लक्ष्य की पूर्ति के उपकरण मात्र हैं। संस्कारों द्वारा व्यक्ति को आध्यात्मिक ध्येय की दशा में अनुप्राणित किया जाता है। संस्कारयुक्त व्यक्ति सांसारिक जीवन में ही तल्लीन नहीं रहता। वह भौतिकता तथा आध्यात्मिकता के बीच समन्वय स्थापित करता है।

हिन्दू-धर्म के विभिन्न संस्कार—हिन्दू संस्कारों का स्वरूप सत्ता तथा संख्या के विषय में बड़ा मतभेद रहा है। गृह्य सूत्र के अनुसार संस्कारों की संख्या 11 है। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार संस्कारों की संख्या 40 है। यथा—गर्भाधान, पुँसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्त्ता, नामकरण, अन्नप्रासन, चौल, उपनयन—वेद के 4 व्रत, स्नान, विवाह, पांचमहायज्ञ 7 पाकयज्ञ, 7 हविर्यज्ञ, 7 सोमयज्ञ। बैखानस के अनुसार शरीर संस्कार 18 होते हैं। मनु के अनुसार मुख्य संस्कार हैं—गर्भाधान, जातिकर्म, नामकरण, अन्नप्रासन, चूडाकरण, यज्ञोपवीत, केशान्त, विवाह तथा अन्त्येष्टि। स्मृतिचन्द्रिका में 16 संस्कारों का उल्लेख किया गया है। यहाँ हम शोड्ष संस्कारों का उल्लेख कर रहे हैं :

गर्भाधान संस्कार—गर्भाधान हर व्यक्ति का प्रथम संस्कार है। अर्थववेद में गर्भाधान संस्कार का कुछ उल्लेख मिलता है। अश्वलायन गृहसूत्र में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि अर्थववेद में गर्भाधान संस्कार का वर्णन है। शोखायन गृहसूत्र में लिखा है कि विवाह की चौथी रात्रि में पति पत्नी के साथ सम्भोग करता है और कहता है कि 'जिस प्रकार पृथ्वी में अग्नि है, उसी प्रकार एक नर भ्रूण गर्भा-

शय में प्रवेश करे·········यह दस मास के बाद एक पुरुष उत्पन्न हो।' पारस्कर गृह-सूत्र में भी यही बात लिखी मिलती है। पहले हर कार्य को धार्मिक कृत्य माना जाता था यही कारण है कि सम्भोग करने के समय भी वैदिक मन्त्रों का उच्चारण अनिवार्य था।

मनु याज्ञवल्क्य तथा वैखानस का कहना है कि लड़के की उन्नति के लिये मासिक धर्म के चौथे दिन के बाद सम दिनों में तथा लड़की के लिये विषम दिनों में सम्भोग करना चाहिए। रजस्वला स्त्री को अगराग लेप करना चाहिए। किसी दूसरी स्त्री अथवा शूद्र से बातचीत नहीं करनी चाहिए। पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष को देखना भी नहीं चाहिये। क्योंकि स्नान के बाद वह जिस किसी को भी देखेगी उसी के समान उसकी सन्तान भी होगी।

शौनक ने गर्भाधान संस्कार की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिस कार्य को करने से स्त्री प्रदत्त शुक्र धारण करती है उसे गर्भाधान कहते हैं। हिन्दू धर्मशास्त्रों में यह लिखा गया है कि ऋतु काल में अपनी पत्नी से सहवास करना प्रत्येक विवाहित पुरुष का कर्त्तव्य है। पराशर का कहना है कि स्वस्थ रहते हुए भी जो व्यक्ति ऋतु-काल में अपनी पत्नी के पास नहीं जाता वह भ्रूण हत्या का दोषी होना है। स्त्री के लिये कहा गया है कि जो पत्नी स्नान के बाद पति के पास नहीं जाती वह अन्य में शुकरी होती है।

सभी धर्मशास्त्र के निर्माताओं में इस बात का मतैक्य नहीं है कि गर्भाधान भ्रूण स्थित बच्चे का संस्कार है या कि स्त्री का संस्कार है। लेकिन स्मृति चन्द्रिका तथा संस्कार तत्व में लिखा हुआ है कि गर्भाधान संस्कार को होम के रूप में नहीं मानना चाहिए। मात्र धर्म सिन्धु का कहना है कि जब मासिक धर्म के प्रथम प्रकटी-करण पर गर्भाधान हो जाता है संस्कार का सम्पादन गृह अग्नि में होना चाहिए। लेकिन दूसरे मासिक धर्म पर जब सम्भोग होता है तो होम नहीं किया जाता। संस्कार प्रकाश का यह कहना है कि पति के अनुपस्थित रहने पर गर्भाधान को छोड़-कर सभी संस्कार किसी सम्बन्धी द्वारा सम्पन्न किये जाने चाहिए।

(2) **पुंसवन-संस्कार**—गर्भाधान संस्कार के दूसरे अथवा तीसरे माह गर्भस्थ की पुष्टि के लिये पुंसवन संस्कार किया जाता है। स्त्री के लिये अनेक प्रकार के आहार-विहार का विधान किया जाता है जिससे कि वह सावधान रहे और गर्भ में स्थित शिशु पर अच्छा प्रभाव पड़े। इस संस्कार में स्त्री से कहा जाता है कि—

'अवीरो जायता पुत्रस्ते दशमस्य'

अर्थात् 'दश मास तेरे गर्भ में रहने वाला वीर पुत्र उत्पन्न हो।'

श्री प्रभू के अनुसार—इस संस्कार का उद्देश्य गर्भरक्षण करने वाले देवी और देतवाओं को प्रसन्न करना है। वंश को आगे बढ़ाने वाले पुत्र की कामना की जाती है।

पुंसवन शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में मिलता है। इसका शाब्दिक अर्थ है, 'लड़के को जन्म देना।' इस संस्कार का सम्पादन इसलिये किया गया जिससे कि बीर पुत्र रत्न की प्राप्ति हो। संस्कार प्रकाश में ऐसा लिखा है कि पुंसवन पुत्र

प्राप्ति के लिए है। अश्वलायन गृह्य सूत्र का कहना है कि 'गर्भ धारण के तीसरे महीने इस संस्कार का सम्पादन करना चाहिए। पुनर्वसु नक्षत्र में उपवास कर लेने के बाद स्त्री अपने रंग के बछड़े वाली गाय के दही के साथ दो बीज सेम तथा एक एक दाना जौ खाती है। यह क्रिया वह तीन बार करती है।' स्त्री का पति उससे तीन बार यह प्रश्न करता है कि—

'तुम क्या पी रही हो।'

तब स्त्री उत्तर देती है—

'पुंसवन'

अर्थात् (पुत्र की प्राप्ति)

दूसरे स्थान पर लिखा है कि इस संस्कार में स्त्री नहाने के बाद नये वस्त्र धारण करती है और व्रत रखती है। रात में बरगद की छाल का रस नाके के दाहिने छेद में मन्त्र का उच्चारण करते हुए डालना चाहिए। लोगों का कहना है कि प्रत्येक सन्तान के लिए ऐसा करना चाहिए। जब कि कुछ ग्रन्थ यह कहते हैं कि केवल पहली सन्तान के लिए ही ऐसा करना चाहिए।

पुंसवन संस्कार कब किया जाय इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं कि आपस्तम्ब गृहसूत्र, हिरण्यकेशि गृहसूत्र तथा भारद्वाज गृहसूत्र में ऐसा उल्लेख मिलता है कि पुंसवन संस्कार का सम्पादन सीमन्तोन्नयन के उपरान्त करना चाहिए। याज्ञवल्क्य, पारस्कर, विष्णु धर्मसूत्र इत्यादि में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जब भ्रूण हिलने-डुलने लगता है जब यह क्रिया करनी चाहिये। काठक गृहसूत्र के अनुसार गर्भाधान के पाँचवें तथा मानव गृहसूत्र के अनुसार आठवें मास 'कबाद' पुंसवन संस्कार किया जाना चाहिये। डा० काणे का कहना है कि 'पुंसवन संस्कार' में धार्मिक प्रतीकात्मक औषधि सम्बन्धी तत्व पाये जाते हैं।

(3) **सीमन्तोन्नयन संस्कार**—सीमन्तोन्नयन का अर्थ है 'स्त्री के केशों को ऊपर विभाजित करना'। इस संस्कार का उल्लेख आश्वलायन, शांखायन, हिरण्यकेशीय, बोधायन, भारद्वाज, गोमिल खादिर, पारस्कर काठक तथा वैखानस आदि गृहसूत्रों में प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य तथा व्यास मुनि ने इस संस्कार को सीमांत संस्कार के नाम से सम्बोधित किया है।

आपस्तम्ब गृहसूत्र और भारद्वाज गृह्यसूत्र में इसको पुन्सवन से पहले का का संस्कार स्वीकार किया है। इस संस्कार का प्रमुख उद्देश्य यह है कि स्त्री को दुष्ट शक्तियों से बचाना जाय। आश्वलायन का कहना है कि गर्भाधान के चतुर्थमास में सीमन्तोन्नयन कृत्य करना चाहिये। इस संस्कार के आरम्भ में मातृपूजन किया जाता है। इसके बाद स्त्री अग्निशिखा के पश्चिम में आसन पर बैठती है और पति उदुम्बर के समसंख्यक कच्चे फलों के गुच्छे, कुश के तीनों गुच्छों, तीन साही काटों के साथ 'भूर्भवः स्वः' का मन्त्र पाठ करते हुए पत्नी के बालों को ऊपर की ओर संवारता है तथा उदुम्बर की शाखा गले में बाँध देता है। इसके बाद पति-पत्नी से चावल की राशि, तिल और घी की तरफ देखते तथा सन्तति पशु सौभाग्य और अपने दीर्घ आयु की कामना के लिये करता था।

डा० काणे का कहना है कि "इस संस्कार का केवल सामाजिक तथा उत्सविक महत्व है क्योंकि यह केवल गर्भिणी स्त्री को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है गृह्यसूत्रों में इसके सम्पादन के काल के बारे में एकमत नहीं है जैसे काठक गृह्यसूत्र में तीसरे, मानव गृह्यसूत्र में तीसरे, छठे तथा आठवें, आश्वलायन गृह्यसूत्र में चौथे, तथा पारस्कर याज्ञवल्क्य और विष्णु धर्मसूत्र में इसके लिये आठवें मास को उचित ठहराया है।

शंखमन ने स्मृति चन्द्रिका में लिखा है, "सीमन्तोन्नयन संस्कार भ्रूण के हिलने-डुलने से लेकर जन्म के समय तक किया जा सकता है" हिण्यकेशि का कहना है, "इस संस्कार को किसी गोलाकार स्थान पर बैठकर सम्पादित करना चाहिये। लेकिन पारस्कर और आश्वलायन का कहना है कि स्त्री को बैल के चमड़े पर बैठना चाहिए और पारस्कर ने मुलायम आसन पर बैठने की बात कही है।

पके चावल (भात) पर घी तथा तिल रखकर उसी की आहुति दी जाती है तथा गर्भिणी स्त्री से प्रश्न किया जाता है 'तुम क्या देख रही हो' तो स्त्री जवाब देती है 'मैं सन्तान देख रही हूँ।' मनु ने इस संसार का उल्लेख कहीं नहीं किया है।

बोधायन पारस्कर का मत है कि केवल एक गर्भाधान के समय यह करना चाहिए लेकिन अन्य लोग कहते हैं कि सभी गर्भाधानों में यह संस्कार किया जाना चाहिए।

(4) **जाति कर्म संस्कार**—पुत्र जन्म के उपरान्त यह सँस्कार किया जाता है। तैत्तरीय संहिता के अनुसार 'जब किसी के पुत्र पैदा हो तो उसे 22 विभिन्न पात्रों में पकी हुई रोटी को बल्कि वैश्वानगर को देनी चाहिये। वह पुत्र जिसके लिए यह कृत्य किया जाता है, पवित्र-गौरव पूर्ण, धन-धान्य से परिपूर्ण तथा पशुओं वाला होता है।' शवर का कहना है कि 'इसे जन्म से दस दिनों के बाद पूर्णमासी से अमावस्या के दिन करना चाहिए। वृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि 'पुत्र उत्पन्न होने के बाद अग्नि प्रज्जवलित की जाती है, इसके बाद बच्चे को किसी की गोद में रखकर, दही को घी में मिलाकर उसको काँसे के पात्र में रखकर, मंत्र उच्चारण करके बच्चे के कान में तीन बार ध्वनि की जाती है, इसके पश्चात् दही, घृत तथा मधु को मिश्रित करके सीने के चम्मच से बच्चों को चटा दिया जाता है। डा० पी० वी० काणे का कहना है कि 'वृहदारण्यकोपनिषद् में जातकर्म के निम्नलिखित भाग हैं—

(1) दही और घी का मंत्रों के साथ होम।
(2) बालक के दाहिने कान में वाक् शब्द को तीन बार कहना।
(3) सोने के चम्मच से बालक को दही, एवं घी चटाना।
(4) बच्चे को गुप्त नाम देना।
(5) बच्चे को मां के स्तर पर रखना।
(6) माता को मंत्रों द्वारा सम्बोधित करना।

शतपथ ब्राह्मण में एक बात और जोड़ दी गई है—

(1) तीन ब्राह्मणों द्वारा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर तथा ऊपर की दिशाओं में बालक के ऊपर सांस लेना।

इस संस्कार में नीचे लिखे कृत्य भी आवश्यक हैं—

(1) होम
(2) मेधाजनन
(3) आयुष्य
(4) असाँर्भमर्शन
(5) मात्रभिमंत्रणा
(6) पाँच ब्राह्मण स्थापन
(7) स्तन प्रतिधान
(8) देशाभिमन्त्रण
(9) बालक को नाम देना
(10) भूत प्रेतों को भगाना

(5) **नामकरण संस्कार**—इस संस्कार का उद्देश्य है बालक को एक नाम देना। उसका नाम देवताओं के नाम से सम्बन्धित कर दिया जाता है। विभिन्न धर्म-ग्रंथों में इस संस्कार का विधिवत उल्लेख किया गया है। साधारण रूप से विचारकों का कथन है कि यह संस्कार जन्म के 10वें अथवा 12वें दिन होना चाहिए। डा० काणे ने लिखा है कि 'आधुनिक काल में नामकरण जन्म के बारहवें दिन बिना किसी वैदिक उच्चारण के कर लिया जाता है। स्त्रियाँ एकत्र होती हैं और पुरुषों से परामर्श करके नाम घोषित कर देती है कहीं-कहीं अब भी यह संस्कार विधिवत किया जाता है किन्तु अब इनका प्रचलन एक प्रकार से उठ गया है।

शामण का मत है कि संस्कार के समय शिशु के चार नाम रखे जाते हैं।

(1) नक्षत्र नाम,

(2) गुप्त नाम,

(3) पुकारने वाला नाम,

(4) कोई यज्ञ आदि सम्पादित करने वाला नाम।

मनु ने नामकरण के सम्बन्ध में दो नियमों का उल्लेल किया है।

(1) ब्राह्मणों तथा अन्य वर्णों के नाम के साथ एक उप पद हो जिससे प्रसन्नता रक्षा, पुष्टि एवं पेशा का संकेत मिले। धर्म-शास्त्र के लेखकों ने विधिवत यह संस्कार करने का आदेश दिया है। बच्चे को गोद में ले माता-पति के दाहिने बैठती है, धान की भूसी कांसे के पात्र में छिड़ककर स्वर्ण की लेखनी से 'श्री गणेशाय-नम:' लिखने के पश्चात् बालक के चार नामों को लिखती है, जैसे कुछ देवता का नाम, मास का नाम, व्यावहारिक नाम, नक्षत्र नाम। किसी-किसी स्थान पर लिखा है कि पिता बालक के कान में कहता है कि 'हे पुत्र तुम कुल देवता का भक्त है और तेरा नाम·········है। तू अमुक मास में उत्पन्न हुआ है अतः तेरा नाम·········है। तूने इस नक्षत्र को जन्म लिया है अतः तेरा नाम·········है तथा तेरा लौकिक नाम ·········है। इस संस्कार के समय ब्राह्मणों तथा अन्य अतिथियों को भोजन कराया जाता है।

(2) सभी वर्गों और व्यक्तियों का नाम शुभ सूचक ही रखा जाना चाहिये।

(6) **निष्क्रमण संस्कार**—पारस्कर ने गृह्यसूत्र में जन्म के चतुर्थ मास में निष्क्रमण संस्कार का विधान करने को कहा है। इस अवसर पर बालक को स्वच्छ पानी से नहला कर उसको सुन्दर वस्त्र पहना कर यज्ञवेदी के पास ले जाया जाता है। यज्ञ होने के उपरान्त उसे थोड़ी देर तक शुद्ध वायु में भ्रमण कराया जाता है। दिन में सूर्य तथा रात्रि में चंद्रमा के दर्शन कराए जाते हैं। गोमिल, खदिश, बोधायन, मानव, तथा काठक सूत्रों में इसका वर्णन मिलता है। अधिकांश ग्रन्थों के अनुसार इसे जन्म के चौथे मास में सम्पादित किया जाना चाहिए। एक पुराण के अनुसार इसे जन्म के बारहवें दिन या चौथे मास में कर देना चाहिए। इस संस्कार में सर्वप्रथम बच्चे को सूर्य का दर्शन कराया जाता है और उसको घर के बाहर निकाला जाता है। पारस्कर गृह्यसूत्र में लिखा है कि 'पिता पुत्र को सूर्य की ओर दिखाता है और मंत्रोच्चारण करता है।' ब्राह्मणों के भोजन तथा शुभसूचक श्लोकों के उच्चारण का विधान है।

(7) **अन्नप्रासन संस्कार**—स्मृतियों में इस संस्कार के निमित्त छठा महीना निश्चित किया गया है। लेकिन आश्वलायन, शांखायन, आपस्तम्ब पारस्कर, काठक, भारद्वाज, मानव तथा वैसानख गृह्यसूत्रों में इस पर पर्याप्त उल्लेख किया गया है। काठक गृहसूत्र छठे मास का समर्थन करता है, उस समय तक बच्चे का प्रथम दांत, निकल आता है। शांखायन गृह्यसूत्र में लिखा है कि पिता को बकरे, तीतर अथवा मछली का मांस या भात बनाकर दही, घी तथा मधु में मिलाकर भूः भुवः स्वः के उच्चारण के साथ बच्चे को खिलाना चाहिये। ऊपर जिन कथनों का उल्लेख किया गया है वे पुष्टता, पुत, प्रकाश, तीक्ष्णता, धनधान्य के प्रतीक हैं। अन्त में पिता अग्नि में आहुतियाँ डालता है तथा वेद के चार मन्त्रों को पढ़ाता है। शेष भोजन माता खा लेती है। इसमें भी ब्राह्मण तथा अतिथि को भोजन कराते हैं।

(8) **चूड़ाकर्म**—इस संस्कार को केशोच्छेदन या मुण्डन भी कहते हैं। जन्म के तृतीय वर्ष इसका सम्पादन किया जाता है। किसी शुभ मुहुर्त में मन्दिर, सरित अथवा तालाब के किनारे नाई बालों को काटता है। ये बाल सकौरे में रखे जाते हैं तथा जंगल में सकोरा गाढ़ दिया जाता है। बाल कट जाने पर सिर पर मक्खन, मलाई आदि लगाते हैं तथा बालक को स्वच्छ जल से नहला दिया जाता है। अन्त में यज्ञ वेदी पर गुरुजन और ब्राह्मण लोग बच्चे को आशीर्वाद देते हैं। कुछ गृह सूत्रों जैसे पारस्कार तथा वैखानस आदि का कहना है कि पारिवारिक परम्परा के अनुसार किसी भी समय यह संस्कार सम्पादित किया जा सकता है। कटे हुए केश गौशाला में भी गाढ़ने का विधान है। बौधायन के अनुसार प्रवरों की संख्या के बराबर ही केश छोड़ जाते हैं। डा० पी० वी० काणे ने हारीत का सन्दर्भ देते हुये लिखा है……"आजकल हिन्दुओं का एक लक्षण शिखा है। किन्तु कुछ शौकीन तबियत के लोग शिखा रखने में सकुचाते हैं।" देवल ऋषि ने लिखा है 'बिना यज्ञोपवीत तथा शिखा के कोई भी धार्मिक कृत्य नहीं करना चाहिये, इनके अभाव में किया गया धार्मिक कृत्य न के बराबर है।'

(9) **कर्णवेध**—यह संस्कार तीसरे या पांचवें वर्ष किया जाता है। बालक को नहलाते-धुलाते और अलंकारों से सजाते हैं स्वादिष्ट भोजन और खिलौने दे दिये जाते हैं। बालक का ध्यान इनमें बंट जाने पर पूर्व उपस्थित वैद्य अथवा स्वर्णकार

बालक के दोनों कानों में सूक्ष्म छेद कर देता है। कानों में बाली या सलाका जो स्वर्ण की होती है, पहना देता है।

(10) **उपनयन संस्कार**—उपनयन का शाब्दिक अर्थ 'पास से ले जाना' होता है। अब प्रश्न है किसके सन्निकट ? इसका उत्तर है आचार्य के सन्निकट। इस संस्कार का उल्लेख वेदों में भी किया गया है। ऋषि चरण से मुक्ति के लिये भी इस संस्कार की योजना की गई है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार ब्राह्मण कुमार का उपनयन आठवें वर्ष, क्षत्रियों का 11 वें वर्ष और वैश्यों का बारहवें वर्ष होना चाहिये। महीनों में 5 या 6 महीने उसके लिये उपयुक्त माने गये हैं तथा नक्षत्रों में हस्त, चित्रा, स्वाति, पुष्य, घनिष्ठा, अस्विनी, मृग-शिखा, पुनर्वसु, श्रमण तथा रेवती उपयुक्त बताये गये हैं। ब्रह्मचारी को दो वस्त्र धारण करने की बात कही गई है। प्रथम ऊपरी भाग ढकने के लिये ओर दूसरा नोचे का भाग ढकने के लिये। डा० राजबली पाण्डे के शब्दों में 'इस संस्कार के द्वारा दीक्षित व्यक्तियों की गणना द्विजों में की जाती है।' संस्कारोपरांत व्यक्ति कठोर रूप से एक ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करके वेदाभ्यास करता था। ब्रह्मचारी के लिये गायत्री मन्त्र आवश्यक था। वह यज्ञोपवीत धारण करने लगता था। डा० पाण्डे का कहना है कि भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व ही उनमें यह संस्कार प्रचलित था।

अब तक ऊपर जितने संस्कारों का उल्लेख किया गया है उनमें उपनयन संस्कार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उपनयन दो संस्कारों के बीच का चौखट है। इस चौखट के पहले मनुष्य प्रकृत जीवधारी के रूप में रहते थे तथा इस चौखट के उस पार नैतिक, धार्मिक, और आध्यत्मिक संस्कार है।

सांस्कृतिक दृष्टि से उपनयन संस्कार का विशेष महत्व था। शिष्य गुरु के यहाँ अनुशासनमय जीवन बिना कर इस संस्कार के विषय में जानकारी प्राप्त करता था। उसको योग्य नागरिक बनाया जाता था और वह अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को समझने लगता था 'केवल हिन्दुओं में ही नहीं बल्कि अन्य जातियों और धर्मों में भी इस प्रकार का विधान पाया जाता था , वास्तव में यह एक प्रकार से धार्मिक दीक्षा की विधि थी।

बिना उपनयन के व्यक्ति शुद्ध होता था किन्तु इससे वह द्विज कहलाता था। इसके फलस्वरूप उसे समाज में विशेषाधिकार एवं सुविधाएँ मिलती थीं। तीनों उच्च वर्गों के लिये उपनयन संस्कार आवश्यक थे। वास्तव में यह एक प्रकार से हिन्दुओं का विशाल साहित्य भण्डार का प्रवेशपत्र था। इस संस्कार से शिक्षा का प्रसार और साहित्य की विशेष उन्नति हुई।

उपनयन संस्कार के समय गुरु शिष्य को जो शिक्षायें देते थे वह उसके जीवन की धरोहर बन जाती थी। उस समय आचार्य उनको आदेश देते थे, "जो ब्रह्मचारी है, बल ग्रहण करे, दिन में सयम न करे, वाक् संयम करे, आदि। उपनयन संस्कार के समय शिक्षा का भी प्रावधान था जिसके फलस्वरूप व्यक्ति विनम्रता की पाठ पढ़ते थे। उपनयन संस्कार के समय बालक को संयमित जीवन व्यतीत करने की भी शिक्षा दी जाती थी।

उपनयन के बाद द्वितीय जन्म हुआ माना जाता है। कुछ सभ्यताओं में मृत्यु हुए बिना दूसरे जन्म की सम्भावना नहीं दिखायी देती अतएव अंगच्छेद के द्वारा दूसरी मृत्यु करके नवीन प्रकार के जीवन में बालक को प्रवेश कराया जाता है।

हमारे समाज में जो भी ज्ञान है, अथवा पूर्व पुरुषों की जो भी धरोहर समाज को प्राप्त हैं, उसका हस्तान्तरण करना भी अति आवश्यक है। यदि हस्तान्तरण का कार्य न किया जाय तो यह ज्ञान और विज्ञान आगे आने वाली सन्तति को न प्राप्त हो सके। इस संस्कार द्वारा इन्हीं ज्ञान विज्ञानों को प्राप्त करने के लिये अवसर प्रदान किया जाता है जिससे कि व्यक्ति अपने जीवन को सफलतापूर्वक व्यतीत करने योग्य हो जाता है तथा अगले जीवन को भी पवित्र बनाने की तैयारी करता है।

यह कार्य चाहे सभ्य जाति हो अथवा असभ्य किसी न किसी रूप में इस मार्ग से गुजरती है। भले ही संस्कार के रूप में इसका पालन न किया जाता हो। क्योंकि इस संस्कार का जो लक्ष्य है वह मानव जीवन तथा सामाजिक जीवन के लिये विशेष महत्व का है।

इस संस्कार द्वारा व्यक्ति को संयमी जीवन बिताने के योग्य बनाया जाता है। उपवीत होकर व्यक्ति दूसरे जीवन में प्रवेश करता है। जिसका उपनयन होता है वह द्विज कहा जाता है। स्त्रियाँ तथा शूद्र संयम के योग्य नहीं समझे गये जिससे उसका उपनयन नहीं होता। उच्चतर जीवन में उनके प्रवेश की व्यवस्था नहीं की गयी इसलिये उनको द्विज नहीं कहा गया।

(11) **वेदारम्भ संस्कार**—इस संस्कार का अर्थ है कि गुरु के पास जाकर बालक का गायत्री मन्त्र के साथ चारों वेदों का अध्ययन प्रारम्भ करा दिया जाना। बालक कोपीन, उत्तरीय और एक कटिबद्ध धारण करता है। वह गुरु की देखरेख में रहकर वेद का अध्ययन करता है।

(12) **समावर्तन संस्कार**—इस संस्कार में बालक सांगोपांग वेद विद्या तथा पदार्थ विज्ञान का अध्ययन कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिये विद्यालय को छोड़ देता है। इसे दीक्षान्त संस्कार भी कहते हैं। स्नातक विद्यार्थी विद्यालय के वस्त्र को त्याग कर, दाढ़ी तथा मूँछ मुड़वाकर, स्नान आदि करके शरीर पर सुगंधित तेल लगाकर सुन्दर वस्त्र धारण करता है तथा दुपट्टा टोपी आदि।

हिन्दू संस्कारों का महत्व—हिन्दुओं के संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। संस्कारों की व्यापक योजना में व्यक्ति के जीवन को नियमबद्ध किया गया है। इनके द्वारा जीवन के परिष्कार और शुद्धि में सहायता मिलती है। व्यक्ति को भौतिक और आध्यात्मिक प्रगति में आगे का स्तर प्राप्त होता है। अनेक विद्वान् का यह मत है कि प्राचीन भारतीय जन-जीवन में अन्ध-विश्वास की जो भावना थी उसके फल-स्वरूप अनेक संस्कारों का जन्म हुआ। अवांछित प्रथाओं के निराकरण के लिये अपने संस्कारों ने अनेक हिन्दुओं ने अनेक साधनों का अवलम्बन किया। हिन्दुओं की यह भी मान्यता थी कि जीवन का प्रत्येक क्षण किसी न किसी देवता द्वारा अधीष्ठित है। अतएव प्रत्येक अवसर पर सांस्कृतीय व्यक्ति को आशीर्वाद देने के लिये उसी देवता का उद्बोधन किया जाता था। संस्कारों का भौतिक महत्व भी आध्यात्मिक

था। वे घरेलू कर्मकाण्ड के रूप में समझे जाते थे जिनके अनुष्ठान के समय घरेलू जीवन के सुख के हेतु सभी आवश्यक वस्तुओं की याचना देवताओं से की जाती थी। भारतीयों का यह विश्वास था कि आराधना और प्रार्थना के माध्यम से उनकी आकांक्षाओं और इच्छाओं को देवता जान लेते हैं। पशु संतान, सम्पत्ति और शक्ति एवं बुद्धि जीवन मे वृद्धि के साथ दीर्घ जीवन प्राप्त करते हैं।

ये संस्कार आत्माभिव्यक्ति के माध्यम भी थे। सुख दुःख को व्यक्त करने हेतु संस्कार का अनुष्ठान किया जाता था। पुत्र के जन्म के समय पिता को इसमें आनंद की प्राप्ति होती थी। इस आनन्द को प्रकट करने के लिये भी संस्कार की व्यवस्था थी। यह मनुष्य जीवन का सबसे शुभ अवसर है और इस समय हर्षातिरेक की अभिव्यक्ति के लिये विवाह संस्कार में अनेक कार्यों का विधान किया गया था।

संस्कारों का सांस्कृतिक प्रयोजन भी था। यह मान्यता थी कि अनेक प्रकार से संस्कारों को करने से शरीर की अपवित्रता दूर होती है और पैदा होते समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है और उसका संस्कार व परिमार्जन करना आवश्यक है। उपनयन के द्वारा वह देवता कहलाता है। वेदों के अध्ययन द्वारा वह विप्र बनता है और ब्रह्म के साक्षात्कार से उसे समाज में प्रविष्ट होने का प्रवेश-पत्र प्राप्त होता था। विद्यार्थी जीवन की समाप्ति और गृहस्थाश्रम में प्रवेश के हेतु इस संस्कार का अनुष्ठान करना आवश्यक माना जाता था। संस्कार स्वर्ग और मोक्ष के साधन भी माने जाते थे।

कालान्तर में संस्कारों के बौद्ध स्वरूप से उनका नैतिक पार्श्व प्रस्फुटित हुआ। संस्कारों को कभी भी अपने आप में साध्य नहीं माना गया बल्कि उसने फल फूलकर अनेक सद्‌गुणों के रूप में परिपक्व हो जाने की उपेक्षा की गयी। संस्कारों का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण एवं विकास था। संस्कारों की व्यवस्था इस प्रकार से की गई थी कि वे आरम्भ मे ही व्यक्ति के जीवन पर उचित प्रभाव डालें। यह संस्कार पथ-प्रदर्शक का कार्य करते थे और आयु के बढ़ने के साथ ही व्यक्ति के जीवन को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जाते थे। संस्कारों के द्वारा व्यक्ति का जीवन अनुशासित रहता था और उसकी शक्तियाँ सुनियोजित धारा में प्रवाहमान रहती थीं। वह स्वार्थ-वृत्ति को त्यागकर यह अनुभव करता था कि समाज के प्रति उसका बहुत बड़ा ऋण हो।

संस्कारों का आध्यात्मिक महत्व भी अत्यधिक था। वे अध्यात्मवाद को प्राप्त करने के साक्ष्य के रूप में थे। उनके द्वारा संस्कार व्यक्ति यह अनुभव करते थे कि सम्पूर्ण जीवन वास्तव में संस्कारमय है और सम्पूर्ण दैहित्य कार्य, आध्यात्मिक ध्येय से अनुप्राणित है। यही यह मार्ग था जिससे क्रियाशील सांसारिक जीवन का समन्वय आध्यात्मिक तत्वों के साथ स्थापित किया जा सकता था।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में संस्कारों का विशेष महत्व था। संस्कार बौद्धिक, सामाजिक, आध्यात्मिक उन्नति के साधन के रूप में अपनाये जाते थे। यद्यपि आधुनिक भारतीय समाज में इन संस्कारों का महत्व कम होता जा रहा है परन्तु प्राचीन व्यवस्था किसी न किसी रूप में अपनायी अवश्य जा रही है।

5

विवाह

प्रश्न—प्राचीन भारत में विवाह के आदर्शों का उल्लेख कीजिए और इसके प्रमुख स्वीकृत प्रकारों का वर्णन कीजिए।

अथवा

प्राचीन भारत की मान्यता प्राप्त विवाह पद्धतियों की विवेचना कीजिए।

अथवा

"हिन्दू विवाह एक संस्कार है'—इस कथन की विवेचना कीजिए।

परिचय—विवाह एक सर्वव्यापी संस्था है परन्तु हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में विवाह का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। हिन्दुओं में विवाह संस्कार सभी संस्कारों में प्रमुख है और यह आश्रम-व्यवस्था का केन्द्रीय तत्व है। इसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे पुरुषार्थों को पूरा किया जा सकता है। पाश्चात्य विचारकों ने विवाह को एक ऐसी संस्था के रूप में माना है जिसका उद्देश्य यौन सन्तुष्टि और सन्तान को जन्म देना मात्र है परन्तु हिन्दू धर्म में विवाह की एक दूसरी ही धारणा है।

हिन्दू विवाह का अर्थ—विवाह की परिभाषा करने के हेतु अनेक प्रयत्न किये गये हैं परन्तु हिन्दू विवाह के आदर्शों को किसी एक परिभाषा द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। इसके बाद भी एक संस्था के रूप में वेस्टमार्क ने विवाह को जिस रूप में परिभाषित किया है वह हिन्दू विवाह की कुछ विशेषताओं को अवश्य स्पष्ट करता है? इसके अनुसार, "विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जो प्रथा अथवा कानून के द्वारा स्वीकृत होता है और जिसमें दोनों पक्षों एवं उनसे उत्पन्न होने वाले बच्चों से अधिकारों और कर्त्तव्यों का समावेश होता है।" इस परिभाषा में हिन्दू विवाह की केवल दो विशेषताएँ, प्रथाओं का महत्व और जीवन साथियों के अधिकार तथा कर्त्तव्य की धुंधली सी आकृति देखने को मिलती है। यह परिभाषा हिन्दू विवाह को स्पष्ट नहीं करती।

वास्तव में हिन्दू विवाह एक संस्कार है। वह एक स्थायी कानून बन्धन न होकर जीवन-भर का धार्मिक बन्धन है जिसको तोड़ना हिन्दू सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध है। यह कोई संविदा न होकर संस्कार है जिसका उद्देश्य जीवन पर विभिन्न पुरुषार्थों की प्राप्ति का प्रयत्न करना है। पाश्चात्य विचारधारा के विपरीत हिन्दू विवाह में यौन सन्तुष्टि को महत्व नहीं दिया गया है। यहाँ तो यह मान लिया है,

"केवल शूद्र ही यौन-सन्तुष्टि के लिये विवाह सम्बन्ध स्थापित करते हैं।" हिन्दुओं में यौन सम्बन्धों का एकमात्र उद्देश्य पुत्र की प्राप्ति है जिससे धर्म कार्यों को पूरा किया जा सके। डा० प्रभु के अनुसार "हिन्दू विवाह सारतः एक संस्कार और औपचारिकता है जिसका होना गृहस्थाश्रम में प्रवेश होने के लिए अनिवार्य है।" मनु ने लिखा है कि, "स्त्रियों की सृष्टि माता बनने के लिए और पुरुषों की सृष्टि पिता बनने के लिए ही की गयी है।" इसलिए कहा गया है कि "धार्मिक कार्य पुरुषों को अपनी स्त्रियों के साथ ही करना चाहिए।" यही कारण है कि विवाह को हिन्दू विचारधारा के अनुसार एक संस्कार अथवा शरीर-संस्कार माना जाता है जिससे शरीर की शुद्धि होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि "हिन्दू विवाह पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये स्त्री और पुरुष का वह सांस्कृतिक मिलन है जिनका तोड़ना नियम विरुद्ध और अधार्मिक समझा जाता है।

हिन्दू विवाह के उद्देश्य—हिन्दू विवाह के उद्देश्य तथा आदर्श के बारे में धर्मशास्त्रों द्वारा अनेक मतों की प्रतिस्थापना की गयी है। ऋग्वेद के अनुसार, विवाह का उद्देश्य गृहस्थ होकर देवों के लिये यज्ञ करना तथा सन्तान उत्पन्न करना है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पति पत्नी के गर्भ के पुत्र के रूप में जन्म लेता है इस कारण स्त्री को 'जाया' कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार व्यक्ति तब तक अपूर्ण है जब तक कि विवाह करके सन्तान को जन्म नहीं देता। इसी कारण पत्नी को 'अर्धांगनी' कहा गया है। मनुस्मृति के अनुसार सन्तानोत्पत्ति धर्म, आनन्द, सेवा तथा पूर्वजों की स्वर्ग-प्राप्ति पर निर्भर है। उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम हिन्दू विवाह के उद्देश्यों को निम्न श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

(1) धर्म,

(2) प्रजा, और

(3) रति।

ये तीनों महत्ता के क्रम में रखे गये हैं। धर्म को सबसे प्रमुख माना गया है। और रति को सबसे कम महत्वपूर्ण माना गया है।

(1) **धर्म**—हिन्दू विवाह का प्रमुख उद्देश्य धर्म है। प्रत्येक मनुष्य का अपने जीवन में कुछ कर्त्तव्य है और विवाह इन कर्त्तव्यों को उचित ढंग से प्रतिपादित करने के लिए पत्नी की व्यवस्था करता है। पत्नी के बिना ये कार्य पूरे नहीं किये जा सकते। इन कर्त्तव्यों को 'यज्ञ' कहा गया है। जो संख्या में पाँच हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृ-यज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ।

ब्रह्मयज्ञ को पठन-पाठन के द्वारा पूर्ण किया जाता है। इस यज्ञ को पूर्ण करने के लिए ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर ऋषि और गुरुजन की सेवा करनी पड़ती है।

पितृयज्ञ को श्राद्ध के अवसर पर पितरों का तर्पण देकर पूरा किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति पर पितरों का ऋण होता है और इस ऋण से उऋण होने के लिए पुत्र उत्पन्न करना आवश्यक है जिसके लिए विवाह आवश्यक हो जाता है।

तीसरा यज्ञ देवयज्ञ होता है। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति पर देवयज्ञ होता है जिसका मोचन पति-पत्नी साथ बलि देकर तथा दान करके कर सकते हैं।

चौथा यज्ञ भूतयज्ञ होता है जिसे प्रेतात्माओं को भोजन आदि समर्पित करके किया जाता है।

पाँचवाँ यज्ञ नृयज्ञ होता है जिसे प्रेतात्माओं को भोजन आदि समर्पित करके किया जाता है।

हिन्दू विवाह वैदिक मंत्रों के उच्चारण के साथ पूर्ण किया जाता है। कपाड़िया कहते हैं कि "हिन्दू विवाह को इसलिए एक धार्मिक कृत्य समझा जाता है क्योंकि यह तभी पूर्ण समझा जाता है जब कुछ पवित्र मत्रों के द्वारा किन्हीं रीतियों का पालन किया जाय।"

ऋग्वेद के अनुसार विवाह का आदर्श गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर देवताओं के लिए यज्ञ करना और सन्तान उत्पन्न करना है। 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' के अनुसार विवाह के द्वारा ही मनुष्य धार्मिक अनुष्ठानों को करने के योग्य बनाता है क्योंकि जविवाहित पुरुष अपूर्ण रहता है। विवाह के द्वारा ही मनुष्यों को पुत्र प्राप्ति हो सकती है जो उसको नरक से बचाता है। मनु का मत है कि सन्तान धारण, धार्मिक आचारों का पालन, सेवा, श्रेष्ठ आनन्द और स्वर्ग-प्राप्ति स्त्री के बिना सम्भव नहीं, अतः विवाह आवश्यक है।

(2) **प्रजा सन्तप्ति**–हिन्दू विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तप्ति उत्पन्न करना है। पुत्र उत्पन्न करना हिन्दू विचारधारा के अनुसार अति आवश्यक है। मनुसहिता और महाभारत में दी गई व्यवस्था के अनुसार पुत्र का अर्थ है नरक (पुम्) में जाने से पिता की रक्षा करने वाला। पुत्र प्राप्ति और प्रजनन क्रिया को यौन संतुष्टि का परिणाम न मानकर उसे धर्म साधन कहा गया है, जिसके कारण मनुष्य को विवाह में यौन संतुष्टि से ऊपर उठने की प्रेरणा मिलती है। "वास्तव में विवाह का मुख्य आदर्श धर्म-पालन है क्योंकि प्रजा और रति भी धर्म पालन के अंग हैं।" (कपाड़िया)

मनु के अनुसार पुत्र-प्राप्ति इस संसार और अगले संसार दोनों में सुख का साधन समझा गया है। मनु ने लिखा है कि "केवल वह व्यक्ति ही पूर्ण व्यक्ति कहलाने योग्य है जिसके पास पत्नी और बच्चे।" अतएव प्रत्येक हिन्दू के लिए "विवाह' करना अनिवार्य माना गया है। विवाह अपने तथा पूर्वजों के प्रति एक कर्त्तव्य है।

महाभारत में एक कथा है जिसके अनुसार एक स्त्री बिना विवाह हुए ही तपस्या करने लगी, परन्तु नारद जी ने उससे कहा बिना विवाह द्वारा शरीर युद्ध किये उसे मोक्ष नहीं मिलेगा जो उसने अपने तप का आधा फल देकर भगवान से विवाह किया और फिर कहीं स्वर्ग को जा सकी। पुत्र का उत्पन्न होना आवश्यक है, क्योंकि बिना पुत्र के अनेक धर्म कार्य नहीं हो सकते—जैसे तर्पण, पिण्डदान तथा पितरों की शान्ति। ऐसा कहा जाता है कि जरत्कारू उग्र तपस्वी ऋषि थे, किन्तु अपने पितरों की दयनीय दशा देखकर विवाह किया और पुत्र उत्पन्न किया।

(3) रति—रति का अर्थ है यौन-क्रिया से प्राप्त आनन्द। रति का स्थान हिन्दू विवाह में सबसे गौण रखा गया है और यौन क्रिया का समाजीकरण ही विवाह का मुख्य आधार पर भी माना गया है। परन्तु साथ-ही-साथ यौन सन्तुष्टि ही उसका एक-मात्र उद्देश्य नहीं है। विवाह में रति के गौण स्थान को सिद्ध करने के लिए यह कहा गया है कि केवल शूद्र का ही विवाह इन्द्रिय सुख के लिए होता है क्योंकि शूद्र ही सांसारिक और दैहिक सुखों में लिप्त रहता है और उसके जीवन में कोई उच्चादर्श नहीं होते हैं।

हिन्दू विवाह को पवित्र माना गया है और अविच्छेद्य होता है। इसलिए पति-पत्नी विवाह को इच्छानुसार विच्छेद नहीं कर सकते हैं। यहा तक कि पति-पत्नी मृत्युपरान्त भी विवाह बन्धन में बंधे रहते हैं। अविच्छेद्यता के कारण ही पति-पत्नी के लिए आवश्यक हो जाता है कि वे पारस्परिक सामंजस्य घोषित करें व विवाह सफल बनाएँ। दाम्पत्य जीवन में संषर्घ की भावना को कोई ध्यान नहीं दिया जाता जिसे आज के पश्चिम के समाजशास्त्री महत्व देते हैं। पत्नी अर्धांगनी समझी जाती है और व्यक्ति के स्वार्थों को कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। इसी भावना से संयुक्त परिवार को बढ़ावा मिला। पत्नी और पति के, परे कोई अस्तित्व नहीं होता। 'सती' और 'पतिव्रत' की धारणाओं से सिद्ध होता है कि पत्नी-पति का एक रूप का मानी जाती थी, उसका अपना अलग कोई ध्यान नहीं था। पति-पत्नी एक रूप माने जाते थे।

अतः हिन्दू विवाह का एक धार्मिक गठबन्धन है जो मुस्लिम ईसाई विवाहों के पारस्परिक समझौते की भावना से परे है। पति-पत्नी मृत्युपरान्त भी एक बन्धन में बंधे माने जाते हैं। इसी कारण विधवा विवाह और तलाक की भावना हिन्दू धारणा के परे की बात मानी जाती है; हालांकि छोटी जातियों में ये प्रथाएँ पायी जाती थीं।

हिन्दू विवाह के प्रकार—हिन्दू धर्मसूत्रों, गृह्य सूत्रों और स्मृतियों में हिन्दू विवाह के आठ प्रकार बताए गए हैं परन्तु वरिष्ठ ने छः प्रकार के ही विवाहों को माना है। मनुस्मृति में लिखा है :—

ब्राह्मणो दैवस्तथेवार्षः प्रजापत्य स्तयासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पेशाचश्चाष्टमोअधमः ॥3-9॥

इस प्रकार मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाहों की चर्चा की है। ब्राह्म, दैव, आर्य, प्रजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। इनमें से प्रथम चार प्रकार के विवाहों को उत्तम माना गया है और ये 'धर्म विवाह' कहलाते हैं। अंतिम चार विवाहों को निकृष्ट माना गया है इसलिए उन्हें 'अधर्म विवाह' कहा गया है। प्रथम चार प्रकार के विवाहों में पिता या किसी अभिभावक द्वारा वर को कन्यादान किया जाता है। कन्या को अलंकारों तथा परिधानों से सुसज्जित कर वर को सौंपा जाता है।

(1) **ब्रह्म विवाह**—मनुस्मृति में ब्राह्म विवाह के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा गया है:—

"आच्छद्य चाचयित्वा च श्रुति शीलवते स्वयं ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ।।

अर्थात् कन्या को वस्त्र, अलंकार आदि से सुसज्जित करके विद्वान्, शीलवान वर को आमंत्रित करके कन्यादान करने का नाम ब्राह्म विवाह है । इस प्रकार के आवश्यक तत्व तीन हैं—माता-पिता की स्वीकृति, विवाह संस्कार का होना तथा दहेज का न देना, दहेज का न लेना इसलिए क्योंकि कन्या को केवल एक वस्त्र से अलंकृत करके उसका दान किया जाता है ।

(2) **प्रजापत्य विवाह**—सहोभी चरता धर्ममिति वाचानुभाष्य चः ।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्रजापत्यो विधि स्मृतः ।।

अर्थात् 'तुम दोनों मिलकर गृहस्थ धर्म का आचरण करना' यह कहकर वर की पूजा करके कन्यादान करना प्रजापत्य विवाह कहलाता है । 'सत्यार्थ प्रकाश' के अनुसार 'वर-वधू दोनों का विवाह धर्म की वृद्धि के लिए हो, यह कामना करना ही प्रजापत्य का आधार है ।

'ब्रह्म और प्रजापत्य-विवाह में हम अधिक अन्तर नहीं पाते । ब्राह्म और प्रजापत्य एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं । वशिष्ठ और आपस्तम्ब दो प्रारम्भिक लेखक थे और दोनों ने प्रजापत्य का बिल्कुल उल्लेख नहीं किया है, सम्भवतः इस विवाह को इस प्रकार बाद में जोड़ा गया है ।

(3) **आर्ष अथवा आर्य विवाह**—'आर्य विवाह के बारे में मनु ने लिखा है—
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ।।

अर्थात् पवित्र धर्म के निर्वाह का उद्देश्य से ऋषि से एक गाय और बैल अथवा दो जोड़े लेकर कन्या के माता-पिता से ऋषि की पत्नी के रूप में सौंप देते थे । ये वस्तुएँ कन्या मूल्य नहीं थीं, बल्कि ऋषि के गृहस्थ जीवन बिताने के निश्चय की सूचक थीं ।

डा० पी० के० आचार्य के अनुसार, आर्ष विवाह का सम्बन्ध ऋषि शब्द से है । बुद्धिमान सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से पिता-माता अपनी पुत्री का हाथ एक ऋषि के हाथ में देते थे और साथ ही साथ उसे गृहस्थ जीवन में बांधने के वास्ते पशु धन भी ।

(4) **दैव विवाह**—दैव विवाह के बारे में मनुस्मृति में लिखा है कि—

यज्ञेतु विनते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादनं दैव धर्म प्रचक्षते ।।

अर्थात् दैव विवाह में वस्त्र और अलंकार से सुसज्जित कन्या का दान उस यज्ञकर्ता 'ऋत्विज' को दिया जाता है जो किसी यज्ञशाला में किसी पुरोहित में कार्य को उचित रूप में पूरा करता है ।

अल्तेकर ने अपनी पुस्तक 'पोजीशन आफ दी मैन इण्डिया' में लिखा कि प्राचीन काल में गृहस्थ लोग सयम-सयम पर यज्ञ करवाते थे और उस समय

ऋषियों के साथ आए हुए नवयुवक पुरोहित बालकों में से किसी के साथ यजमान अपनी पुत्री का विवाह कर देता था। क्योंकि देवताओं के पूजा के समय इस प्रकार का विवाह सम्पन्न होता था. इसलिए इसे देव विवाह कहा गया है।

इस विवाह में तड़क-भड़क का समावेश है, दहेज का भी पुट है।

(5) **आसुर विवाह**—मनुस्मृति में आसुर विवाह के सम्बन्ध में लिखा है कि—

ज्ञातिभ्यो प्रविणं दत्वा कन्याए चैव शक्तितः।
कन्या प्रदानं स्वाच्छंद्यादासुरी धर्म उच्यते ॥

अर्थात् आसुर विवाह उसे कहते हैं जब विवाह के लिए इच्छुक व्यक्ति अपनी इच्छा से कन्या कुटुम्बियों या कन्या को धन देकर विवाह करता है। महाभारत काल में पाण्डु का माद्री के साथ विवाह इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है।

(6) **गांधर्व विवाह**—मनुस्मृति में गांधर्व विवाह के सम्बन्ध में लिखा है कि—

इच्छयान्योन्य संयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गांधर्व.स तु विज्ञेयो मैथुन्यः काम संभवतः ॥

अर्थात् गांधर्व विवाह उसे कहते हैं कि जो कन्या और वर के परस्पर प्रेम के फलस्वरूप होता है। इसमें वैवाहिक संस्कार कार्य सम्भोग के बाद पूर्ण किए जाते हैं।

इस प्रकार से विवाह में पुरुष और स्त्री दोनों इच्छानुसार पति-पत्नी चुन लेते हैं और पति-पत्नी के रूप में रहने लगते हैं और बाद में अपने परिवार और समाज से उसकी स्वीकृति लेते हैं।

'सत्यार्थ प्रकाश' के अनुसार, अधिनियम, असंयम किसी कारण से दोनों की इच्छा-पूर्वक वर-कन्या का परस्पर संयोग होना गान्धर्व विवाह है।

प्राचीन काल मे गांधर्व नामक की एक जाति थी जो अत्यन्त कामुक थी। उसके लिए कहा गया है—"स्त्रीकाम वे गन्धर्वाः"—अर्थात् स्त्री की कामना गन्धर्व लोगों की विशेषता है। यही कारण है कि कामवासना पर आश्रित इस प्रकार के विवाह को स्मृतिकारों ने 'गान्धर्व विवाह' का नाम दिया है।

गांधर्व विवाह के सम्बन्ध में दो प्रकार की धारणाएँ हैं—एक तो इसके समर्थन में और दूसरी इसके विरोध में। वात्स्यायन और बौधायन इस प्रथा के बहुत बड़े पोषक हैं। बौधायन के अनुसार यह विवाह-पुरुष-स्त्री की इच्छाओं पर आश्रित है इसलिए आदर्श है।

(7) **राक्षस विवाह**—राक्षस विवाह उस काल की प्रथा है, जबकि स्त्रियाँ कुछ का पारितोषिक मानी जाती थीं। मनुस्मृति में लिखा है :—

"हत्वा, छिदत्वा च भित्वा च क्रोशान्ति रुदतीं गृहात्।
प्रसहम् कन्या हरणं राक्षसी विधिरुच्ययं ॥"

अर्थात् राक्षस विवाह में विजेता कन्या पक्ष के लोगों को मार-काट कर उनका घर तोड़कर विलाप करती हुई कन्या को उसके घर से ही ले जाता है। श्रीकृष्ण का रुक्मणी से विवाह इसी प्रकार से हुआ था। इस विवाह को क्षत्रिय

विवाह भी कहते हैं क्योंकि क्षत्रिय लोग युद्ध करते और विजयी होने पर शत्रु की कन्याओं को भी पारितोषिक स्वरूप उठा ले जाते थे।

(1) **पैशाच विवाह**—मनु ने पैशाच विवाह के सम्बन्ध में निम्न विचार रखे हैं :—

"सुप्तां मत्ता वा रहा यमोपगच्छति ।
स पापिष्ठी विवाहनां पैशाचाष्टमोधमः ।।

अर्थात् सोई हुयी, शराब पीने से उन्मत्त स्त्री से विवाह करना ही पैशाच विवाह है।

मनु ने इसलिए विवाह को अधम और सबसे पापिष्ठ विवाह माना है। विवाह को वशिष्ठ और आपस्तम्ब ने इस प्रकार के विवाह की श्रेणी में ही रखने में आपत्ति की है। परन्तु मनु ने कुछ सामाजिक कारणों से विवाह की श्रेणी में रखा है।

हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार—हिन्दू विवाह के उद्देश्यों और स्वरूपों का जो उल्लेख हमने ऊपर किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह एक संविदा या स्थायी बन्धन न होकर धार्मिक संस्कार है जिसकी पूति प्रत्येक हिन्दू के लिए करना अनिवार्य है। संस्कार से तात्पर्य एक अनुष्ठान से है जिसके द्वारा मानव-जीवन की क्षमताओं का उद्घाटन होता है जो मानव को सामाजिक जीवन के हेतु बनाने का गुण प्रदान करता है एवं जिसके द्वारा व्यक्ति को कुछ विशेष सामाजिक स्तर प्रदान किया जाता है। इस दृष्टिकोण से हिन्दू विवाह वास्तव में एक संस्कार है क्योंकि यह धार्मिक क्रियाओं को माध्यम बनाकर जीवन को ऊँचा उठाता है और अनेक धार्मिक आदर्शों के द्वारा व्यक्ति के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है। यह व्यक्ति के सामाजिक जीवन के योग्य बनाने में योगदान देता है। हिन्दू विवाह की निम्नलिखित विशेषताओं से स्पष्ट हो जाएगा कि वह पूरी तरह से एक धार्मिक संस्कार है :—

(1) **विवाह का एक आधार धर्म**—हिन्दू विवाह का सम्बन्ध यौन सन्तुष्टि से न होकर गृहस्थाश्रम के द्वारा धार्मिक कर्त्तव्यों की पूर्ति करने से है। यहाँ 'काम' को केवल इसलिए महत्व दिया गया है कि वह सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक है। जिसके बिना सभी धार्मिक कर्त्तव्यों की पूर्ति नही हो सकती। पत्नी के अभाव में पितृ का ऋण चुकाया नहीं जा सकता। इसलिए विवाह आवश्यक है।

(2) **ऋणों से उऋण होने का माध्यम**—हिन्दू धर्मशास्त्रों में वि ाह को 'स्वर्ग का द्वार' कहा गया है। ऐसा इसलिए कहा गया है कि विवाह के द्वारा व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके विभिन्न यज्ञों को सम्पन्न करता है। वह सभी प्रकार के ऋणों से उऋण होता है। विभिन्न यज्ञों के द्वारा ऋणों से तब तक उऋण नहीं हुआ जा सकता जब तक कि व्यक्ति विवाह न करे। विवाह के बिना व्यक्ति वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के दायित्वों को पूरा नहीं कर पाता। ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे कि जब अनेक ऋषियों ने अविवाहित रह कर स्वर्ग प्राप्त करने का प्रयास किया परन्तु वह तब तक सफल न हुए जब तक उन्होंने विवाह नहीं किया। मनु ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है, "जिस प्रकार सभी नदी और नाले अन्त में समुद्र में आकर गिरते हैं उसी प्रकार सभी धर्मों का आधार गृहस्थाश्रम (वैवाहिक जीवन) ही है।"

(3) **विवाह सम्बन्धों का स्थायित्व**–हिन्दू विवाह को इसलिए भी एक धार्मिक संस्कार माना जाता है कि उसमें पति-पत्नी का सम्बन्ध अटूट एवं जन्म-जन्मांतरों का माना गया है। यदि विवाह को धार्मिक रूप न दिया जाता तो उसमें स्थिरता नहीं आ सकती थी। विवाह में पत्नी को पतिव्रत धर्म का महत्व बतलाया जाता है।

(4) **व्यक्ति की स्थिति का निर्धारक**—समाज में व्यक्ति की स्थिति का निर्धारण कुछ हद तक विवाह के द्वारा होता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में अविवाहित व्यक्ति का सम्पत्ति; परिवार और समाज में कोई स्थान नहीं होता और साथ ही साथ उसे सदैव शंका की दृष्टि से देखा जा सकता है। इसके विपरीत विवाह वह प्रमाण-पत्र है जिसके माध्यम से वह सभी धार्मिक क्रियाओं में भाग लेना और सामाजिक जीवन में एक विशेष स्थिति प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त करता है। इस प्रकार धर्म प्रधान समाज में विवाह के द्वारा ही व्यक्ति को सामाजिक स्थिति का निर्धारण होने के फलस्वरूप उसे एक धार्मिक संस्कार के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है।

(5) **धार्मिक विधि विधान एवं अनुष्ठान**—हिन्दू विवाह एक संस्कार है। यह इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि विवाह की सम्पूर्ण प्रक्रिया धार्मिक विधियों एवं अनेक अनुष्ठानों से परिपूर्ण होती है। विवाह के समय जिन प्रमुख अनुष्ठानों एवं संस्कारों को पूरा किया जाता है, उनकी संख्या प्रो० काणे ने बतलायी है। यहाँ कुछ प्रमुख संस्कारों का उल्लेख किया जा रहा है जिनसे कि संस्कारों के रूप में विवाह की धार्मिक प्रकृति स्पष्ट होती है—

(अ) **वाग्यदान**—यह विवाह का पहला महत्वपूर्ण अनुष्ठान है। इसमें कन्या पक्ष वाले वर पक्ष के प्रस्ताव को स्वीकार करते हैं। आधुनिक युग में यह कार्य वर पक्ष द्वारा किया जाता है। इस अवसर पर वैदिक मन्त्रों इत्यादि का उच्चारण होता है।

(ब) **कन्यादान**—विवाह के समय कन्या के पिता वर को अपनी पुत्र कान दान देता है और उससे वह आश्वासन लेता है कि वह धर्म, अर्थ, काम की पूर्ति में कभी अपनी पत्नी का परित्याग नहीं करेगा और आजीवन उसे अपनी संगिनी बनाए रहेगा।

(स) **अग्नि स्थापना**—कन्यादान के पश्चात् वर-वधू के बन्धन को स्थायी बनाने के लिए अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं और अग्नि से शक्ति एवं सुख की कामना की जाती है।

(व) **पाणिग्रहण**—इसका अर्थ है 'दूसरे के हाथ को स्वीकार करना'। वर-वधू का हाथ पकड़ कर मन्त्रों का उच्चारण करता है जिसका अर्थ होता है "मैं तेरा हाथ पकड़ कर सुख की कामना करता हूँ। तू वृद्धावस्था तक मेरे साथ रहना, मेरा धर्म तेरा पोषण करना है और मेरे द्वारा सन्तान को जन्म देते हुए तू 100 वर्ष तक जीवित रहना।"

(घ) **अग्नि परिणयन**—इसके अन्तर्गत वर-वधू के चारों ओर परिक्रमा करते हैं और यह कामना करते हैं कि वे दीर्घायु, तेजस्वी और मनस्वी हों, उनके अनेक पुत्र

हों और वे 100 वर्ष तक देखें, 100 वर्ष तक जीवित रहें और 100 वर्ष तक सुनते रहें।

(च) **सप्तपदी**—यह अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुष्ठान है। इसमें वर-वधू उत्तर दिशा की ओर 7 कदम आगे बढ़ते हैं और प्रत्येक गए में क्रमशः, धन, सुख, संतान, प्राकृतिक सहायता और पारस्परिक सहायता और पारस्परिक सखाभाव की कामना करते हैं। साथ ही वे यह भी कामना करते हैं कि दोनों का मत एक-दूसरे के अनुकूल बना रहे।

उपर्युक्त सभी विशेषताएँ हिन्दू विवाह को एक धार्मिक संस्कार के रूप में प्रकट करती हैं। यहाँ यह प्रश्न बरबस उठता है कि जब सभी समाजों में विवाह की प्रक्रिया व्यक्ति को परिष्कृत करती है तो अन्य धर्मों में क्या विवाह संस्कार नहीं है? वास्तव में प्रत्येक समाज में विवाह एक संस्कार होता है परन्तु हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में उसका रूप अपेक्षाकृत कहीं अधिक सुव्यवस्थित है। साथ ही कुछ धर्मों में विवाह के अन्दर संविदा और सुविधापूर्ण परिस्थितियों का समावेश होने के कारण विवाह में धार्मिकता का अंश बहुत कम हो गया है जबकि हिन्दू विवाह पूर्णतया धार्मिक जीवन से सम्बद्ध है और इसलिए वह स्पष्ट धार्मिक संस्कार है।

प्रश्न 2—हिन्दू समाज में विवाह को नियन्त्रित करने वाले विभिन्न प्रतिबन्धों की विवेचना कीजिये।

अथवा

अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

विवाह संस्कार के गोत्र एवं प्रवर की महत्ता बतलाइये।

हिन्दू विवाह अनेक आदेशों और अनुदेशों से सम्बद्ध है। ऐसा माना जाता है कि वैदिक युग में विवाह से सम्बन्धित ये मान्यताएँ अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थीं अथवा उनके प्रति लोगों का दृष्टिकोण अधिक उदार था। परन्तु कालान्तर में विवाह से सम्बन्धित ये नियम जीवन के अनिवार्य अंग बन गए। हिन्दू विवाह की मान्यताओं को 4 भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) अन्तर्विवाह, (2) बहिर्विवाह, (3) अनुलोम और (4) प्रतिलोम विवाह।

अन्तर्विवाह

(अ) **अन्तर्विवाह का अर्थ**—धर्मानुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही वर्ण में विवाह करना चाहिये। परन्तु आधुनिक युग में सम्पूर्ण वर्ण-व्यवस्था हजारों जातियों

या उपजातियों में विभाजित है और फलस्वरूप सभी व्यक्तियों को यह निदेश दिया जाता है कि वे अपने ही जाति या उपजाति के अन्दर विवाह सम्बन्ध स्थापित करें। इससे भी स्पष्ट है कि अन्तर्विवाह वह वैवाहिक नियम हैं जो प्रत्येक स्त्री या पुरुष को अपने ही जाति अथवा उपजाति में विवाह करने की अनुमति प्रयत्न करती है। फोत्सम के अनुसार अन्तर्विवाह वह नियम है जिसके अनुसार व्यक्ति को अपनी ही जाति में विवाह करना चाहिए। सेनार्ट का भी यही विचार है, वैदिक और उत्तर-वैदिक काल में अन्तर्विवाह का क्षेत्र काफी विस्तृत था क्योंकि उस समय तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी को सवर्ण माना जाता था। केवल शूद्रों को अलग समूह में रखा गया था। अतएव सवर्ण लोगों में से अपना जीवन साथी चुन सकते थे। कालान्तर में सभी लोग एक-दूसरे से अलग होने लगे और विवाह का अर्थ अपने ही वर्ग के स्त्री पुरुष से विवाह करना हो गया। स्मृति काल के धार्मिक समाज में रक्त की विशुद्धता और धार्मिक क्रियाओं की पवित्रता के फलस्वरूप जातियों या उप-जातियों का विभाजन प्रारम्भ हो गया और इस तरह अन्तर्विवाह का अर्थ केवल अपने ही उपजाति **में** विवाह करने में ही सीमित रह गया धर्मशास्त्रों के युग तक अन्तर्विवाह का अर्थ केवल अपनी उपजाति के अन्तर्गत विवाह करना ही नहीं, बल्कि एक विशेष भाषा भाषी क्षेत्र के अन्दर अपनी उपजाति के सदस्यों से विवाह करना समझा जाने लगा इस। इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक युग मे अन्तर्विवाह वह नियम है जिसके अनुसार एक व्यक्ति को अपने ही जाति या उपजाति, क्षेत्र और सामाजिक वर्ग के सदस्यों के साथ विवाह करने की अनुमति दी जाती थी।

(ब) **अन्तर्विवाह के प्रकार**—अन्तर्विवाह को इन निम्न श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) **जनजातीय अन्तर्विवाह**—जन-जातियाँ प्रायः अपनी ही जन-जाति के अन्दर विवाह करती हैं। जनजातीय अन्तर्विवाह का कारण प्रायः सांस्कृतिक है। प्रत्येक जन-जाति की अपनी संस्कृति और परम्पराएँ होती हैं। उनसे बाहर समन्वय करना उनके लिये प्रायः कठिन होता है।

(2) **जाति अन्तर्विवाह**—अपनी ही प्रजाति के अन्दर विवाह करने को प्रजाति अन्तर्विवाह कहते हैं। दक्षिण अमेरिका स्वेत नीग्रों से विवाह नहीं कर सकता।

(3) **प्रजाति अन्तर्विवाह**—अपनी ही जाति में विवाह करने को इस श्रेणी में रख सकते हैं

(4) **उपजाति अन्तर्विवाह**—इस प्रकार के विवाह में वर-वधू का चुनाव अपनी उपजाति तक सीमित होता है।

(5) **वर्ग अन्तर्विवाह**—इस प्रकार के विवाह पश्चिमी देशों में अधिक प्रच-लित हैं। बहुधा अपने ही वर्ग में अपने ही हैसियत के व्यक्ति से विवाह करना पसंद करते हैं।

(स) **अन्तर्विवाह के कारण**—अन्तर्विवाह के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(1) **संगठन को स्थिर रखने के लिए**—अन्तर्विवाह आपसी संगठन को बनाए रखने में सहायक होता है।

(2) **पृथकता की नीति**—बहुधा एक समूह दूसरे समूह से अलग रहना पसंद करता है इसलिये बहिर्विवाह को प्रोत्साहित नहीं करता।

(3) **समूह की शक्ति और रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के लिए**—अन्तर्विवाह समूह की एकता बनाये रखने तथा रक्त की शुद्धता को कायम रखने में सहायक हो सकता है।

(4) **समूह में सम्पत्ति बनाए रखने के लिए**—अन्तर्विवाह से एक समूह की सम्पत्ति दूसरे समूह में नहीं जा सकती।

(5) **धर्म की समानता के कारण**—अन्तर्विवाह धर्म की एकता के कारण भी होते हैं।

(6) **सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण**—एक धर्म का होने पर भी यदि उनमें सांस्कृतिक विभिन्नता पाई जाती है तो विवाह नहीं हो पाता।

(7) **प्रजातिक समानता के कारण**—इससे भी अन्तर्विवाह को प्रोत्साहन मिलता है।

(8) **भौगोलिक पृथकता के कारण**—दूर-दूर बसे हुये लोग आपस में विवाह करना पसंद नहीं करते।

(9) **ऊँच-नीच की भावना**—इसके कारण भी लोग अन्तर्विवाह पर जोर देते हैं।

(10) **व्यवसाय की समानता**—इसके कारण भी अन्तर्विवाह उचित माना जाता है।

(ब) **अन्तर्विवाह के लाभ**—अन्तर्विवाह से निम्न लाभ होते हैं—

(1) रक्त की शुद्धता बनी रहती है।

(2) सम्पत्ति का बँटवारा नहीं हो पाता।

(3) समूह की एकता बनी रहती है।

(4) समूह के व्यवसाय का रहस्य बना रहता है।

(च) **अन्तर्विवाह से हानियाँ**—अन्तर्विवाह से निम्नलिखित हानियाँ हैं :—

(1) इससे राष्ट्रीयता और ऐक्य भावना को ठेस पहुँचती है।

(2) जीवन साथी चुनने का क्षेत्र संकुचित होता है जिससे दहेज, कन्या, शुल्क बहुविवाह आदि कुरीतियाँ उत्पन्न होती हैं।

(3) इससे वर्ग-ईर्ष्या उत्पन्न होती है, जिसका निम्न उदाहरण जातिवाद है।

(4) जैविकीय दृष्टिकोण से अन्तर्विवाह उचित नहीं, इसमें सन्तान हृष्ट-पुष्ट नहीं रहती।

बहिर्विवाह

(अ) **बहिर्विवाह का अर्थ**—हिन्दू समाज में जहाँ एक ओर अन्तर्विवाह के आदेश दिये गये हैं वहीं प्रत्येक व्यक्ति को अपने गोत्र, प्रवर और पिण्ड के सदस्यों के वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। इस प्रकार हम देखते है कि बहिर्विवाह वह नियम है जिसके द्वारा व्यक्ति पर एक विशेष समूह

तथा क्षेत्र में विवाह सम्बन्ध स्थापित करने पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। बहिर्विवाह वह विवाह है जो किसी बाहर के व्यक्ति से सम्पन्न किया जाता है।

(ब) **बहिर्विवाह के रूप**—मुख्य रूप से बहिर्विवाह 4 माने जाते हैं—

(1) सगोत्र बहिर्विवाह, (2 सप्रवर बहिर्विवाह, (3) टोटम बहिर्विवाह, (4) सपिण्ड बहिर्विवाह। श्री पी० एन० प्रभु के अनुसार अपनी उत्पत्ति के समय से लेकर युग में गोत्र, प्रवर, पिण्ड की धारणा से सम्बन्धित बहिर्विवाह के नियमों में इतने प्रकार के संशोधन और रूपान्तर हुये हैं कि उनके मौलिक अर्थों को समझना लगभग असम्भव सा हो गया है परन्तु फिर भी यहाँ हम इनका विवेचन संक्षेप में करेंगे।

(1) **सगोत्र बहिर्विवाह**—गोत्र के सम्बन्ध में विभिन्न विचार मिलते हैं। सत्यापाठ हिरण्यकशी श्रोतुसुत्र के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम अत्रि; वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य नामक आठ ऋषियों की सन्तान गोत्र कहलाती है। वैदिक साहित्य में गोत्र शब्द का प्रयोग गाँवों की रक्षा के लिये बनाये गये बाड़े के रूप में किया गया है। मैक्समूलर भी इस धारणा के अनुसार मानते हैं कि जिन लोगों की गायें एक स्थान पर बँधत थीं, वे उस स्थान पर रहने वाले एक पूर्वज ऋषि की सन्तान समझे जाते थे और बाद में यह लोग एक ही गोत्र के सदस्य समझे जाने लगे। पाणिनि ने अपने एक सूत्र में पोते तक की सन्तान को गोत्र कहा है। पातंजलि के महाभाष्य से स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य पालन करने वाले 30 हजार ऋषि हुए, किन्तु उनमें से केवल 8 ऋषियों की सन्तान का प्रसार हो पाया। अतएव इन्हीं आठ ऋषियों की सन्तान ही गोत्र कहलाती हैं। मेघातिथि; जो मनुस्मृति के सबसे बड़े टीकाकार हैं, ने लिखा है कि गोत्र का अर्थ यह है कि वे किसी विशेष समय में उत्पन्न हुए ऋषि की सन्तान है, परन्तु जैसे परम्परा के अनुसार कुछ को ब्राह्मण माना जाता है वैसे ही गोत्र भी परम्परागत वंश का नाम है। विज्ञानेश्वर के अनुसार वंश-परम्परा में जो नाम प्रसिद्ध होता है वह उस वंश का गोत्र कहलाता है। (वंश परम्परा प्रसिद्ध गोत्रम्)। बौधायन ने गोत्र की संख्या करोड़ों में बतायी है। मिताक्षरा न्याय के अनुसार गोत्र का अर्थ रक्त की निकटता है। उपर्युक्त विचारों से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'गोत्र' शब्द का प्रयोग एक घेरे में रहने वाले तथा एक विशेष समूह के व्यक्तियों के लिये खिया गया है। इसी धारणा के अनुसार आपसी विवाह सगोत्र-विवाह को वर्जित कर दिया गया जो बाद में चलकर बहिर्विवाह की प्रथा का कारण बन गया है। इसीलिए हिन्दुओं में सगोत्र कन्या से विवाह का निषेध है।

गोत्र के बाहर विवाह करने का प्राविधान मुख्य रूप स उच्च जातियों में है। गोत्र में विवाह करने वाले को प्रायश्चित करके स्त्री को माता या बहिन के समान रखना पड़ता है। उसमे सन्तान उत्पन्न होने पर चान्डाल मानी जाती है। मनु ने सगोत्र विवाह को वर्जित करते हुये कहा है :—

"असपिंडा चा या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
साप्रशास्त्वा द्विजातोनाम् दारकमणि मैथुने॥"

(2) **सपिंड बहिर्विवाह**—'प्रवर' शब्द 'बृज वरणी" अथवा 'वृ' धातु से बना है। वर का अर्थ है 'चुन लेना'। 'प्र' का अर्थ है विशेष रूप से, अर्थात् जिसे विशेष रूप से यज्ञ के लिए चुन लिया जाय उसे प्रवर कहते हैं। श्री पांडुरंग वामन काणे का

कथन है कि यज्ञ करते समय पुरोहित कुछ प्रसिद्ध, यशस्वी ऋषियों को चुन कर उनके नाम से यज्ञ में आहुति देता था और प्रार्थना करता था कि मैं अग्नि में वैसे ही आहुति देता हूँ जैसे भृगु ने दी थी, जैसे अंगिरा ने दी थी, अत्रि ने दी थी। इस प्रकार चुने गए ऋषि जो प्राचीन ऋषियों में से चुने गये थे, 'प्रवर' कहलाने लगे। बाद में प्रवर ऋषियों की संख्या निश्चित कर दी गयी और यह संख्या 49 है। इंडेक्स के अनुसार प्रवर का अर्थ आह्वान करना होता है। डा० प्रभु के अनुसार, "इन्डोआर्यन लोगों में अग्नि-पूजा और हवन करने का प्रचलन था। हवन करते समय पुरोहित अपने प्रमुख और श्रेष्ठ, ऋषि पूर्वज का नाम लेते थे। इस प्रकार प्रवर के अन्तर्गत एक व्यक्ति के उन पूर्वजों का समावेश है जो अग्नि आह्वान करते हैं" धीरे-धीरे इसके साथ-साथ सामाजिक धारणा भी जुड़ गयी और ऋषि पूर्वज का महत्व अनेक घरेलू और सामाजिक धारणा भी जुड़ गयी और ऋषि पूर्वज का महत्व अनेक घरेलू और सामाजिक संस्कारों में भी हो गया जिसमें विवाह संस्कार प्रमुख है। इस रूप में हम यह कह सकते हैं कि वह सब व्यक्ति एक सामान्य ऋषि पूर्वज की संतान मानने के कारण आपस में विवाह नहीं करते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रवर का कोई भी सम्बन्धी रक्त से नहीं है, बल्कि यह एक धार्मिक या आध्यात्मिक या संस्कार सम्बन्धित समूह है।

वास्तव में 'प्रवर' भी प्राचीन ऋषियों का नाम है। विज्ञानेश्वर के अनुसार केवल ब्राह्मणों के ही वास्तविक गोत्र प्रवर होते हैं। क्षत्रिय और वैश्यों के गोत्र और प्रवर उनके पुरोहितों पर आश्रित होते हैं। शूद्रों के कोई गोत्र और प्रवर नहीं होते हैं। पांडुरंग वामन काणे ने गोत्र और प्रवर का अन्तर बतलाते हुए कहा है कि गोत्र उन अति प्राचीन ऋषियों के नाम हैं जो परम्परा द्वारा अनेक पीढ़ियों से किसी वंश या व्यक्ति के पूर्वज माने जाते हैं किन्तु प्रवर वे अत्यन्त प्राचीन ऋषि थे जो बड़े यशस्वी थे और गोत्र चलाने वाले ऋषियों के पूर्वज थे।

उच्च जातियों में सप्रवर विवाह को वर्जित माना गया है। वे सभी सप्रवर होते हैं जो यज्ञ में एक ही ऋषि का नाम उच्चारण करते हैं। इस प्रकार प्रवर एक प्रकार का धार्मिक और आध्यात्मिक सम्बन्ध है। सप्रवर विवाह प्राचीन काल में वर्जित नहीं थे। जैसा कि अल्तेकर और डांगे ने कहा है। इस प्रथा का प्रादुर्भाव शायद गृह्य तथा धर्मसूत्रों के समय में हुआ।

(3) **टोटम बहिर्विवाह**—भारतीय जन-जातियों में टोटम के आधार पर भी विवाह होता है। एक टोटम के ही मानने वाले अपने समूह में विवाह नहीं कर सकते हैं। टोटम किसी वनस्पति या जानवर को कहते हैं जिससे कोई जन-जाति अथवा विशेष सम्बन्ध मानती है। गोंडों में बहिर्विवाही वर्ग अंश के समान है। इन अंशों का वर्गीकरण पूजे जाने वाले देवताओं की संख्या पर निर्भर है। सात देवता पूजने वाले वर्ग के व्यक्ति अपने वर्ग से बाहर, 5, 4 या 3 देवता पूजने वाले वर्गों में ही विवाह कर सकते है। ये वर्ग टोटम वाले अन्य बहिर्विवाही उपवर्गों में बँटे होते हैं। इनमें दूध-भाई या मामा-भाई का सम्बन्ध माना जाता है और बहिर्विवाह वर्जित होता है।

(4) **सपिण्ड बहिर्विवाह**—हिन्दू समाज में सपिण्ड विवाह भी वर्जित है। सपिण्ड की परिभाषा भी भिन्न है। मिताक्षरा सम्प्रदाय के अनुसार सपिण्ड उन लोगों को कहते हैं जिनके शरीर में एक ही पिंड या शरीर का अंश है। इस प्रकार

सपिंड में वे सभी आ जाते हैं जिनमें माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी एक ही होते हैं। बृहस्पति के अनुसार माँ की पाँच और पिता की सात सीढ़ियाँ सपिंड के अन्तर्गत आती हैं। बौधयन के अनुसार मामा और बुआ की सन्तानों मे भी विवाह होना अनुचित माना गया है। परन्तु भारत में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि सब स्थानों में सपिंड का विचार एक-सा नहीं है। दक्षिण में नम्बूदरी ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मणों में मामा की सन्तान से सम्बन्ध स्थापित करना अच्छा माना जाता है। मद्रास में बेलभ जाति में भाँजी से तथा ब्राह्मणों में साली की लड़की से विवाह करना अच्छा माना जाता है।

भारत में गाँव के बाहर विवाह करना उत्तम माना जाता है। साधारणतया एक गाँव का व्यक्ति अपने गाँव में विवाह नहीं करता। छोटा नागपुर की मुन्डा और अन्य जन जातियों में भी एक प्रथा प्रचलित है। आपस में नागा जनजातियाँ 'खेल' में बँटी होती है। 'खेल' एक विशेष स्थान पर रहने वाले नागाओं को कहा जाता है। एक खेल का व्यक्ति अपने खेल में विवाह नहीं कर सकता। गारो जन-जाति 'मूरक' और 'संगम नामक दो जातियों में बँटी होती है जिनमें अन्तर्विवाह वर्जित है। इसी प्रकार बहुत सी अन्य जन-जातियों में अन्तर्विवाह वर्जित है।

(स) **बहिर्विवाह से लाभ**--बहिर्विवाह के दृष्टिकोण ने समाज को एक प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रदान किया है और साथ ही उसने सांस्कृतिक एकता में वृद्धि की है। यहाँ बहिर्विवाह के लोगों की चर्चा संक्षेप में की जा रही है—

(1) जैविकीय दृष्टिकोण से बहिर्विवाह एक उत्तम व्यवस्था है। इस विवाह से यह अवश्य कहा जा सकता है कि जो सन्तान होगी वह उत्तम होगी। उसे जीवशास्त्री भी यह मानते हैं कि रक्त सम्बन्धियों के मध्य विवाह होने से बच्चों में शारीरिक दोष हो जाने की सम्भावना रहती है। दूसरी ओर बहिर्विवाह के फलस्वरूप बुद्धिमान, स्वस्थ और सुन्दर सन्तानों का जन्म होता है।

(2) बहिर्विवाह के फलस्वरूप विभिन्न समूह के लोग एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और इससे समाज में संघर्ष कम होता है।

(3) बहिर्विवाह की व्यवस्था समूह में नैतिकता बनाये रखने में उपयोगी सिद्ध हुयी है। यदि रक्त सम्बन्धियों में विवाह की छूट दे दी जाती है तो परिवार में ही अनैतिकता और अनाचार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(4) प्रो० काणे के अनुसार बहिर्विवाह के माध्यम से एक पीढ़ी को अपने दोष दूर करने का अवसर मिल जाता है क्योंकि इसके द्वारा रक्त का संयोग सदैव नवीन रूप ग्रहण करते रहते हैं।

उपर्युक्त लाभों की दृष्टि से समनर ने लिखा है कि, "अन्तर्विवाह रूढ़िवादी है और बहिर्विवाह प्रगतिवादी।" बहिर्विवाह समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

(ब) **बहिर्विवाह से हानियाँ**—बहिर्विवाह की प्रथा से हिन्दू समाज में अनेक बुराइयाँ भी उत्पन्न हो गयी हैं। करदीकर ने लिखा है कि बहिर्विवाह की प्रथा हिन्दू समाज में निम्नतम वर्ग में इतनी प्रचलित है कि उत्तर भारत में भंगियों में 1359 भेद हैं। इस प्रकार वर-वधू के चुनाव का क्षेत्र बड़ा संकुचित हो जाता है।

जिससे दहेज की कुप्रथा बढ़ती है। कर्ज लेकर देने पर भी कन्या सुखी नहीं रह पाती क्योंकि वर का मूल्य अधिक हो जाता है और कन्या को ससुराल में अनेक यातनायें सहनी पड़ती हैं, यहाँ तक कि उसे कभी-कभी आत्म-हत्या भी करनी प ती है। गरीबी के कारण माता-पिता की बेमेल वर से ब्याह देते हैं और विधवा-समस्या उत्पन्न हो जाती है।

1911 ई० की यू० के० की जनगणना की रिपोर्ट ब्लन्ट (Blunt) ने लिखा है, हिन्दुओं की उच्च जातियों में पिता की सात और माता की पांच पीढ़ियो में विवाह के निषेध से 2,2121 सम्भाव्य सम्बन्धों का निषेध हो जाता है जबकि ईसाइयों में इसकी संख्या केवल 30 तक सीमित है ? इस प्रकार वर को पढ़ने में बहुत कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं और विवाह ठीक से नहीं हो पाता और उनमें दहेज आदि की कुप्रथा को बल मिलता है।

अनुलोम और प्रतिलोम विवाह—हिन्दू, विवाह की मान्यताओं में अनुलोम और प्रति ाम विवाह का विशेष स्थान है। प्राचीन भारतीय समाज में सवर्ण विवाह को सबस उत्तम माना गया है परन्तु इसके साथ ही विभिन्न स्थानों पर अनुलोम ओर प्रतिलोम का भी उल्लेख हुआ है। यहाँ उनका उल्लेख हम संक्षेप में कर रहे हैं—

(1) **अनुलोम विवाह**—मनु ने सवर्ण विवाह को सबसे उत्तम माना है परन्तु अनुलोम विवाह का भी मान्यता प्रदान की है।

'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकमणि।
कामसस्तु प्रवृत्ता नाभिजा सुः कमर्श वरः ।।'

अनुलोम विवाह के अन्तर्गत उच्च जाति का पुरुष नीच जाति की स्त्री से विवाह करता है, ऐसे अनेक उदाहरण हैं। राजा दशरथ की तीसरी स्त्री सुमित्रा शूद्र कन्या थी। ब्राह्मण राजा अग्निमित्र ने एक क्षत्रिय कन्या से विवाह किया। ब्राह्मण रुद्रसेन द्वितीय न वैश्य जातीय गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय की कन्या प्रभावती गुप्त से विवाह किया।

हिन्दू समाज में पुरुष की अत्यधिक प्रधानता है। विवाह के पूर्व पुत्री की जाति पिता की होती है और विवाह के बाद पति की हो जाती है। इस प्रकार हिन्दू समाज में पुरुष स्त्री की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है और पुरुष के अधिकारों में ब्राह्मण रूप का अन्य जातियों के पुरुषों से अपेक्षाकृत अधिक अधिकार है। इसलिए ब्राह्मण पुरुष को अन्य जातियों की कन्याओं से विवाह की छूट थी। इसके बाद क्षत्रिय पुरुष शक्तिशाली माना जाता था और उसे ब्राह्मण कन्या के अतिरिक्त अन्य जाति की कन्याओं से विवाह करने का अधिकार था। इसी प्रकार वैश्य पुरुष ब्राह्मण और क्षत्रिय कन्या के अतिरिक्त अन्य निम्न जाति की कन्या से विवाह कर सकता था।

अनुलोम विवाह के नियम आरम्भ में काफी उदार थे परन्तु जैन और बौद्ध धर्मों के ह्रास के बाद चारों वर्ण क्रमशः हजारों जातियों एवं उपजातियों में बंट गये। रक्त की शुद्धता और धार्मिक पवित्रता के आधार पर इन बड़ी जातियों एवं

उपजातियों को भी एक दूसरे से तुलना में ऊँचा और नीचा समझा जाने लगा। यहीं से अनुलोम विवाह के नियम कुलीन विवाह (Hypergamy) की मान्यता में बदल गये।

विवाह के क्षेत्र में अनुलोम विवाह के नियमों में अनेक गम्भीर सामाजिक समस्याओं को जन्म दिया जिनका उल्लेख यहाँ संक्षेप में किया जा रहा है—

(1) अनुलोम विवाह के फलस्वरूप उच्च जातियों में लड़कों की माँग अधिक हो जाने के कारण दहेज-प्रथा का प्रचलन हुआ जिसने बाद में एक संक्रामक रोग का रूप धारण कर लिया।

(2) निम्न जातियों में लड़कियों की माँग बढ़ने के कारण कन्या मूल्य (Bride Price) प्रचलित हुयी जो आज किसी-न-किसी रूप में चली आ रही है।

(3) इस विवाह के फलस्वरूप उच्च जातियों से बहु-पत्नी प्रथा का जन्म हुआ और सामान्य लोग अनेक पत्नियाँ रखने लगे।

(4) कालान्तर में अनुलोम विवाह इतना रूढ़िवादी हो गया कि लड़की के लिए उच्च जाति का वर न मिलने पर उच्च जाति में किसी वृद्ध से विवाह कर दिया जाने लगा। इससे बेमेल विवाहों की संख्या में वृद्धि हुई। बेमेल विवाहों की संख्या में वृद्धि के फलस्वरूप बाल-विधवाओं की समस्या ने एक गम्भीर रूप धारण कर लिया।

(5) अनुलोम विवाह के अन्तर्गत कुलीनता की भावना के फलस्वरूप माता-पिता शीघ्र ही अपने बच्चों का विवाह करके अपने उत्तरदायित्व से मुक्त होने का प्रयास करने लगे, जिससे विधवा-विवाह की समस्या उत्पन्न हुयी।

(2) **प्रतिलोम विवाह**—प्रतिलोम विवाह से अनुलोम विवाह के प्रतिकूल धारा बढ़ती है। निम्न जाति का पुरुष उच्च जाति की स्त्री से विवाह करता है। मनु ने प्रतिलोम विवाह जाति की निन्दा की है, परन्तु बाद में शास्त्रकारों ने उसे स्वीकार किया है। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य की लड़की से विवाह करने की अनुमति दी है परन्तु शूद्र कन्या लेने से मना किया है। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने ही ब्राह्मण के शूद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र के अधिकारों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि प्रतिलोम विवाहों की मान्यता थी।

वाण ने लिखा है कि चन्द्रसेन और मातृषेण नामक उसके दो पारश्व भाई थे जो उसके पिता की शूद्र स्त्री की सन्तान थे। कदम्ब वंश के काकुत्स्य वर्मा नामक ब्राह्मण राजा ने अपनी कन्यायें गुप्त राजाओं को दी थीं। दुष्यन्त ने क्षत्रिय होते हुये ब्राह्मण पुत्री शकुन्तला से विवाह कर लिया था।

प्रतिलोम विवाह की मान्यता मिलने पर और उसके कुछ उदाहरण मिलने पर यह अवश्य स्वीकार किया जायेगा कि समाज में व्यापक रूप में कभी यह प्रचलित नहीं रहा। प्रतिलोम विवाह को हिन्दुओं ने कभी भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखा और इसके उदाहरण अपवाद रूप में ही मिलते हैं। धर्मशास्त्रों में तो यहाँ तक उल्लेख मिलता है कि प्रतिलोम विवाह के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली सन्तानों को कोई भी जाति प्राप्त नहीं है, बल्कि वे 'चाण्डाल' या 'निषाद' हो जाते हैं।

6

पारिवारिक जीवन

प्रश्न (1) प्राचीन भारत में हिन्दू परिवार प्रथा की उत्पत्ति एवं विकास के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

अथवा

परिवार से आप क्या समझते हैं ? परिवार के उद्भव की विभिन्न विचार-धाराओं की विवेचना कीजिये और उसके विकास पर संक्षेप में प्रकाश डालिये ।

"वसुधैव कुटुम्बकम्" को आदर्श मानने वाले प्राचीन भारतीय समाज विज्ञान के मनीषियों के सम्बन्ध में यह धारणा रखना नितान्त साधार है कि उन्होंने भारत में आदर्श पारिवारिक व्यवस्था स्थापित की थी । वास्तव में मानव संस्कृति का समारंभ पारिवारिक जीवन से ही हुआ और इस स्थिति में हमारी परिवार नामक संस्था हमारी संस्कृति का प्राचीनतम अङ्ग है । वैदिक पारिवारिक व्यवस्था का सर्वप्रमुख रूप ऋग्वेद में मिलता है । उसके अनुसार परिवार के सदस्य माता-पिता; भाई-बहन और वधू आदि थे । भारतीयों ने एक आदर्श पारिवारिक व्यवस्था को अपनाया था ।

परिवार का अर्थ—इलमर ने अपनी पुस्तक 'Sociology of Family' में लिखा है—अंग्रेजी शब्द 'फैमिली' (Family) लैटिन के शब्द 'फेमुलस' (Famulus) से निकला है । इस लैटिन शब्द से एक ऐसे समूह का बोध होता है जिसमें माता-पिता, बच्चे, नौकर तथा गुलाम भी आ जाते हैं । इस शाब्दिक अर्थ से परिवार का पूर्ण बोध होना कठिन है ।

मनुष्य ने अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए परिवार नामक संस्था का निर्माण किया है । इसने मानव जाति को अमरत्व प्रदान किया है । हरिदत्त वेदालंकार के शब्दों में "मनुष्य परम धर्म है, किन्तु मानव जाति अमर है । व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, बचपन, यौवन और बुढ़ापे की अवस्था भोगकर समाप्त हो जाते हैं, पर वंश परम्परा द्वारा उनका सन्तान-क्रम अविछिन्न रूप से चलता रहता है । मृत्यु और अमरत्व दो विरोधी वस्तुएँ हैं, किन्तु परिवार द्वारा इन दोनों का समन्वय हुआ है । व्यक्ति भले ही मर जायें, पर परिवार और विवाह द्वारा मानव जाति अमर हो गयी है ।"

परिवार में रहते हुये हर आदमी परिवार को नहीं समझ सकता । परिवार की परिभाषा करना इसीलिए एक कठिन कार्य है । पाश्चात्य विचारक डनलप ने परिवार की पूर्ण एवं सर्वग्राही परिभाषा करना असम्भव कार्य कहा है । बर्गेस और लॉक ने इसे पारिभाषित करते हुए कहा है कि "परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है

जो विवाह रक्त अथवा गोत्र के सूत्रों से एकीकृत है; जो एक ही गृह में निवास करते हैं, जो पति एवं पत्नी, माता एवं पुत्र एवं पिता, पुत्री, भाई और बहन के रूप में एक दूसरे से सम्बन्धित हैं तथा जिनसे एक समान संस्कृति का निर्माण तथा पोषण होता है।''

मैकाइवर तथा पेज की दृष्टि से परिवार, यौन सम्बन्धों से बाधि धत एक ऐसा समूह है जिसका स्वरूप पर्याप्त स्थायी एवं दूरगामी हो जिससे बच्चों का समुचित रक्षण एवं पालन-पोषण हो सके।

उक्त पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में परिवार के दो महत्वपूर्ण तत्व हैं—

(1) सदस्यों के निवास के लिए एक ही आवास तथा

(2) सदस्यों के रूप में पुरुष स्त्री तथा उनसे उत्पन्न बच्चे।

निमकाफ ने बच्चों वाले परिवार को ही परिवार माना है, यदि पति-पत्नी हैं और उनके बच्चे नहीं हैं तो स्त्री पुरुष के सम्बन्ध को सन्तान-रहित विवाह कहकर सम्बोधित करते हैं।

परिवार के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण पाश्चात्य दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। विदेश के विचारकों की दृष्टि में परिवार अति संकुचित दिखाई देता है जबकि वैदिक युग के परिवार की सीमा हरिदत्त देवालंकार के शब्दों में देखिए—

''वैदिक परिवार में प्रायः तीन पीढ़ी तक के प्राणी सम्मिलित होते थे। श्राद्ध में तथा अन्य यज्ञों में, पितरों के आह्वान से यह बात भली-भाँति पुष्ट हो जाती है। यजु० 7/4/7 में कहा गया है कि हम आज यज्ञ में पिता और दादा वाले ब्राह्मण प्राप्त करें। यजु० 19/36/37 में पिता, पितामह और प्रपितामह को नमस्कार किया गया है और उनसे प्रार्थना की गई है कि वे अपने वंश को शुद्ध करें। अथर्ववेद के एक मन्त्र से परिवार के प्रिय पुरुषों के आह्वान में, पूर्वजों में पिता, दादा को तथा वंशजों में पुत्र, पौत्र को बुलाया गया है। प्रपितामह का उल्लेख परिवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में भी पाया जाता है। (तै० सं० 1/8/5/1, अथर्व० 18/5/35 शत० ब्रा० 2/4/2/16) अथर्ववेद के पितृमेघ या श्राद्ध प्रकरण के सूक्तों में दादा (तै० 18/4/77) परदादा तामाह) और परदादा (प्रपितामह 18/4/75) को स्वधा दान का उल्लेख है। परपरदादा पूर्वजों में परिवार की चरम सीमा है। वंशजों में पोते (पौत्र या नप्ता) का अधिक वर्णन है। (अथर्व० 11/7/16, 18/13/9 ऐत० ब्रा० 1/10 तैति० ब्रा० 2/7/8/3 परपोता (प्रणपात) परिवार की चरम सीमा है) ऋ० 8/17/12) किन्तु परपोते तथा परदादे का उल्लेख एक ही बार हुआ है। अतः सामान्य रूप से परिवार की सीमा पर परदादे और पोते तक ही समझनी चाहिये।

इस प्रकार के विस्तृत परिवार को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि परिवार के सम्बन्ध में भारतीय विचारधारा पाश्चात्य विचारधारा से सर्वथा ही भिन्न है। भारतीय परिवार एक ऐसा स्थायी ध्रुव बिंदु है जो कि जन्मजन्मांतर एक स्त्री तथा पुरुष के सम्मिलन का आधार प्रस्तुत करता है। विवाह एक समझौता मात्र नहीं है। यह एक संस्कार है जिसकी नींव धर्म पर आधारित है। धर्म से उस सत्यात्मक नियम का आशय है जो व्यक्ति तथा समाज के नियम को धारण करते हैं। यह धर्म

कर्तव्य के रूप में परिवार के सभी सदस्यों के सामने आता है। परिवार में जितने भी लोग होते हैं सबके सामने उनके कर्त्तव्य होते हैं और इसी कर्तव्य की रज्जु से सभी बँधे रहते हैं। कर्तव्य की यह भावना उनको सेवा पथ की ओर प्रेरित करती रहती है और एक आन्तरिक प्रेम की सृष्टि करती है। परिवार के सभी सदस्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को त्याग कर अन्यों के हित की चिंता में बराबर लगे रहा करते हैं। श्रद्धा, यज्ञ, ज्ञान, तम, प्रेम, सत्य, व्रत नियम आदि महान गुण भारतीय परिवार की जड़ों को सींचने में लगे रहते हैं। हर पीढ़ी इन्हीं परम्पराओं को निरन्तर आगे बढ़ाती रहती है। मात्र यही कारण है कि हिन्दू परिवार इतने आघातों को सहता हुआ आज भी स्तम्भ की तरह खड़ा है और गौरव का प्रतीक बनकर अपना मस्तक ऊँचा किए हुए है।

प्राचीन भारत में हिन्दू परिवार-प्रथा की उत्पत्ति—परिवार मानव जाति में आत्म-संरक्षण संवर्धन और जातीय जीवन के सातत्व को बनाये रखने का प्रधान साधन है। मनुष्य मरण धर्मा है, किन्तु मानव जाति अमर है। व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, बचपन यौवन और बुढ़ापे की अवस्था भोगकर समाप्त हो जाते हैं। वंश परम्परा द्वारा उनका सन्तान क्रम अविछिन्न रूप से चलता रहता है। मृत्यु और अमृत्य दो विरोधी वस्तुयें हैं, किन्तु परिवार द्वारा इन दोनों का समन्वय हुआ है। व्यक्ति भले ही मर जाए पर परिवार और विवाह मानव अमर है।

मरणशील मनुष्य को अमर बनाने वाले विवाह तथा परिवार का मानव जाति में उद्भव किस प्रकार हुआ, यह हमारा विषय नहीं बल्कि केवल हिन्दू समाज में इसका उत्पत्ति और ऐतिहासिक विकास का उल्लेख करना ही हमारा लक्ष्य है। किसी चीज का उद्भव पृथ्वी पर जहाँ पानी का वह सोता दिखाई पड़ा वहाँ ही रुक जाना पड़ता है। धरती से यह सोता कहाँ से चला इस पर कहाँ तक दिमाग खपाया जाए। जब प्रत्यक्ष वस्तुओं की यह दशा है तो अप्रत्यक्ष वस्तुओं के लिए क्या कहा जा सकता है। परिवार का उद्गम जानना अप्रत्यक्ष ही तो है। भगवती ऋषि के शब्दों में—ऐसे उद्गमों को निश्चय से कौन जानता है? कौन इनको बना सकता है? उन पर रहस्य के अन्धकार का गहरा परदा पड़ा है।

परिवार के उद्भव की तीन विचारधाराएँ—परिवार के उद्भव की प्रमुख तीन विचारधारायें हमारे सामने आती हैं। इन तीनों विचारधाराओं का विस्तृत उल्लेख निम्नलिखित पंक्तियों में किया गया है—

(1) कामाचार से परिवार का उद्भव
(2) परिवार का जीवशात्रीय उद्भव
(3) परिवार के उद्भव का मनोवैज्ञानिक आधार।

यहाँ इन तीनों विचारधाराओं का उल्लेख संक्षेप में किया जा रहा है—

कामचार से परिवार का उद्भव—अन्य देशों की भाँति भारत में भी विचार संस्था का उदय कामचार (Promiscuity) से हुआ ऐसा कहा जा सकता है कि पहले स्त्री तथा पुरुषों को स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने की पूरी स्वतन्त्रता थी। स्त्री और पुरुषों पर विवाह तथा मैथुन पर किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं थी। इस निर्बाध

स्वतन्त्रता की स्थिति को कामाचार या अनावरण स्वच्छन्द विवाह, गुण विवाह, स्वेरिणीत्व आदि कहते हैं। यह समझा जाता है कि कामाचार के बाद में नियमबद्ध वर्तमान विवाहों का आरम्भ हुआ।

महाभारत के कुछ वचनों के अनुसार अनेक विद्वान् यह कहते हैं कि प्राचीन भारत में पहले कामाचार था और बाद में उसे नियन्त्रित करके विवाह का रूप दिया गया। इस मत की पुष्टि के लिये नीचे कुछ प्रमाण दिये जा रहे हैं—

(1) पाण्डु कथन
(2) दीर्घतमा का नियम स्थापन
(3) कर्ण का वर्णन
(4) महाभारत
(5) अन्य प्रमाण।

इन प्रमाणों के कामाचार के सिद्धान्त का पोषण होता है। नीचे हम इन पाँचों प्रमाणों का विस्तार से उल्लेख करेंगे—

पाण्डु-कथन—कामाचार का समर्थक पाण्डु के वचन हैं। इनमें कहा गया है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ अनावरण होकर जहाँ चाहती थीं वहाँ जाती थीं। ये कुमारी होती हुई भी अनेक पुरुषों के पास जाया करती थीं। इनको कहीं कोई रोक नहीं सकता था। पशु-पक्षियों की तरह उनको मैथुन कराने की पूरी छूट थी। उत्तर कुरु देश में आज भी यही प्रथा देखी जा सकती है। विवाह की मर्यादा इस देश में देर से प्रचलित हुई है। इसे स्थापित करने वाले उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु थे। एक समय की बात है कि जब उनकी माता का हाथ पकड़ कर एक ब्राह्मण उनके पिता के सामने ही ले जाने लगा और श्वेतकेतु ने इस पर आपत्ति की तो उद्दालक ने सनातन धर्म कहकर उस कृत्य का समर्थन किया। श्वेतकेतु इस धर्म को स्वीकार न कर सके। उन्होंने बल-पूर्वक समाज में स्त्री-पुरुष की मर्यादा की स्थापना की।

दीर्घतमा का नियम स्थापन—दूसरा प्रमाण दीर्घतमा की कन्या है। दीर्घतमा उतथ्य ऋषि का लड़का था। प्रद्वैषी नाम की स्त्री से उसने कई सन्तानों को पैदा किया। लेकिन बाद में उसने सुरभि की सन्तान से गोधर्म (कामाचार) सीख तथा बिना डर वह यह कार्य करने लगा। विवाह की मर्यादा को भंग करने वाले (वित्थ-मर्यादा) दीर्घतमा के आचरण को देखकर ऋषिवर क्रोधित हुए। उन्होंने कहा कि—इसने मर्यादा का उल्लंघन किया है। यह आश्रम में रहने के योग्य नहीं है। अतएव हम सभी इस पाप आत्मा को छोड़ते हैं। दीर्घतमा की स्त्री भी उससे सन्तुष्ट नहीं थी। उसने कहा कि मैं तुम्हारी जन्मान्धता के कारण तुम्हारा तथा तुम्हारे पुत्रों का पोषण करते-करते थक गयी हूँ। अब और भरण-पोषण नहीं कर सकती। दीर्घतमा के राजी करने पर भी जब प्रद्वैषी किसी प्रकार सन्तुष्ट नहीं हुई तो दीर्घतमा ने कहा—मैं आज से ऐसी लोक-मर्यादा की स्थापना करता हूँ कि जीवन भर नारी का एक ही पति सहारा हुआ करेगा। पति के मर जाने पर भी कोई स्त्री दूसरे को अपना पति न बना सकेगी। अन्य पति के पास जाने पर नारी दोषी होगी। पति-हीना स्त्रियों के लिये भी यह आज से पाप है। प्रद्वैषी यह सुनकर रुष्ट हुई अपने पति

को बँधवाकर गगा में फिकवा दिया। इस व्यवस्था से पहले विवाह तथा परिवार मर्यादाहीन था।

कर्ण का वर्णन–कामाचार का तृतीय प्रमाण कर्ण-पर्व में (8/40) कर्ण के द्वारा मद्रदेश (स्यालकोट) की स्त्रियों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। वहाँ सभी स्त्रियाँ अपनी इच्छा से पुरुषों से मिला करती हैं। वे शराब में मदमाती होकर अपने वस्त्रों को उतार कर फेंक देती हैं, नाचने लगती हैं। मैथुन में वे किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं करती हैं वे जिसके पास चाहती हैं चली जाती हैं। बाल्हीक (पंजाब) की नारियों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जाती थीं। इस देश की नारियों के शिथिल आचार का कारण एक सती स्त्री का शाप था। इस स्त्री को वाल्हीक लुटेरों ने उसके पति से छीना था और उसका सतीत्व भंग किया गया था उस सती के शाप के कारण अब वहाँ की सारी स्त्रियाँ कुलटा तथा वैश्या हो गयी थीं।

महाभारत—1/122/3 में कहा गया है कि पूर्वकाल में स्त्रियाँ बन्धनयुक्त स्वेच्छा से जहाँ चाहें जाने वाली और स्वतन्त्र थीं—वे कुमारी दशा में ही अनेक पुरुषों के साथ जाया करती थीं। ऐसा करना अधर्म नहीं था। क्योंकि यही उस समय की परिपाटी ही थी। इसी सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु जिन्हें यह धर्म असह्य था, उन्होंने बल-पूर्वक स्त्री पुत्र को मर्यादा स्थापित की।

अन्य-प्रमाण—महाभारत में कुछ ऐसे देशों का भी वर्णन किया गया है जहाँ पर कि विवाह कोई बन्धन नहीं था। गीता में उत्तर कुरु के सम्बन्ध में कहा है कि वहाँ स्त्रियाँ स्वेच्छा के साथ विचरण किया करती थीं। पहले बताया जा चुका है कि पाण्डु के कथानुसार उत्तर कुरु में उस समय कामाचार का प्रचलन था। सहदेव दक्षिण दिशा की विजय करते हुए महिष्मती नगरी में पहुँचे। वहाँ पर स्त्रियाँ स्वैरिणी होकर जहाँ चाहती थीं वहाँ विचरण करती थीं।

हरिदत्त वेदालंकार ने उक्त प्रमाणों के आधार पर की गई कामाचार की मान्यता का खण्डन किया है तथा उसको असंगत और अनैतिहासिक कहा है। ये कथाएँ केवल किंवदन्तियों पर आधारित हैं। अतएव इनको ऐतिहासिक नहीं कहा सकता है। महाभारत के अलावा और भी वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख नहीं किया गया है। वैदिक साहित्य से स्पष्ट रूप से विवाह के बाद परिवार की व्याख्या का संकेत मिलता है।

विदेशी विद्वानों ने भी कामाचार के विचार का खण्डन ही किया है। प्रथम खण्डकर्त्ता डारविन महोदय हैं। वेस्टरमार्क ने इस सिद्धान्त के खण्डन का समर्थन भी किया है। इस विचार विमर्श के परिणामस्वरूप कामाचार की मान्यता पूर्णरूप से अमान्य सिद्ध हो जाती है।

(2) **परिवार का जीवशास्त्रीय उद्भव**—विवाह का उद्गम अगर कामाचार या अनावरण से नहीं हुआ तो आखिर इसका मूल क्या है? इसका उत्तर हमको जीवशास्त्र से प्राप्त होता है। स्त्री तथा पुरुष के सम्बन्ध की स्थायित्व तथा परिवार का मूल कारण अपनी जाति को सुरक्षित बनाये रखने की चिन्ता है। यदि स्त्री के

गर्भ के बाद, सन्तान होने के बाद, बड़ा होने पर उसकी रक्षा न की जाय तो मानव जाति विनष्ट हो जायगी। गोरिल्ला और चिप्पांजी भी परिवार बनाकर रहते हैं। छोटे प्रकार के जीवों में उत्पत्ति अधिक होती है; मछली आदि को परिवार की कोई चिंता नहीं होती है। लेकिन मुर्गियाँ अपने अण्डे को सेती हैं उस समय नर उनको चारा लाकर देता है। यदि ऐसा न हो तो मुर्गियों की जाति ही समाप्त हो जाये। स्तन वाले जानवरों में देख-रेख की आवश्यकता होती है और यह देख-रेख दीर्घकालीन होती है। औरंगउटान 8 से 12 वर्ष में युवा होता है। इस समय यदि माता-पिता उसकी रक्षा न करें तो वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता है। अतएव बच्चे के स्नेह आदि के लिये मातृभाव और पितृभाव की उत्पत्ति होती है। इन भावनाओं के बलवती होने का एक कारण यह भी है कि इनके बच्चों की संख्या कम होती है, अतएव इनकी पुष्टि करने के लिये ये परिवार बनाकर रहते हैं। बन्दरों से लेकर जंगली जानवरों तक में बच्चों की रक्षा के लिए मांद बनाना, घोंसला बनाना, भोजन का प्रबन्ध करना आदि बातें देखने को मिलती हैं। माता-पिता और बच्चे का परिवार संसार में सार्वभौम है। उनमें कामाचार कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। उक्त वर्णन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अपनी जैविकीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये ही मनुष्य ने परिवार की व्यवस्था को जन्म दिया है।

(3) **उद्भव का मनोवैज्ञानिक आधार**—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समाज में उसका जन्म होता है; समाज में ही उसका पालन-पोषण होता और अन्त में वह समाज में ही विलीन हो जाता है। वृहदारण्यक उपनिषद में एक श्लोक (1/4/6/3) है। उसका यह आशय है कि आरम्भ में पुरुषाकार आत्म ही था, उसने भली-भांति अवलोकन कर आत्मा से भिन्न कोई दूसरा व्यक्ति पदार्थ नहीं देखा, निश्चय-पूर्वक उसने अकेले में रमण नहीं किया, इसी कारण आज भी एकांकी पुरुष रमण नहीं करता।

दुनिया में कौन नहीं चाहता कि उसका कोई साथी नहीं हो। पुरुष तथा स्त्री दोनों ही अपने सुख तथा दुख के भागीदार एक दूसरे को बनाते हैं। मिलकर वे एक साथ रहते हैं, साथ ही बड़े से बड़े दुख को सह लिया करते हैं। सुख के समय में वे एक साथ मिलकर सुख मनाते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य अकेले न रहने के कारण, साथ रहने की उसकी प्रवृत्ति ने परिवार को जन्म दिया है।

हिन्दू परिवार का स्वरूप एवं विकास

हिन्दू परिवार का स्वरूप—'बाइबिल' में सृष्टि के निर्माण के समय भगवान ने कहा है कि विवाह होने के पश्चात् पुरुष अपने माता-पिता को व्यक्त कर देगा तथा पत्नी के साथ पृथक रहेगा। (जीनसज्ञ 2/24) लेकिन हिन्दू समाज में ऐसा नहीं होता। वैदिक युग से ही भारत में यह व्यवस्था प्रचलित है कि पुत्र विवाह के बाद अपनी स्त्री तथा सन्तानों के साथ एक ही घर पर रहते हैं। कुछ धर्मशास्त्र ऐसा कहते हैं कि भाई पिता के जीवन काल में एक ही साथ रहें। (आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/614/9)। ऐसा ही परिवार संयुक्त परिवार कहा जाता है। यह निवास भोजन, धर्म-कर्म और आर्थिक दृष्टि से संयुक्त ही होता है पिता उसके पुत्र और

बहुयें, भाई तथा भाभियाँ आदि अनेक परिवार एक ही घर में निवास करते हैं। इन सबका भोजन भी एक साथ बनता है, समस्त कर्मकाण्ड एक ही साथ किये जाते हैं। सम्पत्ति का स्वामित्व, उत्पादन और उपभोग एक साथ ही होता है। परिवार के सदस्य अथवा कोई सदस्य जो कुछ भी कमा कर लाता है, उसका उपभोग घर के सभी लोग करते हैं। संयुक्त परिवार एक कारपोरेशन या सामूहिक संगठन है, इसका मुखिया गृहपति एक प्रकार का ट्रस्टी है जो समूचे परिवार की सम्पत्ति का प्रबन्ध इस दृष्टि से करता है कि उसके सदस्यों का एहिक तथा पारलौकिक कल्याण हो, सदस्यों की सारी कमाई संयुक्त कोप में डाल दी जाती है और गृहपति सबकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इस कोष का यथेष्ट उपभोग कर सकता है। इसमें हर आदमी अपनी योग्यता के अनुसार कमाता है तथा आवश्यकतानुसार प्राप्त करता है और इस प्रकार काफी अंशों में समाजवाद एक आदर्श को पूरा करता है।

अनेक कुटुम्बों के साथ रहने के कारण परिवार काफी बड़े हो जाया करते हैं। परिवार एक लघु राज्य के समान होता है। परिवार का मालिक इस राज्य का निरंकुश शासक होता है। इस प्रकार से हिन्दू संयुक्त परिवार में निम्नलिखित चार विशेषतायें देखने को मिलती हैं—

संयुक्त हिन्दू परिवार की विशेषतायें—

(1) पिता के साथ पुत्र तथा पौत्र आदि अपने परिवार के साथ एक साथ रहते हैं।

(2) एक निवास, पाक तथा संयुक्त रूप से सभी लोग धर्म-कर्म का पालन करते हैं।

(3) सभी लोगों को सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करने का अधिकार है तथा सभी एक साथ उसका उपभोग करते हैं।

(4) परिवार के सभी सदस्य परिवार के मुखिया के आश्रित होते हैं। यह प्रथा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक जीवित रही। अब इस प्रथा का धीरे-धीरे लोप हो रहा है।

हिन्दू परिवार के विकास की पाँच अवस्थाएँ—ऊपर हमने हिन्दू परिवार के स्वरूप का उल्लेख किया है। इस स्वरूप में हमने सम्मिलित परिवार के स्वरूप को देखा तथा इसके अन्तर्गत पायी जाने वाली विशेषताओं का उल्लेख किया। अब हम यह देखेंगे कि हिन्दू परिवार का यह विकास किन-किन स्तरों से गुजरा है। तो यह विकास पाँच अवस्थाओं में हमको दिखाई देता है—

प्रथम अवस्था	पूर्व वैदिक युग	इस युग में हिन्दू समाज के अन्तर्गत संयुक्त परिवार की प्रधानता देखने को मिलती है।
द्वितीय अवस्था	उत्तर वैदिक युग से 600 ई० पूर्व तक	इसी युग में संयुक्त परिवार का विघटन आरम्भ हो गया था। पुत्र पिता की सम्पत्ति में अपना भाग अलग करने लगे।

तृतीय अवस्था	600 ई० से पूर्व से 600 ई० तक	इस काल में आकर विघटन की प्रवृत्तियाँ और अधिक प्रबल ही गयीं। पुत्रों के बंटवारे के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। विभाग की मुक्त कठ से प्रशंसा की जाने लगी। अपने द्वारा अर्जित की गई सम्पत्ति पर करने वाले का अधिकार माना जाने लगा। माता-पिता की मृत्यु के बाद हुए बँटवारे को अच्छा माना गया। लेकिन यदि पिता उस सम्पत्ति का दुरुपयोग करता था तो पुत्र चाहते तो सम्पत्ति का विभाजन कर सकते थे।
चतुर्थ अवस्था	600 ई० से 1900 ई० तक।	इस समय में आकर लोगों ने संयुक्त परिवार प्रथा की सराहना की है। विज्ञानेश्वर आदि ने स्वअर्जित सम्पत्ति के क्षेत्र को संकुचित कर दिया। जीमूतवाहन ने पिता को असाधारण अधिकार देकर पिता के जीवन-काल में पारिवारिक सम्पत्ति के पुत्रों द्वारा विभाग की अवस्था का बंगाल में सर्वथा ही अन्त कर दिया।
पंचम अवथा	वर्तमान युग 1900 से अब तक।	इस युग में आकर विघटन की प्रवृत्तियों को पुनः बल मिल गया। स्वअर्जित सम्पत्ति के अधिकार को कानूनी बना दिया गया। विधवाओं के अधिकार को बढ़ाया गया। पश्चिम के प्रभाव से प्रभावित पारिवारिक विशेषताओं ने पारिवारिक विघटन को प्रोत्साहित किया, प्रेरित किया।

यहाँ हम प्रथम तीन स्तरों का ही विस्तृत उल्लेख करेंगे क्योंकि अन्य दो प्राचीन-काल से कोई सम्बन्ध नहीं।

(1) पूर्व वैदिक युग—इस युग में संयुक्त परिवार प्रधान था। मेक्डानल और कीथ ने इस काल में संयुक्त परिवार के प्रति सन्देह किया है। इस सम्बन्ध में किसी प्रमाण के अभाव में ही उन्होंने ऐसा किया। लेकिन इन विद्वानों का मन तर्कसंगत नहीं है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर संयुक्त परिवार के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख मिलता है।

(क) ऋग्वेद में पुरोहित वर वधू को आर्शीवाद देता कहता है, तुम यहीं इसी घर में रहो, वियुक्त मत होओ। अपने घर में पुत्री और पौत्रों के साथ खेलते हुये आनन्द मानते हुये सारी आयु का उपभोग करो।' इस स्थल पर पुत्रों और पौत्रों का एक साथ निवास करना सम्मिलित परिवार प्रथा का ही प्रमाण है। इसी सन्दर्भ में आगे कहा गया है—'तू सास-ससुर देवर और ननद पर शासन करने वाली स्त्री' बन (विवाह के बाद यदि पुत्र अलग हो जाता तो सास, ससुर देवर और ननद आदि सब का एक साथ रहना कैसे सम्भव हो सकता था। वैदिक साहित्य में और भी बहुत से स्थान हैं जिनसे कि संयुक्त परिवार का प्रमाण सरलता से मिल जाता है। उदाहरण के लिए अथर्ववेद का स्थामन सूक्त जिसमें कि रात के समय परिवार के सभी सदस्यों को सुलाने वाले मंत्र दिये हैं। इस सूत्र से स्पष्ट है कि एक ही प्रकोष्ट में परिवार के अनेक सदस्य होते हैं।

(2) उत्तर वैदिक युग से 600 ई० तक—इस काल की आरम्भिक अवस्था से ही संयुक्त परिवार का विघटन आरम्भ हो गया। पुत्र अपने पिता के भाग से अपने भाग को अलग करने लगे। इस काल के द्वितीय चरण में 600 ई० पूर्व से 500 ई० तक विघटन की प्रवृत्तियाँ पहले की अपेक्षा अधिक प्रबल हो गयीं। पुत्रों के बँटवारे के अधिकार को मान लिया गया। अपने द्वारा अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति पर अधिकार अर्जित करने वाले व्यक्ति का मान लिया गया। अधिकारों का दुरु-पयोग करने वाले पिता के जीवन-काल में ही पुत्रों को बँटवारा करने का अधिकार दे दिया गया। इस प्रवृत्ति के प्रमाण वैदिक साहित्य और स्मृतियों में देखने को मिलते हैं—

(क) तैत्तरीय संहिता (3/1/9/4) में मनु ने पुत्रों में दाय का बँटवारा किया।

(ख) ऐतरेय ब्राह्मण (22/9) में भाइयों ने स्वयं आपस में बँटवारा किया है। उन्होंने छोटे भाई नामनिर्दिष्ट को कोई भाग नहीं दिया। छोटे भाई ने पिता को कोई भाग नहीं दिया। छोटे भाई ने पिता से अपना हिस्सा माँगा।

(ग) जैमिनी ब्राह्मण (3/156) में बूढ़े और बिस्तर पर पड़े हुए पिता के पुत्रों ने उसके जीवन-काल में अपने हिस्से को बाँट लिया।

(घ) चाडव ब्राह्मण (16/44/3-4) में ऐसा कहा गया है कि पिता के प्रिय पुत्र को अधिक भाग प्राप्त होता है। यहाँ पर भी विभाजन का संकेत किया गया है।

(ङ) स्मृतियों ने बँटवारे का संकेत नहीं किया है, बल्कि उनकी प्रशंसा की है गौतम ने कहा कि बँटवारे से धर्म की वृद्धि होती है। वृहस्पति ने भी बँटवारे से धार्मिक कार्य का विस्तार ही माना है। मनु ने भी पृथकता को धर्म के अनुकूल

माना है । स्मृतिकारों ने बंटवारे की प्रथा की प्रशंसा के अतिरिक्त दो बातों को और माना है—

(1) बँटवारा पिता की मृत्यु के बाद हो ।

(2) यदि विभाजन पिता के जीवन-काल में हो तो उसकी इच्छा के अनुसार हो ।

उक्त प्रमाणों को देखते हुए हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि द्वितीय चरण में आकर विघटन की प्रवृति काफी बलवती हो गयी थी । शास्त्रकारों का उसी समाज में यह भी प्रयास चल रहा था कि बँटवारा द्वारा संयुक्त परिवार विनष्ट न होने पाए । गौतम ने यह व्यवस्था कर दी कि ज्येष्ठ पुत्र सारी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बने । संख भी यही निर्देश देते हैं । कौटिल्य ने भी यही राय दी है । मनु भी ज्येष्ठ के सारी-सारी सम्पत्ति का मालिक बनाने की अनुमति देते हैं । लेकिन कुछ विशेष दशाओं में इन शास्त्रकारों ने पिता के रहते हुए भी बँटवारे को उचित ही माना । उदाहरण के लिये पिता के बूढ़े पागल अथवा रोगी की दशा में पुत्र बंटवारा कर सकते थे । आगे चलकर यह सिद्धान्त की बात बन गयी है कि पिता की सम्पत्ति में पुत्र का अधिकार है । इसे सबसे पहले विष्णु ने प्रतिपादित किया तथा पांडय, वल्क्य, वृहस्पति तथा व्यास आदि ने इसका समर्थन किया । इसका परिणाम यह हुआ कि इस काल में पितृ प्रधान परिवार का अन्त हो गया तथा साझेदारी वाले परिवार का जन्म हुआ ।

(3) **तृतीय अवस्था 600 ई० से मध्य-काल के पूर्व तक**—इस अवस्था में पुनः संयुक्त परिवार की ओर झुकाव बढ़ जाता है । शास्त्रकारों ने स्वअर्जित सम्पत्ति की सीमा को निश्चित कर दिया । स्वअर्जित सम्पत्ति के रूप ये थे—

(क) विद्या धन या अपनी विद्या से प्राप्त किया गया धन ।

(ख) शौर्यधन या अपने शौर्य से प्राप्त किया गया धन ।

कात्यायन ने कहा कि यदि परिवार का धन खाकर विद्या प्राप्त की जाती है तो उस पर परिवार का अधिकार होगा और यदि अन्य किसी धन से विद्या प्राप्त की गयी है तो वह अर्जन अविभाज्य होगा । युद्ध मे (कात्यायन ने कहा) यदि परिवार के रथ या तलवार का प्रयोग किया गया तो उससे अर्जित धन पर पूरे परिवार का अधिकार होगा । इस तरह व्यास ने भी स्वअर्जित सम्पत्ति का कुठाराघात किया तथा संयुक्त परिवार को खण्डित होने से बचा लिया । विभिन्न टीकाकारों ने कात्यायन का समर्थन किया है । इन्होंने भी स्वअर्जित सम्पत्ति के क्षेत्र को सीमित किया तथा संयुक्त कुटुम्ब पर विशेष बल दिया । बारहवीं शताब्दी से विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन के सिद्धान्त प्रचलन में आये जिससे कि संयुक्त परिवार प्रथा को प्रोत्साहन दिया गया है ।

जन्मना स्वत्ववाद—विज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित परिवार में जन्म के समय से ही पुत्र का अधिकार पिता की सम्पत्ति पर हो जाता है । इस मत पर आधारित कुटुम्ब मिताक्षरा कहा गया ।

ऊपर मस्वत्वाद—यह मत भी जीमूतवाहन द्वारा प्रतिपादित है । उसमें कहा गया है । पिता के जीवनकाल में लड़कों का उनकी सम्पत्ति में कोई अधिकार

नहीं है। उसके मरने के बाद भी पुत्रों का अधिकार हो सकता है। उस मत पर आधारित परिवार दाय भाग कहलाया।

उक्त दोनों मतों ने संयुक्त परिवार को पुष्ट किया—इन दोनों मतों ने संयुक्त परिवार प्रथा की टूटती नसों में फिर से शक्ति का संचार किया। मुस्लिम सत्ता जब भारतवर्ष में दृढ़ हो गयी तो संयुक्त परिवार प्रथा फिर से दृढ़ हुई। मुसलमानों के आक्रमणों ने भारतीय जीवन को हिला दिया था। समाज की रक्षा एक समस्या बन गयी थी। लोगों ने रक्षा के भाव से सामाजिक सूत्रों को स्थिर और मजबूत करना आरम्भ कर दिया था। एकता की आवश्यकता बढ़ गयी थी। इन बदलती परिस्थितियों के कारण ही संयुक्त परिवार फिर से दृढ़ता को प्राप्त कर सका।

उक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय युग में संयुक्त परिवार की प्रथा जीवित रही। यद्यपि मध्य में इसके विघटन की प्रवृत्तियाँ जागने लगीं थीं लेकिन वातावरण अनुकूल न देखकर वे पुनः सो गयीं। शास्त्रकारों ने पारिवारिक विघटन की खूब रक्षा की।

प्रश्न (2) प्राचीन भारतीय जीवन में गृहस्थ के महत्व पर प्रकाश डालिए।

अथवा

आर्यों की गृह-कर्मकाण्ड विधियों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

अथवा

प्राचीन भारत में ग्रहस्थ के कर्मकाण्डों का संक्षिप्त में प्रकाश डालिए।

प्राचीन भारत में ग्रहस्थ जीवन—भारतीय जीवन में विवाह का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि जगत को सुसंचालित करने के लिए विवाह ही एक-मात्र साधन है। विवाहोपरान्त ग्रहस्थी बसाकर स्त्री-पुरुष मानव जाति की वृद्धि के लिए पर्याप्त योगदान करते हैं। इसी कारण गृहस्थ आश्रम को अन्य सभी आश्रमों से श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि ब्रह्मचर्य काल में अनुभूत ज्ञान व प्राप्त शिक्षा का सदुपयोग करने का अवसर भी गृहस्थ, आश्रम में प्रवेश करने पर मिलता है। इसके अतिरिक्त वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम की भूमिका यही आश्रम है, उनकी सुदृढ़ पाठिका भी बन कर ही बनाई जा सकती है। इस प्रकार जीवन में ग्रहस्थी का अत्यन्त महत्व है।

विवाह के उपरान्त पति-पत्नी परिवार के सभी सदस्यों के साथ सुखपूर्वक जीवन-यापन करते हैं। इसमें परिवार में विभिन्न सम्बन्धों में मधुरता व सहानुभूति की भावना उदित होती है जिसको शिक्षा ब्रह्मचर्य आश्रम में ही प्राप्त हो सकती है। जहाँ कि विभिन्न स्थानों व परिवारों से आए शिष्य परस्पर सहभाव से रहते हैं। यही भावना परिवार में विकसित होती है और धीरे-धीरे राष्ट्र व देश के हितों के लिए बढ़ती जाती है। प्राचीन काल में गार्हस्थ जीवन के सुखी होने के वर्णन मिलते हैं। न केवल प्राचीन काल में ही अपितु आज भी गृहस्थ-जीवन में परस्पर सहभाव मैत्रीपूर्ण व्यवहार की अत्यन्त आवश्यकता होने के कारण ही इसका अत्यन्त महत्व है।

ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम के सभी मनुष्य गृहस्थ-आश्रम पालन करने वाले परिवारों से ही आश्रम में करते थे। शिष्य गुरुकुल में रहते हुए आचार्य के लिए गृहस्थों से भिक्षा लाते थे। वानप्रस्थी भी गृहस्थों द्वारा अन्न जल पाते थे। इस प्रकार गृहस्थ जीवन का अन्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। न केवल वैदिक काल में ही अपितु आधुनिक काल में विभिन्न सम्पन्न परिवारों द्वारा इनके निराश्रित व्यक्तियों को आश्रय व सहायता प्राप्त होती है। अतिथि-सेवा या ब्रह्मचारी या साधु-संन्यासी आदि की सेवा करना पुण्यकार्य समझा जाता था, इससे इहलोक व परलोक दोनों के शुभ गति प्राप्त होती है। ऐसा हमारे पूर्वजों का विचार था। किन्तु आज धार्मिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तो नहीं, लेकिन मानवता के नाम पर परस्पर सहानुभूति व दया की भावना से निराश्रित, असहाय व साधु आदि के प्रति सेवा-भाव देखा जा सकता है। इस प्रकार गृहस्थ-जीवन का महत्व मुखर हो उठता है।

मानव जन्म ले, इसके साथ ही उसे अपने उत्तरदायित्वों के भार का ज्ञान करा दिया जाता है। वैदिक काल में मानव पर तीन प्रकार के ऋण माने जाते थे—पितृऋण, ऋषिऋण व देवऋण। इस ऋणत्रय से मुक्ति पाने के लिए मानव को विभिन्न आश्रमों में रहकर भारमुक्त होना पड़ता था। ब्रह्मचर्य जीवन पूर्ण करके मानव गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋण को पूर्ण करता था। गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान को गृहस्थी जीवन में व्यावहारिक रूप में उपयोगी बनाकर मनुष्य के ऋषिऋण से मुक्त होने का वर्णन मिलता है। इसी भाँति गृहस्थ जीवन में ही यज्ञादि सम्पन्न करके वह देवऋण से मुक्त होता था। इस भाँति हम देखते हैं कि वैदिक काल में गृहस्थ-जीवन का पालन करके ही मनुष्य ऋणत्रय से मुक्त होकर शुभ-गति प्राप्त करने का अधिकारी होता था। अतः गृहस्थ-जीवन का महत्व स्पष्ट हो जाता है। आज के युग में ऋणत्रय को समझ कर उससे मुक्त होने की कामना इतनी नहीं दीखती क्योंकि समय के साथ-साथ सोचने का ढंग भी बदल गया और धर्म का महत्व क्षीण होता गया। लेकिन फिर हम देखते हैं कि अध्ययन पूर्ण कर लेने के उपरान्त वह गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करता है, सन्तान उत्पन्न करता है, उसे योग्य व विद्वान बनाने का भरसक प्रयास करता है। पूर्व प्राप्त शिक्षा द्वारा ही वह परिवार का लालन-पालन व भरण-पोषण करता है। यह सब उत्तरदायित्व गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने पर ही सम्भव है, अतएव ग्राहस्थ जीवन परिवर्तित हुए युग में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

वैदिक युग में आर्यों ने अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित किया था—वर्गचतुष्टय की प्राप्ति करना। इसे वह आश्रम-व्यवस्था का पालन करते हुये पूर्ण करता था। वर्ग चतुष्टय अर्थात् धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति गृहस्थ-जीवन में ही सम्भव है। धर्म करने पर अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि प्राप्त होती है, अर्थ द्वारा ऐतिहासिक उन्नति सम्भव है, काम द्वारा शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति, और जीवन के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना अर्थात् मोक्ष पाना, ये सभी गृहस्थ ही पूर्ण कर सकता है, इस विचार से आर्य विभिन्न आश्रमों में रहकर जीवन-यापन करते थे। गृहस्थ-जीवन में धर्म-पालन, अर्थ प्राप्ति तथा उसका सदुपयोग; काम-तृप्ति, मोक्ष की ओर अग्रसर होना, सभी सम्भव था। इस कारण वर्ण-चतुष्टय को साधने वाला गृहस्थ-जीवन अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

आधुनिक युग में यद्यपि इस वर्ग-चतुष्टय का बहुत महत्व नहीं किन्तु फिर भी अर्थ, काम आदि पारिवारिक जीवन में ही सम्भव है और न्यायसंगत है। व्यक्ति के लिये गृहस्थ जीवन व्यतीत करना न केवल धर्म की दृष्टि से ही, अपितु मानव दृष्टिकोण से बहुत महत्व रखता है।

इसके अतिरिक्त वैदिक-काल में निर्धारित किये गये करणीय कर्त्तव्यों में से पंच-महायज्ञ व षोडस-संस्कार भी गृहस्थ-जीवन में सम्पन्न हो सकते थे।

इस भाँति हम देखते हैं कि भारतीय-जीवन में न केवल वैदिक-काल में ही अपितु आज भी गृहस्थ-जीवन का विशेष महत्व है। इसके द्वारा मनुष्य सर्वांगीण विकास करने में समर्थ होता है, न केवल इहलोक बल्कि परलोक में शुभगति प्राप्त करता है। इस प्रकार सामाजिक, आध्यात्मिक व नैतिक सभी दृष्टियों से गृहस्थ-जीवन विशेषतः महत्वपूर्ण हो जाता है।

आर्यों के ग्रह कर्मकाण्ड (हिन्दू गृही के कर्मकाण्ड)—भारतीय ग्रहों में गृहस्थ के द्वारा पालन किये जाने वाले कर्मकाण्डों तथा ब्रह्म मुहूर्त में जागरण से रात्रि में शयन पर्यन्त सभी छोटे-बड़े कार्यों का बहुत विशुद्ध ढंग से वर्णन किया गया है। हम यहाँ उसका वर्णन करेंगे—

स्नातक का पारिवारिक जीवन ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति के बाद विवाह से आरम्भ होता है। परिवार और कुल की वृद्धि के लिये धर्मशास्त्रों ने गृही के लिये कार्य को स्पष्ट रूप से निर्धारित करते हुये उसके कर्त्तव्यों का भी विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। आर्यों के कर्मकाण्डों को जो उनको रोज घर परिवार में करने पड़ते हैं, पाँच भागों में विभक्त किया है। इसे पंच महायज्ञ कहा जाता है।

शतपथ ब्राह्मण, तैत्तरीय आरण्यक, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र तथा बाद की सभी स्मृतियों में इसका विधान किया गया है ये पांच यज्ञ तथा इनका सामान्य क्रम नीचे दिया जा रहा है—

पंच महायज्ञों का मूल उद्देश्य—इनका वास्तविक प्रयोजन प्रतिदिन भगवान के प्रति भक्ति तथा स्वाध्याय, वैदिक साहित्य का सृजन करने वाले ऋषियों के प्रति श्रद्धा, पितरों का स्मरण, समूची सृष्टि तथा मनुष्य मात्र के प्रति उदारता, दया अनुकम्पा के भाव प्रदर्शित करना है। अग्निस्टोम आदि वैदिक यज्ञ बहुत व्ययसाध्य तथा आडम्बरपूर्ण थे, वे पुरोहितों के द्वारा कराए जाते थे। उनका उद्देश्य स्वर्ग प्राप्त करना था किन्तु पंचमहायज्ञ बहुत संक्षिप्त और सरल थे। ये पाँच महायज्ञ इस प्रकार थे—

(1) ब्रह्म यज्ञ
(2) देव यज्ञ
(3) भूत यज्ञ
(4) पितृ यज्ञ
(5) मनुष्य यज्ञ।

(1) **ब्रह्म यज्ञ**—इसका प्राचीनतम उल्लेख सम्भवतः शतपथ ब्राह्मण में है। यहाँ ब्रह्म यज्ञ को प्रतिदिन किया जाने वाला वेद का स्वाध्याय बताया गया है और

इसका फल स्वर्णपूर्णा सम्पूर्ण पृथ्वी के दान से प्राप्त होने वाले लोक से तीन गुना अक्षय लोक बताया गया है। यह स्वाध्याय की महिमा के सूचक अर्थवाद मात्र थे। इनका उद्देश्य सबको इतिहास, पुराण और वेदाध्ययन में प्रवृत्त कराना था। ब्रह्म यज्ञ में वेद के अतिरिक्त वेदांग, गाथारांशसी (वइरों की स्तुतियाँ) तथा अन्य विद्यार्थी का अध्ययन भी सम्मिलित था। इसका प्रभाव प्रयोजन वैदिक ज्ञान की प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखना तथा आगे बढ़ाना था। इसी दैहिक स्वाध्याय से वैदिक साहित्य कंठस्थ होकर हजारों वर्षों तक सुरक्षित रहा। बाद में यह यज्ञ वेदाध्ययन का प्रतीक बन गया।

(2) **देव यज्ञ**—देवताओं के प्रति श्रद्धा के रूप में कुछ आहुतियाँ प्रदान करना देव यज्ञ कहा जाता था। ऐसा करना प्रत्येक साधनहीन गृही के लिये सम्भव था। हर कोई लम्वे, लम्बे यज्ञ करने में असमर्थ था। अतएव देवताओं के प्रति अपने भक्तिभाव के प्रकटीकरण का यह एक सरल साधन था। ये सभी आहुतियाँ सूर्य अग्नि तथा प्रजापति आदि देवताओं के प्रति की जाती थीं।

(3) **भूत यज्ञ**—घर में रोज प्रयोग किये जाने वाले अन्न में से भूतों के लिये जो बलि निकाली जाती थी उसको ही भूत यज्ञ कहते थे। इन्द्र, यम, वरुण आदि देवों के अतिरिक्त भूतों, पितरों तथा अन्त में कुत्तों, पतितों, चाण्डालों, कोढ़ी आदि पाप रोग वालों तथा कावों एवं कीड़ों के लिये बलि निकाली जाती थी। यह यज्ञ सम्पूर्ण चराचर जगत में सबके प्रति उदारता एवं सहिष्णुता के भाव का प्रतीक है। अकेले भक्षण करना भारतीय परम्परा में पाप समझा जाता था। हमारा आदर्श त्यागपूर्ण भोग था। यह यज्ञ इसी त्याग भावना का प्रतीक है।

(4) इससे पितरों का सम्मान किया जाता था। इस सम्मान को प्रदर्शित करने के प्रमुख तीन मार्ग थे—

(क) जलदान अथवा तर्पण के द्वारा,

(ख) बलि प्रदान करके,

(ग) प्रतिदिन कम से कम एक ब्राह्मण को भोजन का दान करके।

(5) **मनुष्य यज्ञ**—इसको नृ-यज्ञ भी कहा गया है। अन्य शब्दों में इसका अर्थ है अतिथियों का सम्मान। वैदिक काल में स्नातक को उपदेश देते हुए अतिथि को देवरूप में स्वीकार करने की सीख दी जाती थी। 'अतिथि देवो भव' अथर्ववेद में ऐसा कहा गया है कि अतिथि को भोजन कराने में पापों का नाश होता है। अतिथि के प्रथम रात रहने से पुलोक और चतुर्थ रात्रि रहने से गृहस्थ अत्यन्त पुण्य लोक का फल प्राप्त करता है। अपरिमित रात्रियों के निवास से अपरिमित लोक का फल प्राप्त होता है। परवर्ती स्मृतिकारों ने भी इसी प्रकार के भाव प्रकट किये। मनु ने अतिथि की सेवा से धन, आयु और स्वर्ग की प्राप्ति कहा है। पराशर के अनुसार भी अतिथि स्वर्ग को जाने वाला होता है। महाभारत में आतिथ्य सत्कार में प्राणदान तथा पत्नीदान करने तक की कथाएँ प्रचलित हैं। अतिथि ब्राह्मण को माना जाता था। लेकिन भोजन के समय यदि चाण्डाल भी आ जाय तो हम उसको अतिथि ही कहेंगे।

गृही के अन्य कर्मकाण्ड—गृह-जीवन में अन्य और भी कर्म करने पड़ते थे। इन कर्मों का उल्लेख नीचे किया गया है।

(1) अग्नि का निरन्तर प्रज्वलन,

(2) पर पोषक,

(3) आजीविका।

(1) **अग्नि का प्रज्वलन**—आश्वलायन में पाणिग्रहण के अवसर पर प्रज्वलित अग्नि को गृहों के निरन्तर प्रज्वलित रखने के लिये कहा गया है। गृही की अनुपस्थिति में गृहणी उसकी अनुपस्थिति से पुत्र अथवा पुत्री, उसकी भी अनुपस्थिति में अन्तवासी शिष्य इसकी रक्षा करेंगे। बराबर अग्नि का प्रज्वलन कुल को निरन्तर बनाये रखने का प्रतीक है।

(2) **पर पोषक**—गृहस्थ दूसरों का पालन-पोषण करता है। उसके आश्रित माता, पिता, पुत्र, पत्नी, सन्तान, शरण में आया हुआ कोई असहाय व्यक्ति अतिथि तथा अग्नि आदि का पोषण दरिद्र गृहस्थ का भी कर्त्तव्य है। उसका कर्त्तव्य है कि वह अतिथि के साथ-साथ भोजन करे। मनु का कथन है कि अतिथि से पहले भोजन करने वाले के शरीर को कुत्ते तथा गिद्ध और स्वान खा जाते हैं।

(3) **आजीविका**—जीविकोपार्जन की वृत्ति को आजीविका कहते हैं। मनु ने आजीविका को सात भागों में विभाजित किया है—

(क) ऋत खेत कट जाने पर उसमें पड़े हुए दाने को बीनना,

(ख) अमृत बिना माँगी हुई भिक्षा,

(ग) मृत माँगी हुई भिक्षा,

(घ) प्रमृवस खेती का काम,

(ङ) सत्यान्टन वाणिज्य करना ,

(च) पूर्व वृत्ति सेवा कार्य करना।

मनु का कहना है कि गृहस्थ आजीविका प्राणियों को कष्ट न पहुँचाने वाली तथा निन्दा करने वाले कर्मों से रहित होनी चाहिये। नारद महाराज ने आजीविका को तीन भागों में विभक्त किया है—

(1) शुद्ध,

(2) शबल,

(3) कृष्ण घूस।

(1) **शुद्ध**—इसके अन्तर्गत वेद विद्या, शौर्य, तप, शिष्य, यज्ञ और वंश परम्परा आते हैं।

(2) **शबल**—सूद, कृषि, वाणिज्य, शुल्क, शिल्प तथा उपकार के बदले प्राप्त किया हुआ धन आता है।

(3) **कृष्ण घूस**—जुवा, चोरी, ठगी, डकैती आदि इसके अन्तर्गत आते हैं। जो व्यक्ति जिस माध्यम से धन की प्राप्ति करेगा उसको स्वर्ग तथा परलोक में वैसा

ही फल भी प्राप्त होगा। कुछ अन्य स्मृतियों में भी न्यायपूर्ण ढंग से प्राप्त किया गया धन को ही महत्व प्रदान किया गया है।

ऊपर जिन कार्यों का उल्लेख किया गया है उनके अलावा अहिंसा, सत्य सब भूतों पर दया तथा सामर्थ्य के अनुसार दान देना भी ग्रहस्थ के कार्य बताये गये हैं। अन्य की स्त्री के साथ सम्पर्क न रखना, अपनी स्त्री और धरोहर की रक्षा तथा न दी हुई वस्तु को न देना, मधुमास आदि का वर्जन भी उसका पंच धर्म होता है। कहा गया है हिन्दू परिवार के लिये ग्रहस्थ एक आश्रम होता है। इसमें व्यक्ति दो दृष्टिकोणों से निवास करता है।

(1) मनुष्य स्वयं इस संसार से बहुत दूर है। यह संसार उसके लिये क्षण भंगुर है। यह कर्मभूमि भी है।

(2) व्यक्ति के पारिवारिक जीवन की परिणति धर्म कर्म ही है।

इन्हीं दृष्टिकोणों से जीवन-यापन करते हुए मनुष्य पारलौकिक जीवन का निर्माण करता है। अन्त में चलकर उसको मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रश्न (3) प्राचीन भारत में संयुक्त परिवार के कौन-कौन से सहायक कारण थे ? संयुक्त परिवार के दुर्गुण और लाभों का भी उल्लेख कीजिए।

संयुक्त-परिवार के कारण

(1) **पितृ-पूजा**—वैदिक आर्य अपने पितरों की पूजा किया करते थे। यह पूजा परिवार के सभी सदस्यों के द्वारा एक साथ की जाती थी। पूजा का यह स्थान पूर्वजों का निवास-स्थान ही होता था। वंशजों के लिये आवश्यक था कि वे पितृपूजा को टूटने न दें। इस नियम के कारण संयुक्त परिवार को काफी संरक्षण प्राप्त हुआ।

(2) **धार्मिक कार्य**—धार्मिक कार्यों को परिवार के सभी सदस्य एक साथ करते थे। वे एक साथ इकट्ठा होते थे। परस्पर घनिष्ठ रूप से सूतबद्ध रहा करते थे। जो इन धार्मिक कार्यों में भाग लेता था वही सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता था।

(3) **अग्नि पूजा**—प्राचीन काल में अग्नि पूजा खूब हुआ करती थी। कृषि कार्य के कारण सभी स्थायी रूप से एक भूमि भाग से सम्बन्धित रहते थे। अग्नि उनकी रक्षा करती थी। वीर पुत्र तथा सम्पत्ति की कामना अग्नि से की जाती थी। अभ्याधान करना सबके लिए अनिवार्य था। परिवार के सभी लोग एक साथ यह कार्य करते थे। इसलिए भी परिवार के सभी लोग साथ रहते थे।

(4) **आर्थिक कारण**—प्राचीन भारत के जीवन में कृषि की प्रधानता थी। कृषि के कारण वे सभी स्थायी रूप से एक स्थान पर निवास करते थे। घुमक्कड़ जातियाँ घूमती हुई भी परिवार के साथ ही रहती थीं। आर्यों ने भारत की जंगली भूमि को यद्यपि कृषि योग्य नहीं बनाया लेकिन उन्होंने खेती का कार्य अवश्य किया, इसलिए उनमें संगठित परिवार का विकास होना स्वाभाविक ही था।

संयुक्त परिवार के दुर्गुण अथवा दोष

(1) अकर्मण्यता का विस्तार—संयुक्त परिवार में कुछ लोग तो काम करते थे और शेष लोग बैठे रहते थे। चूँकि वे सबके साथ रहते थे अतएव उनकी आवश्यकतायें पूरी हो जाती थीं। इस प्रकार के लोग आलसी तथा दूसरों पर जीने वाले हो जाते थे। श्रम करने वालों को अपने अधिक परिश्रम का फल भी मिलता था।

(2) व्यक्तित्व के विकास में बाधा—सम्मिलित परिवार में सभी लोग एक साथ निवास करते थे। कुछ तो दूसरों पर ही निर्भर रहते थे। उनकी सक्रियता दब सी जाती थी। आत्मा मर-सी जाती थी। वे अपनी वैयक्तिक योग्यता का विकास करने का अवसर नहीं पाते थे। गृहपति की ताड़ना तथा उसके कठोर अनुशासन में रहने के कारण हीनता की भावना पनपती थी। उनमें महत्वाकाँक्षायें पैदा ही नहीं होने पाती थीं।

(3) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हरण—संयुक्त परिवार में कोई भी व्यक्ति अपने जीवन का लक्ष्य तथा जीवन विधि निर्धारित करने के लिए स्वतन्त्र नहीं था। उसे गृहपति की आज्ञा लेनी पड़ती थी। अतएव व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नाम की कोई चीज इस समय न थी।

(4) स्त्रियों की हीन दशा—संयुक्त परिवार में स्त्रियाँ सदा भोजन बनाने में लगी रहती थीं। उनके अपने बौद्धिक विकास के लिए समय न मिलता था। यन्त्र की तरह कार्य करने वाली दासी से भी उनका गिरा हुआ जीवन था। दाम्पत्य जीवन भी बनावटी तथा स्वाभाविक था। वे एक दूसरे से दूर रहते थे।

(5) कलहपूर्ण जीवन—संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होती है। कभी आर्थिक मामलों को लेकर और कभी छोटी-छोटी बातों में ही असन्तोष की ज्वाला भड़क उठा करती है। कभी खाने-पीने के मामले को लेकर और कभी स्वतन्त्रता पर कुठाराघात होने के कारण असन्तोष का जन्म हो जाया करता था। परिवार का ऐसा सदस्य घर के मुखियों के कठोर अनुशासन में चूँ तक नहीं कर पाता था इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भारत में सम्मिलित परिवार में सदस्यों का जीवन कलहपूर्ण होता था।

(6) जनसंख्या में वृद्धि—परिवार के सदस्य अपनी व्यक्तिगत जिम्मेदारी को नहीं समझते थे। वे इस बात से आश्वस्त रहते थे कि उनका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व परिवार पर ही है। अतएव कितनी भी सन्तानें पैदा करने में वे तनिक भी नहीं हिचकते थे। परिणाम यह होता था कि सभी के प्रयास से परिवार अत्यन्त विस्तृत हो जाते थे।

संयुक्त परिवार से लाभ—हमने ऊपर देखा है कि प्राचीन भारत में संयुक्त परिवार-प्रणाली प्रचलित थी। इस प्रणाली में जहाँ तमाम दोषों का उल्लेख किया गया है वहाँ उससे अनेक लाभ भी थे। प्रमुख लाभों का उल्लेख नीचे किया गया है--

(1) परिवार एक पाठशाला के रूप में—विस्तृत परिवार एक पाठशाला के रूप में होता था। इस पाठशाला में रहकर प्रत्येक व्यक्ति दया, सहिष्णुता, अनुराग,

सहयोग आदि सद्‌गुणों का पाठ पढ़ता है। परिवार में बहुत से लोग होते थे, इनमें कोई न कोई गुण विद्यमान रहते थे, उन गुणों को बच्चे ग्रहण कर लिया करते थे।

(2) **स्वार्थपरता का दमन**—बड़े परिवारों में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे पर निर्भर होता था हर व्यक्ति में दूसरे की सहायता की भावना विद्यमान रहती थी। कोई कुछ भी करता केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं। हमने ऊपर देखा है कि परिवार में लोगों के अर्जन पर जो अधिकतर दिया गया उसमें भी परिवार वालों का अधिकार बताया गया है। उदाहरण के लिए यदि विद्या प्राप्त करने में परिवार का अन्न ग्रहण किया गया है तो उसके अर्जित धन में परिवार के सभी सदस्यों का अधिकार होता है। यद्यपि युद्ध से कोई धन प्राप्त होता तो परिवार की तलवार को रथ का प्रयोग के कारण उसमें परिवार के लोगों का अधिकार होता था।

(3) **अच्छे आचरण का विकास**—अच्छा आचरण रखने वाले अनेक सदस्य परिवार में होते हैं। इन सदस्यों के अच्छे आचरण का प्रभाव परिवार के अन्य सदस्यों पर पड़ता है।

(4) **आत्म-संयम तथा नियन्त्रण**—परिवार का एक मुखिया होता है। इस मुखिया को आदर्श समझकर सभी उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। उसके आत्म-संयम के गुण परिवार के अन्य सदस्यों में भी आ जाते थे। अन्य सभी सदस्य मुखिया के नियन्त्रण में रहते थे।

(5) **परिवार के प्रत्येक सदस्य को संरक्षण प्राप्त**—परिवार का कोई सदस्य यदि बीमार पड़ जाता अथवा उसको कोई रोग बाधा हो जाती थी तो उसकी चिन्ता परिवार के अन्य सदस्यों की होती थी। लेकिन रुग्ण तथा बीमार व्यक्ति निश्चिन्त रहता था। बीमारी आदि की दशाओं में पूरा परिवार ऐसे सदस्य की चिन्ता करता था।

(6) **सबकी समान आर्थिक समानता**—संयुक्त परिवार समाजवाद का ही एक छोटा-सा रूप होता है। संयुक्त परिवार में कम आमदनी करने वाला व्यक्ति भी किसी चीज की कमी का अनुभव करता है क्योंकि सम्मिलित परिवार के सभी सदस्य अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करते हैं और आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार सबको समान ही आर्थिक सहायता प्राप्त होती है।

(7) **वृद्धों के अनुभवों का लाभ**—परिवार में जो वृद्ध व्यक्ति होता है उसके अनुभवों से अन्य सभी सदस्य लाभान्वित होते हैं। परिणामस्वरूप वृद्धों में अपने पूरे जीवन-काल में जो अनुभव प्राप्त किया है उससे नये सदस्य को लाभ प्राप्त होता है। अनुभव करने में उनको नये सिरे से समय खर्चा नहीं करना पड़ता।

(8) **विधवाओं को पूर्ण संरक्षण प्राप्त होता है**—विधवा जीवन अत्यन्त दुखदायी माना जाता है। उनके सामने अपना जीवन गुजारने की समस्या होती है। लेकिन इसके लिए उनको किसी भी प्रकार चिन्तित नहीं होना पड़ता है। उनके जीवन का पूरा भार परिवार के सभी सदस्यों पर होता है। ये सभी सदस्य एक इकाई के रूप में उसे हर प्रकार का संरक्षण प्रदान करते हैं।

प्रश्न (4) प्राचीन हिन्दू परिवार में पति और पत्नी के क्या स्थान थे ? उनके पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

प्राचीन भारतीय परिवार में पुत्र की स्थिति का मूल्यांकन कीजिये।

अथवा

प्राचीन भारतीय परिवार में पुत्र एवं पुत्री का स्थान निर्धारित कीजिए।

अथवा

प्राचीन भारतीय परिवार में पिता के महत्वपूर्ण स्थान को स्पष्ट कीजिए।

परिवार में पति का स्थान--विगत दो हजार वर्षों से हिन्दू परिवार में पति का सर्वोच्च स्थान रहा है। वैदिक काल के आरम्भ से छठी शताब्दी ई० पू० तक पति और पत्नी को समान स्थान प्राप्त था। दोनों एक दूसरे के साथ मित्रवत व्यवहार करते थे। अक्सर लोग यह समझ लिया करते हैं कि यह सम्माननीय स्थान पति को अनादि काल से ही दिया जाता रहा है लेकिन बात ऐसी नहीं है पति को यह प्रभुतापूर्ण स्थान हिन्दू परिवार में धीरे-धीरे प्राप्त हुआ है। इसका विकास निम्नलिखित तीन अवस्थाओं से होकर गुजरा है।

(1) **सखा युग**--यह वैदिक युग से प्रारम्भ होकर लगभग 600 ई० पू० तक रहा।

(2) **गुरु युग (600 ई० से लगभग 200 ई० पू० तक)**--कुछ परिस्थितियों के कारण इस युग में पति को गुरु बनने का भी कार्य सम्हालना पड़ा। ऐसा होने पर पति तथा पत्नी के सख्यभाव और समानता का अन्त हो गया। पति का स्थान ऊँचा हुआ तथा पत्नी की स्थिति हीन हुई।

(3) **देवता युग (200 ई० पू० से 1900 तक)**--पति इस काल में गुरु से ऊँचा उठाकर देवता इन गए।

तृतीय काल में परिणामस्वरूप पति को स्त्री के ज्ञान वृद्धि में भी सहायक बनने की आवश्यकता पड़ी। जब पति समानता के स्थान से उठकर ऊपर पहुँच गया तथा गुरु का कार्य करने के कारण परिवार में उसकी मर्यादा अत्यधिक बढ़ गयी। यह मान्यता सर्वप्रथम शंख ने स्थापित की। उदाहरण देखिए--पति के कोढ़ी, पतित, अंगहीन या बीमार होने पर भी पत्नी पति से द्वेष न करे, क्योंकि स्त्रियों के लिए पति देवता है। इस बात का समर्थन मनु ने किया है। रामायण में ऐसा कहा गया है स्त्रियाँ 'भर्ता ही दैवतम' स्त्रियों के लिए पति देवता है। इस दशा में पति को राजा की तरह निरंकुश स्थान प्राप्त हो गया। आपस्तम्ब धर्मसूत्र की व्याख्या करते हुए हरिदत्त ने परिवार में पति की स्थिति पर निम्न शब्दों में प्रकाश डाला है—

वह घर में वैसा स्वतन्त्र है जैसे राष्ट्र का राजा।

प्राचीन भारतीय हिन्दू परिवार में पति के अधिकार--प्राचीन भारत में हिन्दू परिवार के अन्तर्गत पति को सम्राट का स्थान दिया गया है ऊपर हमने इस

तथ्य पर विचार भी किया है। अब देखना है कि पति को इस स्थान से कौन-कौन से अधिकार प्राप्त थे। इन अधिकारों का उल्लेख नीचे किया गया है।

(1) दण्ड देने का अधिकार,

(2) फिर से विवाह करने तथा पत्नी को त्यागने का अधिकार,

(3) पत्नी तथा पुत्र को बेचने, दान देने तथा उधार देने का अधिकार।

(1) **दन्ड देने का अधिकार**—अपनी पत्नी को दण्ड देने का अधिकार पति को प्राप्त था लेकिन शास्त्रकारों ने इस प्रकार के शारीरिक दण्ड पर नियन्त्रण लगा दिया। कौटिल्य ने कहा कि स्त्री को अपने अनुशासन में रखने के लिये उसे कड़े वचन न कहे, बाँस की पतली खपच्ची से पति रस्सी या हाथ से उसकी पीठ पर तीन प्रहार करे। इसका उल्लघंन करने वाले का वाग्दण्ड और पारव्य दण्ड का आधा दण्ड दिया जाये। मनु ने इसको और भी मर्यादा रूप प्रदान किया। कहा कि केवल पीठ पर ही रस्सी अथवा खपच्ची से प्रहार किया जाय। महाभारत के रचनाकार ने इन दोनों को नहीं माना। स्त्री को गौ का स्थान दिया। उनको प्रजातीय कहा गया।

(2) **पुनः विवाह करने तथा पत्नी को त्यागन का अधिकार**—पत्नी के रहते हुये भी कुछ विशेष दशाओं में पति को दूसरा विवाह करने का अधिकार था। वह अपनी पत्नी को त्याग भी सकता था। मनु के अनुसार पत्नी के बन्ध्या होने पर, विवाह के आठवें वर्ष यदि सब सन्तानें पैदा होते ही मर जाती हैं या 11 वर्ष तक यदि पुत्रियाँ ही उत्पन्न होती हैं और यदि पत्नी अप्रियवादनी हो, तो पति को तुरन्त दूसरा विवाह कर लेना चाहिये। कौटिल्य ने भी इसी प्रकार की व्यवस्था की है। लेकिन अप्रियवादिनी की शर्त का कहीं उल्लेख नहीं है। उन्होंने आठ वर्ष पहले विवाह करने वाले को दण्ड की भी व्यवस्था की है। एक स्त्री के मर जाने पर धर्म कार्यों के संचालन के लिये मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने ही पति को अविलम्ब दूसरा विवाह करने का आदेश दिया। हारीत गर्भधारण करने वाली, हीन वर्ग के पुरुष के साथ सम्बन्ध करने वाली शिष्य सुतगामिनी शराब पीने वाली और धन नष्ट करने वाली स्त्री के त्याग का अधिकार पति को देते हैं। बोधायन ने सेवा पति की न करने वाली, स्वारिणी तथा पतिघातिनी स्त्री के त्याग का अधिकार पति को दिया है।

मनु के अनुसार पत्नी के शराबी, कुल्टा, प्रतिकूल, रोहिणी अपव्ययी होने पर पति को दूसरा विवाह करने का अधिकार है। यदि कोई अपनी निर्दोष पत्नी का त्याग करता है तो शास्त्रकारी ने उसके भी दण्ड की व्यवस्था की है। आपस्तम्ब में इस सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर व्यवस्था की गयी है। जहाँ यह कहा गया है कि निर्दोष पत्नी का त्याग करने वाला पुरुष 6 मास तक गधों की खाल धारण करे तथा सात घरों से भिक्षा माँग कर भोजन करे।

(3) **पत्नी तथा पुत्र को बेचने, दान देने तथा उधार देने का अधिकार**—हमारे हिन्दू ग्रन्थों में इस प्रकार के बहुत उदाहरण मिलते हैं कि भीमराज के जमाता नल द्वारा अपनी दमयन्ती का महर्षि वशिष्ठ को दान देना। राजा यूब नाबूब ने अपनी स्त्रियों को दान में दिया था। ये दोनों उदाहरण महाभारत के हैं। एक स्थान पर जहाँ द्यूतान्ध धर्मराज युधिष्ठिर अपना सब कुछ हार जाने पर अपनी स्त्री द्रौपदी को भी दाँव पर लगा देते हैं। ऐसा विदित होता है कि महाभारत के

समय तक पत्नी पति की सम्पति समझी जाती रही है। स्मृतिकारों को यह बात अच्छी नहीं लगी इसलिये उन्होंने पति के इस अधिकार पर अंकुश लगा दिया। गौतम ने केवल आपत्तिकाल में ही इस प्रकार का अधिकार दिया। कौटिल्य ने भी किसी का कर्ज चुकता करने के लिये अपनी पत्नी, पुत्र आदि को बेचने की छूट दी है। गुप्तकाल तक आते-आते स्त्री को आदेश माना गया है। यदि पति आपत्तिकाल में हो तो भी वह ऐसा नहीं कर सकता। बृहस्पतिवार ने भी इस बात का उल्लेख किया है। पति के इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

पत्नी के प्रति पति का कर्त्तव्य—पति अपनी पत्नी के लिये निम्नलिखित कर्त्तव्यों का पालन करता है—

(1) **स्त्री का पोषण संबंधी कर्त्तव्य**—पति पत्नी को स्त्री के रूप में स्वीकार करता है। पाणिग्रहण के प्रथम मंत्र में ही पति यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं पत्नी का पोषण करूँगा। पति और भर्ता का अर्थ ही भरण और पोषण है। महाभारत के अनुसार वह पति, पति नहीं है जो अपनी पत्नी का भरण-पोषण न कर सके। मनु ने भी साध्वी पत्नी के भरण-पोषण की बात की है।

(2) **पति पत्नी का रक्षण करता है**—किसी भी खतरे से पत्नी की रक्षा करना भी पति का ही कम है। महाभारत में ऐसा उल्लेख है कि आपत्ति के लिए धन बचाना चाहिये व धन से स्त्री की रक्षा करनी चाहिये। महाभारत में ऐसा कहा गया है कि स्त्री की रक्षा न करने वाले व्यक्ति नरक के अधिकारी होते हैं। स्मृतिकारों ने भी पत्नी की रक्षा की बात कही है। यदि पत्नी की रक्षा नहीं की जाती तो दूषित सन्तान होने की आशंका रहती है। मनुस्मृति में कहा गया है कि मनुष्य अपनी पत्नी की रक्षा अपने पुत्र चरित्र, कुल आत्मा व धर्म की रक्षा करता है। हरीश, बृहस्पति और याज्ञवल्क्य आदि सभी इस तथ्य का समर्थन करते हैं।

(3) **पति का कर्त्तव्य है पत्नी के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करे**—महाभारत में इस बात का निर्देश दिया गया है कि पति को अपनी पत्नी के सा प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। पत्नी को देर तक गाली देने वाला भी नरक का अधिकारी होता है। मनु ने कहा है कि जिस स्थान पर स्त्रियाँ पूजित होती हैं वहाँ देवता का निवास होता है जिस स्थान पर इनकी पूजा नहीं होती उस स्थान पर कोई भी धार्मिक कृत्य सफल नहीं होता है। स्त्रियों को लक्ष्मी का रूप दिया गया है। मनु ने एक आदर्श परिवार का वर्णन इस प्रकार दिया है—जिस कुल में पति पत्नी से तथा पत्नी पति से सन्तुष्ट रहती है वहाँ सदा अविचल कल्याण बना रहता है।

(4) **पति को एक पत्नी का व्रत लेना चाहिए**—विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त हमारे हिन्दू शास्त्रकारों ने पुरुषों के लिए कहा है कि वे एक पत्नी के साथ ही अपना सम्बन्ध बनाये रहे। रामायण में राम तथा सीता की कथा, कालिदास के रघुवंश में राजा अज की कथा इसी का आदर्श प्रमाण है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में भी एक पत्नी व्रत की प्रशंसा की है। विवाह के अवसर पर सप्तपदी अनुष्ठान के मन्त्रों में भी पति तथा पत्नी एक दूसरे के साथ होने वाले व्यवहारों का सुन्दर वर्णन है।

परिवार में पत्नी का स्थान—भारतीय इतिहास में वैदिक काल स्त्रियों की सर्वोच्च दशा की सूचना देता है, ऋग्वेद में पत्नी को घर की रानी की संज्ञा दी है। पत्नियाँ स्वतन्त्र रूप से यज्ञ करने की अधिकारिणी थीं। ब्राह्मण तथा सूत्र साहित्य में ऐसे मंत्रों का उल्लेख किया गया है जो कि यज्ञ के समय विवाहिता स्त्रियों के द्वारा उच्चारित होते थे। पत्नी के अभाव में यज्ञ अपूर्ण समझा जाता था। जिसके पास पत्नी न हो उस व्यक्ति को यज्ञ करने का कोई अधिकार नहीं था। भगवान राम ने अश्वमेघ यज्ञ सीता के अभाव में उनकी सोने की प्रतिमा बनाकर किया। लेकिन आगे चलकर स्त्रियों की दशा में दयनीयता आने लगी। वैदिक काल के द्वितीय चरण से उसको यज्ञ के अधिकार से वंचित कर दिया गया। स्त्रियों को अब न्यून अधिकार ही रह गये।

पत्नी के अधिकार

(1) **भरण पोषण का अधिकार**—भरण के अधिकार के कारण से ही पत्नी को भार्या कहा गया है। यदि पत्नी अच्छे आचरण की न हो तो भी उसका यह अधिकार नहीं जाता।

(2) **रमण का अधिकार**—पत्नी की समस्त प्रकार की आवश्यकताओं को पति पूरा करे।

(3) **स्त्री धन**—स्त्री धन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार होता है। पति केवल विशेष परिस्थिति में ही उसका उपयोग कर सकता है।

(4) **गृह-स्वामिनी**—स्त्री गृह कार्यों की स्वामिनी होती है। बाहरी कार्यों का संचालन पति और घर के कार्यों का संचालन पत्नी करती है। ऋग्वेद में मन्त्रों में वधू को पति, पुत्र एवं घर के पशुओं आदि पर भी पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया गया है। स्त्री पति की अर्धांगिनी होती है।

पत्नी का कर्त्तव्य

(1) **पति की सेवा करना**—शंख के अनुसार स्त्री के लिए व्रत, उपवास, यज्ञ, दान आदि से पति की सेवा का समान फल नहीं प्राप्त होता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण का कहना है कि स्त्री का सबसे बड़ा तप, व्रत धर्म तथा देव पूजन पति की सेवा करना है। मनु ने कहा है कि पत्नी को चाहिए कि पति की सेवा वह देवता के समान करे क्योंकि स्त्रियों के लिए अलग से कोई व्रत यज्ञ नहीं है। रामायण में राम और सीता का आदर्श हमारे सामने है।

(2) **पति की आज्ञा का पालन करना** - मार्कण्डेय पुराण में कौशिक ब्राह्मण की एक ऐसी पतिव्रता स्त्री की कथा है जो अपने कोढ़ी तथा लंगड़े पति को उसकी आज्ञानुसार वेश्या के घर ले जाती है। महाभारत में भी इस प्रकार की अनेक कथा देखने को मिलती हैं। इन कथाओं में पति को आज्ञानुसार स्त्रियों ने दूसरे पुरुष के साथ भी अधिगमन किया है। जैसे दमयन्ती द्वारा वशिष्ट का अधिगमन।

(3) **पतिव्रत का धर्म निर्वाह करना**—स्त्रियों को चाहिए कि वे केवल अपने पति के प्रति साध्वी रहे। मन, वचन और शरीर से अपने पति के प्रति अनुरत रहे। मनु ने ऐसी स्त्री के साथ ही स्वर्ग में रहने की बात कही है। जो स्त्री पापाचारिणी होती है वह स्यार की योनि में जाती है। सत्यवान एक ही वर्ष में मर जाने

वाला था सावित्री को जब यह मालूम हुआ और उसके पिता ने उसे दूसरा पति चुनने को कहा तो सावित्री ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। क्योंकि उसने एक बार सत्यवान को अपना पति मान लिया था। गंधारी जब इस बात से अवगत हुयी कि उसका होने वाला पति अन्धा है तो उसे अपनी आँखों पर भी पट्टी बाँध ली, जिससे कि पति के प्रति उसमें किसी प्रकार की बुरी भावना का उदय न हो। द्रौपदी ने वन में अपने पतियों के साथ कठोर कष्टों को सहा जिससे कि उसका पतिव्रत धर्म बना रहे। सीता का रूप भी आदर्श है।

शास्त्रकारों के अनुसार पत्नियों के कर्त्तव्य—मनुस्मृति के आधार पर पत्नियों में चार बातें होनी चाहिए।

(1) सदा हँसमुख रहना,
(2) गृह कार्यों में दक्षता,
(3) गृह को स्वच्छ रखना,
(4) अपव्ययी न होना।

याज्ञवल्कय ने उत्तम कार्यों के अतिरिक्त (1) सास ससुर की सेवा, (2) उनकी चरण वन्दना, (3) उत्तम आचार और (4) संयम को भी माना है।

शंख ने स्त्री के लिए निम्नलिखित चार संहिता रखी है—

(1) आज्ञा बिना घर से बाहर न निकलना,

(2) ऊपर का वस्त्र ओढ़े बिना घर से बाहर निकलना,

(3) जल्दी न चलना,

(4) संन्यासी, वैद्य, व्यापारी और बूढ़े के अतिरिक्त किसी अन्य से न बोलना,

(5) नाभि न दिखाना,

(6) टखने तक साड़ी पहनना,

(7) स्तन न प्रदर्शित करना,

(8) मुँह ढके बिना जोर से हँसना,

(9) पति और सम्बन्धियों से घृणा न करना,

(10) नर्तकी, धूर्त, प्रेमियों को मिलाने वाली, वशीकरण और गुप्त विधि करने वाली तथा दुष्ट स्त्रियों के साथ न मिलना।

ब्रह्मपुराण के सृष्टिखंड में स्त्रियों के कर्त्तव्यों की ओर संकेत करते हुए अच्छी स्त्री के लक्षण अंकित किये गये हैं।

"वही पतिव्रता है जो कार्य में दासी के समान, काम सुख में वेश्या के समान, खिलाने में माता, विज्ञप्ति में उत्तम परामर्शदाता हो।

पी० एन० प्रभु ने स्त्री और पति के कर्त्तव्यों को समान माना है। वे लिखते हैं—

"Never these, there was no distinction of degree, in term of higher and lower, superior or inferior between them. These were only a distinction of kind."

परिवार में पिता का स्थान

हिन्दू परिवार अवस्था पितृ सत्तात्मक थी। इसलिये इसमें पिता का सर्वोपारि स्थान होना स्वाभाविक था। पिता तथा माता को देवता के रूप में देखने का उपदेश तैतरीय उपनिषद में स्नातक को दिया गया था। 'मातृ देवो भव' महाभारत में पिता के वचनों का पालन करने का निर्देश देते हुये कहा गया है कि पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है, पिता परम तप है, पिता के प्रसन्न होने पर ही सब देवता प्रसन्न होते हैं।

"पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता ही परमं तपः।
पितरे प्रीति मापन्ने सर्वाः प्रीणान्ति देवताः ।।"

पिता के अधिकार और कर्त्तव्य—पिता के अधिकार निम्नलिखित थे :

(1) पुत्र का विक्रय करने का अधिकार,
(2) दण्ड देने का अधिकार,
(3) सन्तान पर पूर्ण नियन्त्रण रखने का अधिकार,
(4) विवाह विषयक अधिकार।

पिता के कर्त्तव्य निम्नलिखित थे—

(1) सन्तान का भरण,
(2) उसका रक्षण,
(3) उसका रक्षण, पिता से भरण तथा रक्षण प्राप्त करना,
(4) पुत्र का शिक्षण, विवाह आदि।

परिवार में माता का स्थान

हिन्दू परिवार में माता सदा ही मर्यादित, सम्माननीय श्रद्धापूर्ण आदि स्थान की अधिकारिणी है। वह ज्ञात और शरीर दात्री के रूप में है। सन्तान को पैदा करती तथा उसका पालन पोषण करती है। सन्तान के कई जन्मों तक उसकी सेवा करके कर्ज चुकाती है। भारतीय इतिहास में माता के स्थान में कभी कोई कमी नहीं आयी है। वैदिक काल में समावर्तन संस्कार के समय माता को देव रूप में मानने का उपदेश दिया गया 'मातृ देवी भव'। अथर्ववेद में पुत्र को माता के अनूकूल मन वाला होने का निर्देश दिया गया है। 'माता भवतु सम्पनाः' सूत्र काल में धर्मसूत्रों में माता ही महत्ता द्रगित् करने वाले अनेक सन्दर्भों का उल्लेख किया गया है कि आचार्य का गौरव दल उपाध्यायों से ज्यादा है। पिता सौ उपाध्यायों से गौरवपूर्ण है, माता का गौरव एक हजार पिताओं से बढ़कर है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र व्यभिचारिणी तथा कलंकिनी होने पर माता की सेवा, उसके रक्षण तथा भरण का विधान करता है। महाभारत काल में माता को श्रेष्ठा मना गया है। इस सम्बन्ध में महाभारत यह कहता है—

"नास्ति मातृ समाः छाया नास्तिक मातृ समाः गतिः।
नास्ति मातृ समं भाशां नास्तिक मातृ समा पियः ।।"

माता के समान शीतल छाया, आश्रम रक्षा, रक्षा स्थान तथा प्रिय वस्तु और कोई भी नहीं है। स्मृतिकाल में माता को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। मनु तथा याज्ञवल्क्य आदि ने माता को गुरु तथा पिता दोनों से श्रेष्ठ प्रदान किया है। कालिदास ने मातृत्व की सफलता नारी जीवन की पूर्णता में माना है। पुराणों में माता को जगत माता और जगत जननी कहा गया है।

परिवार में पुत्रों का स्थान

परिवार का मुख्य लक्ष्य था पुत्र की सम्पत्ति का प्राप्त करना। सन्तान से ही व्यक्ति की पूर्णता प्राप्त होती है। वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर सन्तान प्राप्ति की कामना की गयी है। ऋग्वेद में प्रजापति से प्रार्थना की गयी है, 'प्रजापति देवता हमारी सन्तान उत्पन्न करे।' ऐसी ही प्रार्थना, सोम, अग्नि, इन्द्र, वृहस्पति आदि से की गयी है। इस काल में पुत्र प्राप्ति की कामना बड़ी प्रबल थी। पाणिग्रहण के समय वधू को पुत्र वाली बनने का आर्शीवाद दिया जाता है। पति को दस पुत्र उत्पन्न करने का निर्देश दिया गया है। पुत्र प्राप्ति की कामना निम्न-कारणों से होती थी—

(1) पितृ ऋण से मुक्ति,
(2) आत्म संरक्षण,
(3) नरक से पिता की रक्षा,
(4) पितरों का तर्पण,
(5) लौकिक सुख,
(6) धार्मिक कर्तव्य।

पुत्र के कर्त्तव्य—पुत्र के निम्न कर्त्तव्य थे—

(1) माता पिता का भरण-पोषण,
(2) माता पिता का सम्मान,
(3) माता पिता की सेवा,
(4) आज्ञा-पालन।

हमें यह बात पहले ही कह चुके हैं कि प्राचीन भारतीय समाज में पुरुष को एक विशेष स्थान उपलब्ध था। महाभारत एवं मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि प्रत्येक परिवार में एक पुत्र का होना नितान्त आवश्यक है। पुत्र के अभाव में गृहस्वामी मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाता। इसी आधार पर परिवार के सबसे बड़े लड़के का विशेष स्थान था। उसे पिता की अनुपस्थिति में सभी धार्मिक कृत्यों और दायित्वों का निर्वाह करना होता था। इस विधान से सबसे बड़ा लड़का परिवार को बना भी सकता है और बिगाड़ भी सकता है।

प्राचीन धर्मग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है कि पिता की मृत्यु के बाद बड़ा भाई अन्य लोगों को संरक्षण प्रदान करता था। दूसरे भाई बहिन उसके आदेशों का पालन करते थे।

पुत्र के प्रकार—धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत पुत्र के अग्रलिखित प्रकारों का उल्लेख किया गया है—

(1) **औरस**—औरस पुत्र सभी प्रकार के पुत्रों में श्रेष्ठ है। विधिवत विवाहित समान जाति वाली स्त्री के सम्पर्क से जिस पुत्र की उत्पत्ति होती थी उसे औरस पुत्र कहते थे। इस पुत्र का पिता की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होता था। अपने से एक सोपान नीची जाति वाली स्त्री से अनुलोभ विवाह द्वारा उत्पन्न पुत्र भी औरस पुत्र मान लिया जाता था।

(2) **क्षेत्रज**—रोगी मृतक या नपुंसक पुरुष की स्त्री से नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज पुत्र कहलाता था। यह प्रथा वैदिक युग में अधिक प्रचलित थी। नियोग के हेतु नियुक्त किया गया व्यक्ति अधिकतर देवर या अन्य कोई स्वजन होता था। इसके अभाव में समीपस्थ फिर दूरस्थ रक्त सम्बन्धी व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी। उसके भी अभाव में सगोत्रीय, सपिण्ड, सप्रवर अथवा किसी ब्राह्मण की नियुक्ति की जाती थी।

प्राचीन भारत में नियोग प्रथा को मान्यता प्रदान की गई थी। धृतराष्ट्र और पाण्डु का जन्म नियोग द्वारा ही हुआ था। कालान्तर में इस प्रथा को हेय एवं घृणित दृष्टि से देखा जाने लगा। क्षेत्रज पुत्र को औरस पुत्र से निम्न स्थान ही प्राप्त था।

(3) **दत्तक**—ऐसा पुत्र जो स्वेच्छा दूसरे से प्राप्त किया जाता था उसे दत्तक (गोद लिया) पुत्र कहते थे। बालक के माता-पिता स्वयं संकल्प करके समान जाति वाले माता-पिता को अपना पुत्र दे देते थे। पुत्र उसी को दिया जाता था जिसके कोई पुत्र नहीं होता था। अल्प आयु में ही बालक को दूसरे को दे दिया जाता था।

पुत्र देते समय एक गवाह का होना आवश्यक था। इस कार्य को सम्पन्न करने की सूचना राजा को भी दी जाती थी और दोनों ओर के सम्बन्धियों को आमन्त्रित किया जाता था। शुभ लग्न में हवन करके मंत्र युक्त जल बालक पर छिड़क कर दो पीत वस्त्र, कर्ण पाश एवं मुद्रिका पहनकर दत्तक की रस्म पूरी की जाती थी। लेने वाला व्यक्ति पुत्र की याचना करता है और जिसका पुत्र होता था उसे वह उसकी गोद में दे देता था।

(4) **कृत्रिम**—जब किसी सजातीय के पुत्र को बिना विधिवत गोद लिए अपना पुत्र मान लिया जाता था तो उसे कृत्रिम पुत्र कहते थे।

(5) **गूढ़ज**—जिसके सम्बन्ध में यह ज्ञात न हो कि वह किसके वीर्य से उत्पन्न है वह गूढ़ज पुत्र होता था। पुत्र की माता से विवाह करने वाला व्यक्ति उसे औरस पुत्र की भाँति मानता था और वह पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी तभी तक रहता था जब तक पिता के अपना औरस पुत्र न हो। इसके बाद उसे केवल मात्र भरण-पोषण का भी अधिकार रह जाता था।

(6) **अपविद्ध**—जब किसी कारण से माता-पिता बालक को परिवार से बहिष्कृत कर देते थे और वह बालक किसी दूसरे के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता था तो उसे अपविद्ध पुत्र कहते थे।

(7) **कानीन**—अविवाहित कन्या के गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक उस कन्या से विवाह होने वाले पति का ही पुत्र माना जाता था। इस प्रकार के पुत्र

को कानीन पुत्र कहते थे। कानीन पुत्र का नाना की भी सम्पत्ति पर अधिकार होता था। व्यास और कर्ण कानीन पुत्र ही थे।

(8) **सहोड़**—विवाह से पहले उसी पुरुष के सहवास से जिसके साथ उसका विवाह होना है, गर्भवती स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र सहोड़ पुत्र कहलाता था। इस पुत्र के अधिकार औरस पुत्र के ही तुल्य होते थे परन्तु यह औरस पुत्र से हेय समझा जाता था।

(9) **क्रतिक**—पुत्र के वास्तविक मात-पिता को मूल्य देकर प्राप्त किया गया पुत्र क्रतिक पुत्र कहलाता था।

(10) **पौनर्भव**—पुनर्भू (पति द्वारा परित्यक्त या विधवा स्त्री से उत्पन्न पुत्र पौनर्भव पुत्र कहलाता था। यह भी औरस पुत्र के समान होता था परन्तु समाज में उसे सम्मानित स्थान प्राप्त नहीं था।

(11) **स्वयंदत्त**—घर की कलह या अन्य किसी कारण से घर से बाहर निकल कर जब कोई बालक अपने को किसी के सुपुर्द कर देता था तो वह उस पुरुष का स्वयंदत्त पुत्र कहलाता था।

(12) **पारशव**—ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री के संयोग से उत्पन्न पुत्र पारशव या निषाद पुत्र कहलाता था यह पुत्रों में सबसे निम्न कोटि का होता था।

परिवार में पुत्री का स्थान

हम इस बात का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि प्राचीन भारतीय समाज पुरुष प्रधान था और इस नाते पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों को गौण स्थान प्राप्त था। धर्मशास्त्रों में यद्यपि इस बात का उल्लेख है कि किसी गृहस्थ को अपनी पुत्री से झगड़ा नहीं करना चाहिए, उसे सभी प्रकार से स्नेह और सहानुभूति देना चाहिए। किन्तु सामाजिक जीवन में पुत्री को आगे चलकर वह स्थान उपलब्ध नहीं रह गया, जो पुत्रों को उपलब्ध था। वैदिक काल में पुत्रियों को अपेक्षाकृत अधिक अधिकार थे, किन्तु आगे चलकर यह कम हो गये। पिता के लिये यह अनिवार्य था कि वह पुत्री का विवाह करके उसे किसी योग्य वर के हाथों में सौंप दे। साथ ही साथ यह विधान भी था कि पुत्र के अभाव में पुत्रों का पुत्र (पौत्र) अनेक धार्मिक संस्कार करता था और सम्पत्ति का अधिकारी होता था। किन्तु विक्रय के पश्चात् पुत्री का अपने पिता के पष्टि में कोई विशेष स्थान नहीं रह जाता था।

7

शिक्षा

प्रश्न (1) प्राचीन भारतीय शिक्षा की विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालिए ।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों और आदर्शों की पूर्णता के हेतु तत्कालीन शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा की एक विशेष प्रणाली भी निर्धारित की तथा सहस्त्राब्दियों के पश्चात् भी हम आज उसका महत्व स्वीकार करते हैं । यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमारी इस प्राचीन शिक्षा का स्रोत दीर्घकाल तक प्रवाहित होता रहा और अनेक साम्राज्यों के पतन तथा सामाजिक परिवर्तनों ने भी उसकी धारा को मन्द नहीं होने दिया । सामान्यतया हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति में, निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं ।

(1) **उपनयन संस्कार**—हमारे देश में उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार का बहुत अधिक महत्व है और उपनयन संस्कार के पश्चात ही बालकों का विद्याध्ययन प्रारम्भ होता था । उपनयन को बालक का द्वितीय जन्म माना जाता था और ऋग्वेद में भी इसका उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है । सामान्यत: उपनयन का शाब्दिक अर्थ "पास ले जाना" है अर्थात् उपनयन का अभिप्राय शिक्षा के लिए गुरु के समीप पहुँचना है । कहा जाता है कि उपनीत जिसका उपनयन हो चुका है । बालक गुरु के पाणि-पल्लव या सावित्री मंत्र की दीक्षा देकर शिक्षा देना आरम्भ करता था । यहाँ यह स्मरणीय है कि उपनयन संस्कार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य वर्ण के बालकों का ही होता था और जब तक बालक का उपनयन नहीं हो पाता तब तक उसे शूद्र के समान ही समझा जाता तथा उसे ज्ञानार्जन का कोई अधिकार नहीं रहता था ।

(2) **विद्याध्ययन प्रारम्भ करने की आवस्था**—प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों में इस सम्बन्ध में मतभेद है कि बालक का विद्याध्ययन किस अवस्था या आयु में प्रारम्भ होना चाहिए । मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय व वैश्य का उपनयन संस्कार क्रमश: 8, 11 और 12 वर्ष की आयु में हो जाना चाहिए तथा याज्ञवल्क्य ने कुल की प्रथा के अनुसार सुविधापूर्ण समय पर उपनयन संस्कार सम्पन्न करने का विचार व्यक्त किया और इस बात का सुझाव दिया कि वे ब्राह्मण को पाँचवें वर्ष, क्षत्रिय को छठें वर्ष और वैश्य को आठवें वर्ष में विद्याध्ययन प्रारम्भ कर देना चाहिए । यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जिन बालकों का निश्चित आयु तक उपनयन संस्कार नहीं होता था वह सावित्री मन्त्र सीखने के अधिकारी नहीं रह जाते थे अर्थात् उन्हें विद्याध्ययन से वंचित रह जाना पड़ता था ।

(3) **अध्ययन विषय**—डॉ० पुरी के अनुसार "कुछ विषयों का अध्ययन तो प्राय: सभी कर सकते थे किन्तु कुछ विषयों का केवल वर्ण और वर्ग के साथ

सम्बन्ध था। ब्राह्मण बालक के लिए धर्म, छः अंगों और वेदों का अध्ययन आवश्यक था किन्तु मुख्य विषय पहिले व्याकरण ही था। व्याकरण का शिक्षा में विशेष स्थान था।''

(4) **अध्ययन अवधि**—पाठ्य विषयों की अधिकता को देखते हुए प्राचीन काल में अध्ययन का समय स्वाभाविक ही बहुत अधिक समझना चाहिए और वेदों के अध्ययन के लिए तो अति दीर्घकाल की आवश्यकता स्वीकार की गई है। कहा जाता है कि परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए एक जन्म भी पर्याप्त नहीं है। और तैत्तरीय ब्राह्मण में वर्णित भारद्वाज-इन्द्र संवाद में कहा गया है कि जब इन्द्र ने बुद्ध व अस्वस्थ भारद्वाज से पूछा कि महात्मान् आपने अपना तीन जन्म तो ज्ञानार्जन में व्यतीत किया और यदि मैं आपको चौथा जीवन दूँ जो आप किस प्रकार व्यतीत करेंगे तब उन्होंने कहा कि मैं उस जीवन को भी ज्ञानार्जन में व्यतीत कर दूँगा।

छाँदोग्य उपनिषद् के अनुसार स्वयं इन्द्र ने प्रजापति के यहाँ 101 वर्ष तक अध्ययन किया था पर इतनी लम्बी अवधि तक स्वाभाविक ही बहुत कम छात्र विद्याध्ययन कर सकते थे। अतः प्राचीन काल में सामान्य रूप से अध्ययन अवधि 12 वर्ष निश्चित थी लेकिन जो इस अवधि में अध्ययन पूरा नहीं कर पाते उन्हें अधिक समय तक गुरु के पास रहना पड़ता था। कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि साहित्य और धर्मशास्त्र के छात्र अपना अध्ययन दस वर्ष में समाप्त कर देते थे।

(5) **शिक्षा सत्र**–शिक्षा सत्र का समय प्रतिवर्ष साढ़े चार या साढ़े पाँच मास का होता था और विद्याध्ययन का कार्यक्रम श्रावण मास की पूर्णिमा को 'उपक्रम' समारोह से प्रारम्भ होकर पौष मास की पूर्णिमा को 'छन्दसाम् उत्सर्जनम्' समारोह के साथ स्थगित होता था।

(6) **शिक्षण-काल**—इस सम्बन्ध में कुछ भी प्रमाण नहीं मिलते कि वैदिक काल में शिक्षण कार्य किस समय से किस समय तक होता था और कागज, सस्ती पुस्तकें व मुद्रणालय आदि की सुविधाएँ न होने से स्वाभाविक ही पठन-पाठन का सब कार्य आचार्य की ही देख-रेख में होता था। इस प्रकार यहाँ यह अनुमान किया जा सकता है कि शिक्षण कार्य प्रातः काल से मध्याह्न तक और फिर भोजनादि के लिए कुछ देर विश्राम के पश्चात् सायंकाल तक चलता होगा। इस सम्बन्ध में यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्राचीन ढंग की संस्कृत पाठशालाएँ कुछ समय पूर्व तक इसी प्रकार के कार्यक्रम का अनुसरण करती रही हैं।

(7) **शिक्षालय व्यवस्था**–इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए कुछ भी साधन उपलब्ध नहीं है कि वैदिक काल में शिक्षालय व्यवस्था किस प्रकार की थी और विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करने के लिए विद्यालय भवन आदि बने थे या नहीं। सामान्यतः अध्ययन-अध्यापन कार्य वृक्षों के नीचे होता था और विद्यार्थी मुक्त वातावरण में अर्थात् खुले मौसम में ही शिक्षा प्राप्त करते थे पर सम्भवतः वर्षा के समय किसी प्रकार के आच्छादन की व्याख्या भी रहती होगी। कदाचित उपनिषद् काल में ही छात्रों के लिए भवन आदि की व्यवस्था की गई।

(8) **गुरुकुल प्रथा**—कवीन्द्र रवीन्द्र का कहना है कि भारतीय संस्कृति का निर्माण नगरों में नहीं बल्कि वन प्रांतीय आश्रमों में हुआ था। प्राचीन भारत में उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक गुरुगृह या गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेज दिया जाता था और तब वह 'अ तेवसिन' या 'गुरुकुलवासी' कहलाता तथा आदर्श जीवन व्यतीत करते हुए वहाँ शिक्षा ग्रहण करता था।

सामान्यतः गुरुकुल प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त, जनपदीय शोरगुल से दूर, प्रकृति के सुरम्य कक्ष में स्थिर होते पर वह किसी गाँव या नगर के समीप अवश्य होते थे ताकि उनमे निवास करने वाले छात्रों की साधारण आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकें। गुरुकुलों में रहने से विद्यार्थियों में स्वाभाविक ही बहुत से गुण अपने गुरु के आ जाते थे और वह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए अध्ययन तथा गुरु सेवा के कार्य में संलग्न रहते थे।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि गुरुकुल में ब्रह्मचारी को ही रहने की आज्ञा थी और विवाहितों का गुरुकुल में प्रवेश तथा अध्ययन काल में छात्रों का विवाह करना भी मना था। साथ ही इन गुरुकुलों पर बाह्य राजकीय व सामाजिक प्रभुत्व भी न था। अतः वह अपने लक्ष्य प्राप्ति की ओर निर्विघ्न संलग्न रहते थे।

(9) **गुरु का आदर्श**—प्राचीन-काल में गुरु ज्ञान व आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से समाज में सर्वोच्च व्यक्ति थे और उनमें अग्नि की सी तेजस्विता व इन्द्र की सी वीरता विद्यमान होने के कारण स्वाभाविक ही उन्हें लोकप्रियता प्राप्त थी। अपने आश्रमों और गुरुकुलों में रहकर गुरुजन हमेशा अध्ययन-अध्यापन पर ध्यान देते तथा निश्छल भाव से शिष्यों को शिक्षा देते हुए उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। वह अपने शिष्यों को पुत्रवत् रखते थे और उनके भोजन-वस्त्र व निवासादि का प्रबन्ध स्वयं करते तथा उनके सुख-दुःख में भी समान रूप से भाग लेते थे

इस प्रकार शिष्यों के सभी कार्यों का उत्तरदायित्व गुरु पर ही होता था और वह उनके चरित्र-निर्माण पर बल देते हुए हमेशा यही चाहते थे कि उनका शिष्य उनसे भी अधिक यश व ख्याति प्राप्त करे।

(10) **विद्यार्थी और उनका जीवन**—वैदिक-काल में विद्यार्थियों के खानपान, वेश-भूषा, आचार-व्यवहार आदि के सम्बन्ध में भी निश्चित नियम थे, जिनका पालन करना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। मनुस्मृति के अनुसार विद्यार्थियों को दिन में केवल दो बार अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल भोजन करना चाहिए तथा अति भोजन और मांस, मधुपान व बासी भोजन आदि से बचने का भी आदेश दिया जाता था।

विद्यार्थियों की वेश-भूषा भी निर्धारित थी और उपनयन के पश्चात् विभिन्न जातियों के छात्र विभिन्न वस्तु की बनी हुई मेखला धारण करते थे। अतः ब्राह्मण मूँज के घास की, क्षत्रिय ताँत की और वैश्य ऊन की बनी मेखला पहन सकते थे।

इसी प्रकार यह तीनों जातियाँ क्रमशः सन, रेशम और उनके वस्त्रों के टुकड़ों का तथा शरीर के ऊपरी भाग के लिए क्रमशः काले मृग, चित्तीदार, मृग व बकरे

की खालों का प्रयोग करते थे। विद्यार्थियों को अपना शरीर किसी भी प्रकार से अलंकृत करने और केशों को प्रसाधन तक की मनाही थी तथा वे अंजन, सुगंधि, छाते और जूतों का प्रयोग भी नहीं कर सकते थे।

इस प्रकार उनका शिष्टाचार, मर्यादा और आत्म-संयम से पूर्ण होता था। अपना जीवन पवित्र रखने के लिए वह दोनों समय संध्यावंदन और हवन करते थे तथा असत्य भाषण, गाली-गलौज व चुगलखोरी आदि से दूर रह कर आत्मसंयमी बनने और काम, क्रोध व लोभ से मुक्त रहने की शिक्षा प्राप्त करते थे।

इस तरह वैदिक-काल में छात्रों को अपने व्यवहार में सादगी और विचारों में श्रेष्ठता के सिद्धान्त का अनुसरण करना पड़ता था। इस स्थल पर यह भी स्पष्ट कर दें कि प्राचीन-काल में विद्यार्थियों के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता था और राजकुमारों को भी अपने निर्धन सहपाठियों का-सा छात्र जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

(11) **गुरु-शिष्य सम्बन्ध**—वैदिक-काल में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र जैसा था और ऋषियों ने तो आचार्य को छात्र का मानस पिता कहा है तथा वह छात्रों को ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ उनके चरित्र-निर्माण पर भी ध्यान देता था।

गुरु अपने शिष्यों को किसी भी प्रकार का कष्ट न होने देता और हमेशा उनकी उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते तथा शिष्य भी हमेशा इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके किसी भी कार्य से गुरु को कष्ट व असंतोष न हो, अतः वह गुरु के आज्ञा-पालन में तनिक भी संकोच न करते थे और अपने गुरु को पिता से बढ़ कर मानते थे।

(12) **पाठ्य-विषय और साहित्य**—वैदिक-कालीन विद्यार्थियों को ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद व अथर्ववेद आदि चारों संहिताओं के मंत्रों को कंठस्थ करना पड़ता था और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त व तर्क विज्ञान आदि विषयों का भी अध्ययन करना पडता था अतः पाठ्य-विषय व साहित्य की दृष्टि से वैदिक कालीन शिक्षा प्रशंसनीय ही मानी जायगी।

(13) **शिक्षा में पूर्णता**—वैदिक-काल में विभिन्न विषयों का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा विद्यार्थी में विषय विशेष की पूर्णता अवेक्षित मानी जाती थी अतः शिक्षा द्वारा व्यक्ति में एक विषय के ज्ञान की पूर्णता ही गुरुजनों का लक्ष्य था।

(14) **शिक्षण पद्धति**—प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति का आधार मनोवैज्ञानिक था और मौखिक व चिन्तन-मनन नामक दो अध्यापन विधियों को प्रश्रय दिया गया था। शिक्षण-काल में गुरु-शिष्य दोनों ही सक्रिय रहते थे और शिष्य अपनी शंकाएँ प्रस्तुत करते थे। गुरु उन शंकाओं का समाधान कर छात्रों में अन्वेषण वृत्ति उत्पन्न करता था। शिष्यों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति भी थी और गुरु का यही लक्ष्य रहता कि शिष्य में विषय का सम्यर्क ज्ञान प्राप्त करने की रुचि जागृत की जाय।

वैदिक शिक्षा के विषय में डा० पुरी लिखते हैं, "वैदिक शिक्षा सम्पत्ति की भाँति पिता से पुत्र को मिलती थी और इसलिए यह कुछ कुलों में सुरक्षित थी जो शिक्षा के केन्द्र थे, और उन्हीं कलों में अपनी परम्परा के अनुसार वैदिक शिक्षा दी जाती थी। सूक्तों को रटकर याद कर लेना ही पर्याप्त न था। विद्यार्थियों के लिए उनके गूढ़ तत्वों को समझना भी अनिवार्य था। आचार्य अपने शिष्य को सुहृदय भाव से पढ़ाता था।

लेकिन सभी ज्ञान आचार्य से प्राप्त नहीं होता था। डा० पुरी के शब्दों में, "विद्यार्थियों को एक चौथाई आचार्य से, एक चौथाई अपनी बुद्धि से, एक चौथाई सहपाठियों के सम्पर्क से और एक चौथाई जीवन के अनुभव से ज्ञान प्राप्त होता है।"

(15) **निःशुल्क शिक्षा**—प्राचीन काल में ब्राह्मणों का कर्त्तव्य शिक्षा प्रदान करना ही माना जाता था और जब छात्र अध्ययन करते थे तब उस अवधि में गुरु उनसे किसी भी प्रकार का शुल्क स्वीकार नहीं कर सकता था। हाँ, शिक्षा समाप्त होने पर छात्र का यह कर्त्तव्य था कि वह अपने गुरु को कुछ दक्षिणा दे पर धनी विद्यार्थियों के अतिरिक्त अन्य विद्यार्थियों को इतनी दक्षिणा देने का अधिकार न था कि उसे शिक्षा का उचित पारिश्रमिक कहा जा सके।

(16) **वाह्य नियन्त्रण और प्रभावों से मुक्ति**—वैदिक कालीन शिक्षा की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि तत्कालीन शिक्षा पर राज्य सरकार अथवा किसी राजनीतिक दल का कोई नियन्त्रण न था और प्रत्येक राजा अपना यह कर्त्तव्य समझता था कि विद्वान् लोग बिना किसी विघ्न-बाधा के अध्यापन कार्य में लगे रहे। इसी प्रकार प्राचीन भारत में शिक्षा पर कोई जातीय प्रभाव भी न था।

(17) **शिक्षा प्राप्त करने की सबकी समान सुविधा**—वैदिक काल में सबको समान शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा थी और चारों वर्ण के लोग उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार रखते थे। इस बात के भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि शूद्र के लिए भी वैदिक शिक्षा का द्वार खुला हुआ था और हमारे कुछ प्राचीन ऋषि मुनि शूद्र माता या पिता को संतना भी थे।

(18) **स्त्री शिक्षा**—प्राचीन भारत में स्त्री-शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया था। अनेक स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर ब्रह्मवादिनी व ऋषिका की संज्ञा प्राप्त करती थीं तथा कुछ ने तो वैदिक ऋचाओं की रचना भी की थी। इसी प्रकार धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त स्त्रियाँ गृह-उद्योग-धन्धों को व्यावहारिक शिक्षा भी प्राप्त करती थीं।

(19) **समावर्तन संस्कार**—प्राचीन भारत में विद्यार्थियों का अध्ययन समाप्त होने पर समावर्तन संस्कार भी किया जाता था जो कि आधुनिक विश्वविद्यालयों के दीक्षाँत भाषण समारोह के अनुरूप ही था। इस समावर्तन संस्कार में आचार्य विद्यार्थियों को समावर्तन उपदेश भी देते थे, और समावर्तन उपदेश का मूल रूप तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावली में दिया गया है।

प्रश्न (2) वैदिक-कालीन शिक्षा के उद्देश्यों तथा आदर्शों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

प्राचीन भारत शिक्षा के उद्देश्यों एवं आदर्शों पर संक्षिप्त में प्रकाश डालिए ।

हमारे देश की शिक्षा का मूल लक्ष्य मानव जीवन का विकास रहा है। वास्तव में प्राचीन शिक्षा मनुष्य के आभ्यांतरिक विकास पर अधिक ध्यान देती थी । सुभाषित रत्न-संग्रह में तो एक स्थल पर यही कहा गया है कि मनुष्य के भले ही विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया हो पर उसमें यदि अन्तर्दिष्ट का विकास नहीं हुआ और वह अपने अध्ययन के फलस्वरूप अन्तर्ज्योति न प्राप्त कर सका तो उसे मूर्ख समझना चाहिए ।

अल्तेकर के अनुसार, वैदिक युग से लेकर आज तक भारत में शिक्षा का मूल अभिप्राय यह रहा है कि शिक्षा प्रकाश की वह ज्योति है जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमारा सच्चा पथ-प्रदर्शन करती है ।"

हम देखते हैं कि आजकल शिक्षा का मूल लक्ष्य जीविकोपार्जन करना है। पर प्राचीन भारत में शिक्षा की जीविका का साधन नहीं माना गया । इस प्रकार हमारे प्राचीन भारत में शिक्षा का अभिप्राय अन्तर्ज्योति और आन्तरिक शक्ति के विकास से था ताकि मानव मात्र का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास सम्भव हो सके ।

वैदिक काल में शिक्षा के उद्देश्य और आदर्श उच्च कोटि के रखे गये थे जिससे शिक्षा का स्तर ऊँचा रहे और मानव को देवताओं की श्रेणी में खड़ा किया जा सके । डा० ए० एस० अल्तेकर ने उचित ही लिखा है—"प्राचीन भारतीय शिक्षा के मुख्य उद्देश्यों एवं आदर्शों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—"ईश्वर भक्ति एवं धार्मिकता का समावेश, चरित्र का निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्त्तव्य-पालन की भावन का समावेश, सामाजिक कुशलता की उन्नति और राष्ट्रीय संस्कृति का संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार ।"

वैदिक कालीन शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों और आदर्शों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया ।

(1) **ईश्वर-भक्ति व धार्मिकता का समावेश**—प्राचीनकाल का यह प्रधान उद्देश्य था जिसके द्वारा छात्रो में धार्मिकता और ईश्वर-भक्ति की भावना कूट-कूट कर भरी जाती थी । वैदिक काल में धर्म को बड़े आदर की दृष्टि देखा जाता था । ऋषि, पुरोहित तथा महर्षि शिक्षा देने का कार्य सम्पन्न करते थे । बालकों को दैनिक धार्मिक कार्य करने होते थे । व्यक्ति को मुक्ति प्राप्त हो सकती थी जबकि वह ईश्वर भक्ति और धार्मिकता की भावना रखता हो । इन भावनाओं को छात्रों में व्रत, यज्ञ, उपासना, धार्मिक उत्सवों एवं संध्या पूजन आदि के द्वारा भरा जाता था । इन नियमों का कड़ाई के साथ छात्रों से पालन कराया जाता था इस प्रकार सारा वातावरण धार्मिक भावना से ओत-प्रोत था ।

(2) **चरित्र-निर्माण**—यह प्राचीन शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था जिसमें छात्रों के चरित्र-निर्माण पर विशेष बल दिया जाता था । 'मनुस्मृति' में यह वर्ण है कि केवल

गायत्री मन्त्र का ज्ञान रखने वाला चरित्रवान ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदों के ज्ञाता, पर चरित्रहीन विशन से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। गुरुकुलों के उत्तम वातावरण में सदाचारी और महापुरुषों के उदाहरणों द्वारा चरित्र निर्माण की शिक्षा छात्रों को दी जाती थी। इस कार्य के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना होता था। राष्ट्र के महान् व्यक्तियों के आदर्श विद्यार्थियों के सामने रखे जाते थे। इस प्रकार चरित्र-निर्माण के लिए उपयुक्त वातावरण का सृजन किया जाता था और पाठ्य-पुस्तकों में सदाचार के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते थे।

(3) **व्यक्तित्व का विकास**—यह प्राचीन शिक्षा का तीसरा उद्देश्य था जिसमें बालकों के व्यक्तित्व पर छाप लगाकर निर्माण किया जाता था। आत्म-सम्मान, आत्मविश्वास, आत्म-संयम, न्याय, विवेक, कुशल वक्ता और आदर्श चरित्रवान आदि गुणों का समावेश किया जाता था। इस प्रकार की गोष्ठियाँ की जाती थीं और उनमें भाषण देने का अवसर भी दिया जाता था। अतः बालकों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करके उनको बलवती बनाया जाता था।

(4) **नागरिक तथा सामाजिक कर्त्तव्य-पालन की भावना का समावेश**—प्राचीन शिक्षा का यह चौथा उद्देश्य था। इसमें छात्रों को योग्य नागरिक बनाना तथा सामाजिक कर्त्तव्यों को पूरा करने योग्य बनाना था। उस समय प्रत्येक व्यक्ति के यह आशा की जाती थी कि वह गृहस्थ जीवन में जाकर अपने नागरिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करे। उन्हें स्वार्थ-रहित होकर दूसरों को लाभ पहुँचाने की शिक्षा दी जाती थी। गुरु के द्वारा छात्रों को विभिन्न प्रकार के उपदेश दिये जाते थे जैसे अतिथियों का सत्कार करना, दीन-दुखियों की सहायता करना, वैदिक साहित्य की निःशुल्क शिक्षा देना एवं निःस्वार्थ भावना से दूसरों की सेवा करना आदि। पुत्र, पिता एवं पति के रूप में अपने कर्त्तव्य का पालन करना भी सिखलाया जाता था। इस प्रकार बालकों में सामाजिक तथा नागरिक भावना को भरा जाता था।

(5) **सामाजिक कुशलता का विकास**—यह शिक्षा का पाँचवाँ उद्देश्य था जिसके अन्तर्गत बालक को समाज में रहकर अपनी जीविका कमा कर सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी जाती थी। इसके लिये व्यावसायिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी जिससे यह व्यावहारिक जीवन में सुलभता से निकल सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये छात्रों को उनकी रुचि और वर्ग के अनुसार किसी न किसी उद्योग या व्यवसाय की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करके न केवल वह अपने परिवार के लिये बल्कि राष्ट्र एवं समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध होते थे। डा० आर० के० मुकर्जी के शब्दों में—'शिक्षा पूर्णतया सैद्धान्तिक और साहित्यिक नहीं थी, वरन् किसी न किसी शिल्प से सम्बद्ध थी।"

(6) **राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण व प्रसार करना**—प्राचीन भारत में शिक्षा का यह छठवाँ उद्देश्य था जिसके अनसार राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण एवं उसका प्रसार करना भी था। छात्रों को इस प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी कि वे अपनी साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा व्यावसायिक परम्परा को संरक्षित कर सकें। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार कार्य होता था अतः राष्ट्रीय संस्कृति की सुरक्षा को बल मिल जाता था जैसे परिवार का बड़ा या पिता अपने पुत्र को अपने व्यवसाय की शिक्षा

प्रदान करता था। ब्राह्मण वेदों को कंठस्थ करके अपने शिष्यों अथवा पुत्रों को कंठस्थ कराते थे। इस प्रकार राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार होता रहा।

जिस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों और आदर्शों का वर्णन किया गया है उससे ज्ञात होता है कि शिक्षा के आदर्श एवं उद्देश्य इस प्रकार के थे जिससे कि व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी।

(7) **चित्त-वृत्तियों का निरोध**—प्राचीनकाल की शिक्षा का यह सातवाँ उद्देश्य था जिससे छात्रों की चित्त-वृत्तियों का निरोध करना होता था। इसके अनुसार आत्मा पर विशेष बल दिया जाता था क्योंकि वह अनश्वर है। शरीर की आत्मा पर बल अधिक था और उसकी पवित्रता के लिये और उत्थान के लिए आनन्द एवं ज्ञानेन्द्रियों को ठुकराया जाता था अर्थात् शरीर के लिए आनन्द और ज्ञानेन्द्रियों पर निरोध आवश्यक था। अतः आत्मा के उत्थान के लिए जप, तप और योग पर विशेष बल दिया जाता था। इससे मन को वश में करके और चित्त-वृत्तियों का निरोध कर के छात्रों को मोक्ष-प्राप्ति में सहायता मिलती थी जो कि जीवन का परम लक्ष्य था। डा० आर० के० मुकर्जी के अनुसार—"शिक्षा उद्देश्य चित्त-वृत्ति निरोध अर्थात् मन के उन कार्यों का निषेध था, जिनके कारण वह भौतिक संसार में उलझ जाता है।"

ब्राह्मण-कालीन शिक्षा के उद्देश्य एवं आदर्श—हमने पीछे वैदिक-कालीन शिक्षा पर विस्तार से विचार किया है और यह देखा है कि वैदिक कालीन शिक्षा में धर्म को विशेष महत्व दिया जाता था यानी वैदिक कालीन शिक्षा धर्म प्रधान थी। ब्राह्मण-कालीन शिक्षा में धर्म के साथ-साथ लौकिक पक्ष को भी ध्यान में रखा जाता था। ब्राह्मण-कालीन शिक्षा का उद्देश्य छात्रों का धार्मिक विकास करने के साथ-साथ लौकिक अवकास भी करना था।

वस्तुतः ब्राह्मणीय शिक्षा में धार्मिक तथा लौकिक दोनों पक्षों पर ध्यान दिया जाता था। इसलिये वैदिक-कालीन शिक्षा के उद्देश्यों से ब्राह्मण शिक्षा के उद्देश्य कुछ अन्तर रखते हैं। ब्राह्मण-कालीन शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य उपर्युक्त के अतिरिक्त निम्नलिखित भी थे—

(1) व्यक्ति, राष्ट्र तथा समाज की भौतिक उन्नति करना।

(2) आत्म-नियन्त्रण की शिक्षा प्रदान करना।

(3) आत्म-विश्वास की शिक्षा प्रदान करना।

(4) चरित्र-निर्माण की शिक्षा प्रदान करना।

(5) नागरिकता की भावना का विकास करना।

(6) सामाजिकता की भावना विकास करना।

(7) व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास करना।

(8) राष्ट्रीय संस्कृति की सुरक्षा करने योग्य बनाना।

उपर्युक्त उद्देश्य को सम्मुख रखकर ब्राह्मण काल में शिक्षा दी जाती थी तथा शिक्षा के द्वारा इन उद्देश्यों को पूरा किया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि

प्राचीन भारतीय शिक्षा धार्मिक आधारशिला पर टिकी होने के बावजूद भी अपने उद्देश्यों एवं आदर्शों की दृष्टि से एकांगी नहीं थी, बल्कि उसके उद्देश्य, प्रकार प्रतिपादित किये गये थे कि व्यक्ति, धर्म, अर्थ, काम के समसेवन के साथ मोक्ष के हेतु अग्रसर हो।

प्रश्न (3) प्राचीन भारतीय शिक्षा में गुरु-शिष्य सम्बन्धों पर संक्षिप्त में प्रकाश डालते हुए विद्यार्थियों के जीवन सम्बन्धी नियमों का उल्लेख कीजिए।

प्राचीन भारत में गुरु-शिष्य सम्बन्ध का आदर्श रूप देखने को मिलता था। साधारण रूप से विद्यार्थी जीवन का आरम्भ करने की अवस्था 8 वर्ष की होती थी। लेकिन वर्गों की विभिन्नता के कारण 8 से 12 वर्ष के बीच में बच्चे आश्रम में शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते थे। ब्राह्मणों के लिये 8 वर्ष, क्षत्रियों के लिये 11 वर्ष तथा वैश्यों के लिए 12 वर्ष की अवस्था निर्धारित रहती थी। लेकिन याज्ञवल्क्य के अनुसार 'कुल की प्रथा' के आधार पर किसी भी समय उपनयन संस्कार किया जा सकता था। वैसे यह सुझाव दिया गया है कि ब्राह्मण को 5वें वर्ष, क्षत्रिय को 6वें वर्ष तथा वैश्य को 8वें वर्ष विद्या अवश्य ही आरम्भ कर देनी चाहिये। वैसे आयु की अधिकतम सीमा भी निर्धारित थी जो ब्राह्मण के लिए 16 वर्ष, क्षत्रिय के लिए 22 वर्ष तथा वैश्य के लिए 24 वर्ष थी। इस अवस्था को पार करने के उपरान्त किसी भी प्रकार उपनयन संस्कार नहीं हो सकता था।

वैदिक काल में शिक्षा प्राप्त करने का समय 12 वर्ष निर्धारित था। जब 8 या 9 वर्ष की उम्र में उपनयन संस्कार हो जाते थे तो 24 या 26 वर्ष की अवस्था तक विद्यार्थी जीवन समाप्त हो जाता था। विद्यार्थी जब 25 व 26 वर्ष का हो जाता था तब वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। लेकिन शिक्षा प्राप्त करने की अवस्था 24 या 25 वर्ष तक ही सीमित रही थी। यह बात विद्यार्थी की रुचि, उसकी शक्ति अथवा उसकी लगन के ऊपर निर्भर होती थी। वह चाहता तो अपनी शिक्षा को आगे के समय तक भी चला सकता था। यह विषय की प्रकृति पर निर्भर हुआ करती थी। वेद का अध्ययन करने का समय 12 वर्ष आवश्यक था। कोई छात्र यदि चारों वेदों का अध्ययन करना चाहता तो उसे 48 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करनी होती थी। यदि कोई किसी विशेष विषय में विशेष योग्यता प्राप्त करना चाहता था तो उसको और भी अधिक समय विद्यालय अथवा गुरु के आश्रम में देना पड़ता था। इन्द्र के ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रजापति यहाँ 105 वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था और गुरु के यहाँ रह कर वेदों का अध्ययन किया था।

आजीवन शिक्षा प्राप्त करता हुआ व्यक्ति परम पद अर्थात् मोक्ष की ओर अग्रसर होता रहा। उस युग में शिक्षक और शिक्षार्थी के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय थीं।

(क) शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध पिता-पुत्र का-सा था—वैदिक काल में गुरु तथा शिष्य का सम्बन्ध अत्यन्त पवित्र और निकट का था। इस काल में शिष्य का सम्बन्ध जो था वह शायद संसार के किसी भी देश और किसी भी काल में नहीं था। इन दोनों में अत्यधिक निकटता होती थी। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं

कि इस काल में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध पिता और पुत्र के सम्बन्ध की भाँति था। जिस प्रकार से पिता अपना धन आदि पुत्र को समर्पित कर देता है, उसी तरह गुरु भी अपना सम्पूर्ण ज्ञान और तप आदि अपने विद्यार्थियों को समर्पित कर दिया करते थे। गुरु अपने सभी शिष्यों पर उसी प्रकार उदारता रखता था जिस प्रकार कि पिता अपने सभी पुत्रों को समान समझता है।

(ख) गुरु के प्रति छात्रों के कर्त्तव्य—गुरु के प्रति शिष्यों के निम्नलिखित कर्त्तव्य होते थे—

(1) शिष्य प्रातःकाल उठकर अपने गुरु का चरण-स्पर्श करता था।
(2) गुरु के स्थान, पूजा और दातौन आदि का सामान इकट्ठा करते थे।
(3) शिष्य गुरु आश्रम की गायों को चराया करते थे।
(4) शिष्य गुरु के लिए भिक्षा माँगकर लाते थे।
(5) शिष्य गुरु के खेतों में काम करते थे।
(6) शिष्य गुरु गृह की आग को सदा जिन्दा रखते थे।
(7) शिष्य गुरु के गृहस्थी के छोटे कार्यों को करते थे।
(8) शिष्य गुरु की हर आज्ञा का पालन करते थे।
(9) शिष्य गुरु के आदेशों का अपने जीवन भर पालन करते थे।
(10) गुरु को गुरुदेव आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता था।
(11) गुरु को ब्रह्मा, विष्णु देव, महेश्वर, परब्रह्म आदि गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता था।

(ग) शिष्यों के प्रति गुरु के कर्त्तव्य—वैदिक काल के गुरु शिष्यों को पुत्रवत् मानते थे। छात्र गुरु को मानस पिता कहा करता था। चूँकि गुरु मानस पिता के रूप में थे, अतएव मानस-पिता के रूप में वे छात्रों के प्रति निम्नलिखित कार्य करते थे—

(1) छात्रों के रहन-सहन तथा पालन-पोषण की व्यवस्था करना।
(2) छात्रों के स्वास्थ्य तथा उनके चरित्र विकास का ध्यान रखना।
(3) शिष्य के बीमार होने पर पिता के समान उनकी सेवा करना।
(4) शिष्यों के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझना।
(5) शिष्यों की समस्याओं का समाधान करना।
(6) अध्यासन तथा ज्ञान-वृद्धि के लिए प्रयास करना।
(7) छात्रों की जिज्ञासा को शान्त करना।
(8) शिष्यों के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देना।
(9) छात्रों में आदर्श गुणों का विकास करना।
(10) छात्रों की बुरी आदतों को छुड़ाना।
(11) छात्र को भावी जीवन के लिए तैयार करना।
(12) छात्रों का सर्वांगीण विकास करना।

इस प्रकार विभिन्न प्रकार के नियमों का पालन करता हुआ विद्यार्थी गुरु के प्रति पितृ-भाव रखता हुआ निर्विघ्न शिक्षा प्राप्त करता था। गुरु और शिष्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई बाह्य हस्तक्षेप नहीं होता था। बड़े-बड़े सम्राट

अपने पुत्रों को गुरु आश्रम में भेजकर गुरुओं के आदेशों का पालन करने में अपने को कृतार्थ मानते थे।

प्रश्न (4) बौद्धकालीन शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

लगभग छठीं शताब्दी ई० पू० तक प्राचीन वैदिक धर्म अनेक दोषों से परिपूर्ण हो गया था। धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की नींव दहल चुकी थी और उसमें अनेक कर्मकाण्डों समावेश हो गया था। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये नरबलि तथा पशुबलि बहुत ही आसान चीज बन गई थी। वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप ग्रहण कर लिया था। इसमें ब्राह्मणों को विशेष महत्व प्रदान किया जाता था। स्त्रियों तथा शूद्रों को हीन दृष्टि से देखा जाता था। शिक्षा पर से अन्य जातियों के अधिकार उठ गये और उस पर केवल ब्राह्मणों का अधिकार रह गया था। जन-सामान्य ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित नियमों से तंग आ गया था अतएव उन नियमों में सुधार की जरूरत समझी जाने लगी थी।

इसी समय 563 ई० पू० में महात्मा गौतम बुद्ध का आविर्भाव हुआ। उन्होंने उक्त दोषों को दूर करने के लिये सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया। इसी को हम बौद्ध धर्म कहते हैं।

बुद्ध ने जाति भेद को दूर करने हेतु लोगों में अपने धर्म का प्रचार किया। मोक्ष प्राप्त करने के लिये उन्होंने यज्ञ आदि कर्मकाण्डों को दूर करके उनके स्थान पर ज्ञान प्राप्ति, अहिंसा, सदाचार तथा पवित्र जीवन को स्थान दिया। अपने धर्म का प्रचार करने के लिये साधन रूपी में उन्होंने जन-साधारण भाषा को अपनाया। इस धार्मिक क्रान्ति का प्रभाव शिक्षा पर भी पड़े बिना न रहा। इसके परिणामस्वरूप एक नई शिक्षा-प्रणाली सामने आई, इसी को बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली कहा जाता है।

यह नवीन शिक्षा-प्रणाली वैदिक प्रणाली से काफी अर्थों में भिन्न होती हुई भी काफी समान थी। डा० आर० के० मुकर्जी ने लिखा है 'उचित रूप में विचार किये जाने पर बौद्ध शिक्षा प्राचीन हिन्दू या ब्राह्मणीय शिक्षा प्रणाली का केवल एक रूप थी !

शुरू में तो बौद्ध शिक्षा प्रणाली का मुख्य उद्देश्य धर्म का प्रचार करना था और निर्वाण प्राप्त करना था, लेकिन कुछ समय के बाद शिक्षा का उद्देश्य सांसारिक जीवन लिए तैयार हो गया।

बौद्धकालीन शिक्षा व्यवस्था

(1) बौद्ध कालीन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र 'संघ' थे—चूँकि बौद्धकालीन धर्म यानी बौद्ध धर्म का विकास संघों के रूप में ही हुआ था, इसलिये बौद्धकालीन शिक्षा के केन्द्र संघ ही रहे। यह भी बात स्मरणीय है कि चूँकि बौद्ध धर्म का आविर्भाव वैदिक धर्म के खिलाफ एक क्राँति थी, एक सुधार था इसलिये बौद्धकालीन शिक्षा पूर्ण-रूपेण भिन्न थी। यही कारण है कि बौद्ध न वैदिक अध्ययन पर निर्भर थे और न बुद्धि प्रधान करने के ठेकेदार ब्राह्मण ही थे। इन संघों के अलावा और कहीं भी शिक्षा देने का कार्य नहीं होता था। इस शिक्षा में एक विचारणीय बात यह थी कि

केवल संघ के श्रमणों को ही धार्मिक तथा सांसारिक शिक्षा पाने का अधिकार था इसलिये इन्हीं को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जाता था अन्य लोगों को नहीं। बौद्ध काल में वैदिक कालीन यज्ञों का स्थान संघों ने ले लिया था। इसलिये बौद्ध संघ की पद्धति को ही बौद्ध शिक्षा पद्धति कहा जाता है।

आर० के० मुकर्जी ने बौद्ध शिक्षा प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि बौद्ध शिक्षा प्रणाली प्रायः बौद्ध संघ की पद्धति है। जिस प्रकार वैदिक युग में यज्ञ संस्कृति के केन्द्र थे उसी प्रकार बौद्ध युग में संघ शिक्षा के केन्द्र थे। बौद्ध संसार में अपने संघों से पृथक या स्वतन्त्र रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। सब प्रकार की शिक्षा धार्मिक एवं लौकिक श्रमणों के हाथ में थी। उसका विद्या एवं उसके प्रसार के अवसर पर एकाधिकार था।

(2) बौद्ध काल की शिक्षा व्यवस्था दो स्तरों पर विभाजित थी—

(क) सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा

(ख) उच्च शिक्षा।

उक्त दोनों प्रकार की शिक्षाओं का उद्देश्य नीचे दिया गया है।

(क) सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा

(1) सार्वजनिक प्राथमकि शिक्षा की व्यवस्था की गई थी—बौद्ध-कालीन सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था का ज्ञान जातक कथाओं से समाप्त होता है। इस शिक्षा के केन्द्र बौद्ध मठ थे। प्रारम्भ में प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप धार्मिक था लेकिन आगे चल कर इसमें लौकिक शिक्षा का समावेश हो गया। बात यह थी कि ब्राह्मणों द्वारा चलाई गई प्रतिद्वन्द्वी शिक्षा संस्थाओं में इन दोनों प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। इसलिये उक्त शिक्षा का लाभ लेने के लिये बौद्धकालीन शिक्षा में भी दोनों प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। ऐसा करने स शिक्षा पर से ब्राह्मणों का एकाधिकार समाप्त हो गया। फाह्यान जब भारत आया था (399-414 ई०) उस समय बौद्ध मठों में बौद्ध संघों में सम्मिलित होने वालों की शिक्षा के साथ-साथ सामान्य शिक्षा की भी सुन्दर व्यवस्था की गई थी।

(2) सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम—7वीं शताब्दी में ह्वेनसांग और आइत्सिग भारत आये। उन्होंने बौद्धकाल की सार्वजनिक शिक्षा के स्वरूप का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उनके अनुसार बौद्ध-कालीन माध्यमिक शिक्षा का शुभारम्भ करने की अवस्था 3 वर्ष थी। छात्रों को 6 महीने तक सिद्धरस्तु नाम की बाल पोथी का अध्ययन करना होता था जिसमें वर्णमाला के 49 अक्षर थे। बाल-पोथी को समाप्त करने के बाद विद्यार्थी को निम्नलिखित 5 विद्याओं का अध्ययन करना पड़ता था—

(अ) शब्द विद्या,

(ब) शिल्प स्थान विद्या,

(स) चिकित्सा विद्या,

(द) हेतु विद्या,

(य) आध्यात्मिक विद्या।

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि बौद्ध मठों में विद्यालयों को धार्मिक, लौकिक व्यावहारिक तथा दार्शनिक ज्ञान प्रदान किया जाता था। प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार बौद्ध भिक्षुओं तथा सामान्य गृहस्थों एवं बौद्ध धर्म मानने वालों का भी था। यही कारण है कि उस शिक्षा को सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा कहा गया है। वैदिक कालीन शिक्षा का माध्यम संस्कृत थी लेकिन बौद्ध-कालीन शिक्षा का माध्यम सर्व-साधारण की भाषा अर्थात् पाली भाषा थी।

(ख) उच्च शिक्षा की व्यवस्था

(अ) **उच्च शिक्षा की रूपरेखा और पाठ्यक्रम**—सार्वजनिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त उच्च शिक्षा प्राप्त करने की भी व्यवस्था थी। उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार केवल बौद्ध भिक्षुओं को था। यह शिक्षा भी मठों में ही दी जाती थी। सामान्य विषयों का अध्ययन करने के साथ ही साथ कोई विशेष योग्यता प्राप्त करना होता था। बालक सबसे पहले व्याकरण, धर्म, ज्योतिष, औषधि-शास्त्र दर्शन इत्यादि में सामान्य ज्ञान प्राप्त करते थे तथा इसके पश्चात् किसी एक विषय में विशेष योग्यता प्राप्त करते थे। ह्वेनसांग के अनुसार उच्च शिक्षा में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही पक्षों पर ध्यान दिया जाता था—

(ब) उच्च शिक्षा के केन्द्र तथा उनकी ख्याति—बौद्ध काल में निम्नलिखित शिक्षा केन्द्र अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके थे—

(1) नालन्दा विश्वविद्यालय (2) तक्षशिला (3) विक्रमशिला (4) ओदन्त-पुरी (5) बल्लभी (6) नदिया (7) अमरावती (8) सारनाथ और जगद्दला।

उक्त शिक्षा संस्थाओं का संचालन जनतांत्रिक ढंग से होता था। इसका प्रधान शिक्षक होता था जोकि विद्यालय का संचालन करता था। प्रधान की अधी-नता में विभिन्न विषयों में उपाध्याय (शिक्षक) होते थे। इन विद्यालयों के खर्च के लिये बड़े-बड़े राजाओं तथा महाराजाओं से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती थी। इसी धन से यह विद्यालय चलते थे। इन विद्यालयों पर किसी वाह्य शक्ति का हस्तक्षेप नहीं होता था। ये सभी केन्द्र अपनी शिक्षा के लिये अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके थे। अन्य देशों में लोग आदर के साथ इन विद्यालयों का गुणगान करते थे। यही कारण है कि इन विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिये भारत के साथ-साथ अन्य देशों के छात्र भी अध्ययन करने के लिये आते थे।

डॉ० अल्तेकर ने लिखा है मठों में अपनी उच्च शिक्षा की योग्यता से जहाँ अध्ययन करने के लिये कोरिया, चीन, तिब्बत एवं जावा ऐसे सुदूर देशों के छात्र आकर्षित होते थे। भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को ऊँचा उठा दिया।

बौद्ध-कालीन शिक्षा की विशेषताएँ

बौद्धकालीन शिक्षा पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—

(1) **विद्यार्थित्व (विद्यार्थी जीवन)**—बौद्ध-कालीन शिक्षालयों के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के लिये सभी जातियों के लिए समान रूप से खुले रहते थे। विद्यार्थियों में ब्राह्मण और क्षत्रियों के लड़के अधिक होते थे। राजा-महाराजाओं से

लेकर मछुओं तक के बच्चे एक साथ शिक्षा प्राप्त करते थे । हाँ केवल चाण्डालों के पुत्रों को शिक्षालयों में प्रवेश करने का अधिकार नहीं था ।

(2) **शिक्षा आरम्भ करने की उम्र (अवस्था)**—बौद्धकाल में शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु 8 वर्ष थी । विद्यालय में प्रवेश लेने के बाद विद्यार्थी श्रमण या सामनेर अथवा नवशिष्य कहा जाता था । नये शिष्य के रूप में उसको 12 वर्ष तक अध्ययन करना पड़ता था । जब 20 वर्ष की अवस्था हो जाती थी तो भिक्षु के रूप में वह प्रवेश करता था । शिक्षा पाने के लिये हर विद्यार्थी अपने माता-पिता की आज्ञा लेना आवश्यक होता था ।

(3) **विद्यार्थियों का चुनाव**—वैसे तो सभी जातियों के लोगों को विद्याध्ययन का पूर्ण अधिकार होता था लेकिन निम्न बातों में से कोई भी बात यदि छात्र में होती थी तो वह शिक्षा पाने के लिये आयोग्य समझा जाता था । ऐसे विद्यार्थी को विद्यालय (मठों) में प्रवेश करने का अधिकार नहीं होता था—

(1) जो किसी राजा की नौकरी करता हो ।
(2) जो जेलखाने से भागकर आया हो ।
(3) जिसे राज्य की ओर से दण्डित किया गया हो ।
(4) जिसे डाकू घोषित किया गया हो ।
(5) जिसके शरीर का कोई भाग विकृत हो ।
(6) जिसका कोई अंग-भंग हो ।
(7) जो नपुंसक हो ।
(8) जिसे कोढ़, तपेदिक अथवा कोई अन्य छूद का रोग हो ।
(9) जो दास अथवा कर्जदार हो ।
(10) जिसे विद्या प्राप्त करने के लिये माता-पिता की आज्ञा न हो ।

(4) (क) **संस्कार**—वैदिक कालीन शिक्षा में जिस प्रकार छात्रों का उपनयन संस्कार किया जाता था उसी प्रकार बौद्ध शिक्षा में अवज्य या प्रवज्या संस्कार होने के बाद ही छात्र विद्यालय में (मठों) में शिक्षा पाने का अधिकारी समझा जाता था । प्रवज्या का अर्थ है, बाहर जाना । इसका तात्पर्य था छात्र का अपने परिवार से अलग होकर बौद्ध मठ में प्रवेश करना । बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटक में प्रवज्या संस्कार को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है ।

छात्र अपने सिर के बाल मुड़वाता था, पीले वस्त्र पहनता था, मठ के भिक्षुओं के चरणों में अपना माथा टेकता और फिर पालथी मार कर बैठ जाता था ।

तदुपरान्त मठ का श्रेष्ठ भिक्षु विद्यार्थी को शरणमयी प्रदान करने के लिये निम्न शब्दों को तीन बार कहलवाता था—

"बुद्ध शरणम् गच्छामि,
धम्मं शरणं गच्छामि,
संघं शरणं गच्छामि ।"

(ख) **दस आदेश**—उक्त कार्य के बाद छात्र को दस आदेश दिये जाते थे । इन आदेशों का पालन करना हर छात्र के लिये आवश्यक होता था । इन्हीं दस आदेशों का पालन करते हुये कोई छात्र बौद्ध शिक्षा विधिवत् प्राप्त कर सकता था—

(1) अशुद्धता से दूर रहना।
(2) असत्य भाषण न देना।
(3) जीव हत्या न करना।
(4) चोरी न करना।
(5) मादक वस्तुओं का सेवन न करना।
(6) शृङ्गार प्रसाधनों का प्रयोग न करना।
(7) नृत्य संगीत, तमाशा आदि के पास न जाना।
(8) ऊँचे बिस्तर पर न सोना।
(9) वर्जित समय पर भोजन न करना।
(10) सोने-चाँदी को दान न देना।

उपसम्पदा संस्कार

(5) (क) **संस्कार**—8 वर्ष से लेकर 12 वर्ष तक छात्र श्रमण अथवा नव-शिष्य के रूप में विद्या प्राप्त करता था। 12 वर्ष तक अध्ययन कर लेने के बाद उप-सम्पदा संस्कार के द्वारा भिक्षु के रूप में वह संघ में प्रवेश करता था। भिक्षु की शिक्षा का कार्यक्रम 20 वर्षों तक चलता था। उप-सम्पदा संस्कार एक पक्षीय संस्कार नहीं था। यह 16 भिक्षुओं के सामने होता था। एक भिक्षु श्रमण का परिचय कराता, उसके बाद अन्य भिक्षु कुछ प्रश्न करते थे। उत्तरों के आधार पर ही यह निर्णय किया जाता था कि भवशिष्य उपसम्पदा ग्रहण करने का अधिकारी हो सकता है अथवा नहीं। यह प्रणाली जनतन्त्रात्मक प्रणाली कही जा सकती है। इस संस्कार के बाद श्रमण अब पूर्ण भिक्षु बनकर संघ में प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता था।

(ख) **नियम**—संघ में आने पर भिक्षु के रूप में छात्र को नीचे लिखे नियमों का पालन करना अनिवार्य होता था—

(1) साधारण तथा सादे वस्त्रों को धारण करना।
(2) वृक्ष तले निवास करना।
(3) भिक्षा माँग कर भोजन करना।
(4) औषधि के रूप में गोमूत्र का सेवन करना।
(5) स्त्री समागम, चोरी तथा हत्या से बचना।
(6) अलौकिक शक्तियों का दावा न करना।

(6) **अध्ययन का समय**—बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली में 22 वर्ष तक अध्ययन कार्य करने का नियम था। यह काल दो भागों में विभाजित था—

(क) 12 वर्ष पब्बज्जा का।
(ख) 10 वर्ष उपसम्पदा का।

(7) **विद्यार्थी जीवन के नियम**—बौद्ध कालीन शिक्षा में छात्रों में निम्न नियमों का पालन करना पड़ता था—

(1) **स्नान**—स्नान करना सबके लिये आवश्यक था। वे स्नान करते समय अपने हाथ से शरीर मल सकते थे लेकिन किसी अन्य चीज जैसे लकड़ी आदि से शरीर नहीं मल सकते थे। दूसरे से शरीर रगड़वाना भी मना था। स्नान करते समय व खेल भी नहीं सकते थे।

(2) **भोजन का नियम**—विद्याध्ययन करने वाले छात्रों को बहुत ही सादा भोजन करना पड़ता था। दिन में तीन बार-भोजन करने का नियम था। रात्रि के भोजन के लिये शिष्य तथा गुरु कहीं न कहीं आमन्त्रित किये गये रहते थे।

(3) **वस्त्र धारण के नियम**—बौद्ध-कालीव शिक्षार्थियों को कम से कम वस्त्र धारण करना होता था। उनके पीत वस्त्र होते थे, इसलिये उन्हें तिचिवरा कहा जाता था।

(4) **भिक्षाटन**—बौद्धकालीन शिक्षा का यह नियम था कि वे दैनिक क्रियाओं से मुक्ति पाकर बिल्कुल प्रात:काल भिक्षा माँगने के लिये चले जाते थे। माँगते समय वे मौन ही रहते थे तथा उतनी भिक्षा माँगते थे जितने कि आवश्यकता होती थी। आवश्यकता से अधिक भिक्षा वे नहीं लेते थे।

(5) **अनुशासन**—बौद्धकालीन शिक्षा में छात्रों को अनुशासन में रह कर अध्ययन कार्य करना होता था। छात्रों को अनुशासन में रहने के लिये निम्नलिखित कार्य करने पड़ते थे—

(क) उन्हें सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं था।

(ख) वे अपने शरीर को अलंकृत नहीं कर सकते थे।

(ग) व्यर्थ की बातें और व्यर्थ के कार्य करने की मनाही थी।

(घ) उन्हें खेल-तमाशे आदि देखने की सख्त मनाही थी।

(ङ) उनके लिये यह आदेश होता था कि वे फूलों, पत्तों, पौधों आदि को हानि न पहुँचावें। जो विद्यार्थी इन नियमों का उल्लंघन करते थे उनको दण्डित किया जाता था। संघ के प्रधान भिक्षु को जब यह विश्वास हो जाता था कि संघ में अनुशासनहीनता फैल गई हैं तो वे सभी भिक्षुओं को एक साथ बाहर निकाल दिया करते थे।

(8) **गुरु के प्रति विद्यार्थी के कार्य**—छात्र के लिए यह आवश्यक था कि गुरुदेव के प्रात:काल जागने के पूर्व स्वयं जाग जायें। स्वयं दैनिक क्रियाओं से मुक्ति प्राप्त करके गुरुदेव के लिए स्नान का जल रखना, हाथ-मुँह धोने के लिए जल रखना, झाड़ू लगाना, सफाई करना, गुरुदेव के आसन का स्थान ठीक करना, साथ ही छात्र गुरु के साथ भिक्षा माँगने जाते थे तथा गुरु से पहले ही लौट आते थे। वे पहले इसलिये लौट आते थे कि गुरुदेव को हाथ-मुँह धोने के लिये पानी आदि रखना होता था तथा उनके स्थान को विधिवत् ठीक करना होता था, साथ ही भोजन का भी प्रबन्ध करना होता था।

(9) **गुरुदेव की योग्यताएँ तथा छात्र के प्रति उनके कर्त्तव्य**—बौद्धकालीन शिक्षा में गुरु बनने के लिए कुछ विशेष योग्यताओं की आवश्यकता होती थी। वही व्यक्ति गुरु पद पर आसीन हो सकता था जो निम्नलिखित योग्यताओं से विभूषित होता था—

(1) जो कम से कम 10 वर्ष तक भिक्षु रह चुका हो।

(2) जिसका आचरण शुद्ध हो।

(3) पवित्र विचार, विनम्रता, मानसिक क्षमता आदि गुणों से युक्त हो।

(4) गुरु-शिष्य का मानवीय तथा आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक होता था।

(5) छात्रों के लिए वस्त्र, भिक्षापात्र, आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध करना होता था।

(6) शिष्य के बीमार हो जाने पर उसकी सेवा-सुश्रुषा करनी होती थी।

(10) **गुरु और शिष्य का सम्बन्ध**—बौद्ध-कालीन शिक्षा में गुरु तथा शिष्य का सम्बन्ध अत्यन्त पवित्रता से परिपूर्ण होता था। वे अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन बड़े ही मनोयोग के साथ करते थे। शिष्य का जीवन अत्यन्त सादा तथा पवित्र होता था। गुरु भी अपने शिष्यों के सामने सादा जीवन, निरन्तर अध्ययन, ब्रह्मचर्य, निष्कलंक, चरित्र वान तथा आदर्श रूप प्रस्तुत करता था। चूँकि गुरु और शिष्य कई वर्षों तक एक साथ रहते थे इसलिए दोनों के सम्बन्ध में अत्यधिक निकटता तथा निर्मलता रहती थी। इस सम्बन्ध मे डा० अल्तेकर ने लिखा है, "अपने गुरु के साथ नव शिष्य के सम्बन्धों का स्वरूप पुत्रानुरूप होता था। वे पारस्परिक सम्मान, विश्वास और प्रेम के साथ एक दूसरे से बँधे हुए होते थे।"

(11) **बौद्ध-कालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम**—बौद्ध-कालीन शिक्षा दो स्तरों पर विभाजित थी, इसलिए उनका पाठ्यक्रम भी पृथक्-पृथक होता था। नीचे हम (1) सामान्य प्राथमिक शिक्षा, (2) उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों का उल्लेख करेंगे।

(1) **सामान्य प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम** – (क) वर्णमाला के ज्ञान हेतु पहले 49 अक्षरों वाली 'सिद्धिरस्तु' नामक बाल पोथी पढ़ाई जाती थी। इससे छात्रों को वर्णमाला के अक्षरों का ज्ञान प्राप्त होता था।

(ख) इसके बाद छात्र शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, देव तथा अध्यात्म विद्या का अध्ययन करते थे।

(2) **उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम**—उच्च-शिक्षा के पाठ्यक्रम के निम्नलिखित विषय थे—

(1) बौद्ध धर्म, (2) जैन धर्म, (3) हिन्दू धर्म, (4) अध्यात्म दर्शन, (5) दर्शन, (6) संस्कृत, (7) पाली, (8) नक्षत्र मूलगणक विद्या, (9) खगोल शास्त्र, (10) तर्कशास्त्र, (11) कानून; (12) औषधि शास्त्र, (13) प्रशासन, (14) दर्शन, (15) राज्य व्यवस्था (16) ईश्वर शास्त्र।

(1) **बौद्ध-कालीन शिक्षा की शिक्षण पद्धति**—बौद्ध-काल की शिक्षा निम्न पद्धतियों से दी जाती थी—

(2) **मौखिक शिक्षण-पद्धति**—वैदिक काल की भाँति ही बौद्ध काल में भी मौखिक शिक्षा प्रणाली प्रचलित थी। इस शिक्षा-प्रणाली में प्रवचन, भाषण, श्रवण, मनन, चिन्तन, कण्ठस्थीकरण तथा अन्य मानसिक क्रियाओं को स्थान दिया जाता था।

(3) **प्रश्नोत्तर वाद-विवाद तथा व्याख्या विधि**—वैदिक कालीन शिक्षा में प्रश्न तथा उत्तर प्रणाली प्रचलित थी गुरु छात्रों से प्रश्न करता था, छात्र उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे। शंका होने पर छात्र के प्रश्नों के उत्तर गुरु देते थे। इस प्रकार विभिन्न तथ्य ऐसे भी आते थे जहाँ कि गुरु को उस तथ्य की व्याख्या करनी पड़ती थी।

यदि कोई विवाद की बात आ आती थी तो उसके समाधान के लिए निम्नलिखित 8 प्रमाण दिये जाते थे—

(क) सिद्धान्त, (ख) हेतु, (ग) उदाहरण, (घ) साधर्म्य, (ङ) वैधर्म्य (च) प्रत्यक्ष, (ज) अनुमान और (ज) आगम।

(3) **अग्रशिष्य प्रणाली**—बौद्ध कालीन शिक्षा में श्रमणों की शिक्षा के निमित्त ही अग्रशिष्य प्रणाली का प्रयोग किया जाता था। यह कार्य किसी श्रेष्ठ और योग्य शिष्य को ही दिया जाता था। इस प्रणाली में सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि छात्रों को अध्ययन विधि का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता था।

(4) **देशाटन तथा प्रकृति निरीक्षण विधि**—छात्रों के अनुभव में वृद्धि करने के लिए उनको देशाटन के लिए भेजा जाता था। वे प्रकृति का निरीक्षण करके अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त करते थे। छात्रों को शिक्षा की इस विधि से व्यक्तिगत अनुभव भी प्राप्त होते थे और इस विधि से सीखने के लिये जिज्ञासु बने रहते थे।

(5) **पुस्तक पर आधारित अध्ययन विधि**—इस काल तक लेखन कला का विकास प्रायः पर्याप्त हो गया था। इसलिये अध्ययन के लिये पुस्तकों का अभाव विशेष नहीं रह गया था। इसलिये बौद्धकालीन शिक्षा में आकर पुस्तक पर आधारित अध्ययन विधि का प्रचलन हो गया था।

(6) **निरीक्षण, प्रवचन तथा सम्मेलन विधि**—बौद्धकालीन शिक्षा में समय-समय पर विशेषज्ञ लोगों को आमन्त्रित किया जाता था। वे छात्रों में आकर भाषण करते थे। भिक्षुओं का सम्मेलन होता था, इस सम्मेलन में विद्यार्थी भी भाग लेते थे। प्रमुख विषयों पर प्रवचन आदि होता था। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने बौद्ध-कालीन शिक्षण विधि के बारे में अपनी यात्रा के वर्णन में लिखा है कि, "शिक्षक पाठ्य-वस्तु का सामान्य अर्थ बताते हैं और छात्रों को सविस्तार पढ़ाते हैं, वे उन्हें परिश्रम के लिये प्रोत्साहित करते हैं और कुशलता से उन्नति के पथ पर अग्रसर करते हैं। वे क्रियाशून्य छात्रों को निर्देशित करते हैं और मन्द-बुद्धि विद्यार्थियों को ज्ञान की प्राप्ति के लिये उत्सुक करते हैं।"

(12) **शिक्षा का माध्यम**—बौद्ध-कालीन शिक्षा में शिक्षा का माध्यम लोक भाषा पालि थी। लेकिन बौद्ध-कालीन भाषा तथा साहित्य का अध्ययन करने के लिये संस्कृत भाषा की जानकारी आवश्यक थी। गौतम बुद्ध ने स्वयं मातृभाषा और देशी भाषाओं पर ही बल दिया है। इस सम्बन्ध में एक कथा 'चुल्लवग्ग' (Chulla-vagga) में मिलती है। बुद्ध भगवान के धर्म को मानने वाले दो ब्राह्मणों ने महात्मा बुद्ध से उनके उपदेशों को संस्कृत भाषा में लिखने की आज्ञा माँगी। गौतम बुद्ध ने उनकी याचनाओं को अस्वीकार करते हुये यह कहा कि 'ओ भिक्षुओं...'मैं तुममें से प्रत्येक को बुद्ध के उपदेश का स्वयं अपनी भाषा में सीखने की आज्ञा देता हूँ।" डा० मुखर्जी ने लिखा है, "बुद्ध भगवान ने देशी भाषाओं को विशेष शक्ति तथा प्रेरणा प्रदान की।

प्रश्न (5) प्राचीन भारतीय शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों–तक्षशिला और नालन्दा की शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में संक्षेप में प्रकाश डालिये।

प्राचीन भारत में शिक्षा के अनेक प्रमुख केन्द्र थे इनमें से तक्षशिला, नालन्दा, बनारस, बल्लभी, अग्रहार, विशेष रूप से उल्लेखनीय थे। यहाँ हम तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में संक्षेप में प्रकाश डाल रहे हैं।

तक्षशिला

(क) तक्षशिला की स्थापना—रावलपिण्डी की पश्चिम दिशा में लगभग बीस मील की दूरी पर स्थित तक्षशिला गान्धार प्रदेश की राजधानी थी। बाल्मीकि रामायण के अनुसार भरत ने इस नगर की नींव डाली थी तथा अपने पुत्र दक्ष को वहाँ का शासक नियुक्त किया था। उसी के नाम पर इसका नाम तक्षशिला पड़ा। यह भी कहा जाता है कि जनमेजय का नागयज्ञ इसी स्थान पर हुआ था। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से यह ब्राह्मणीय शिक्षा का प्रधान केन्द्र रहा है। लेकिन इस बात के प्रामाणिक तथ्य हमें नहीं मिलते कि प्रारम्भिक काल में उसने शिक्षा में क्या प्रगति की। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि पाँचवीं शताब्दी में जब फाह्यान ने तक्षशिला को देखा तब वहाँ उसे विश्वविद्यालय के कोई भी अवशेष दृष्टिगोचर नहीं हुए। इतना अवश्य है कि ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तक यह शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र माना जाता रहा और राजगृह, काशी व मिथिला जैसे सुदूर स्थानों से विद्यार्थी वहाँ आते थे तथा सिकन्दर के समय में वह अपने दार्शनिकों के लिये सुविख्यात था।

इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुये के० एस० वकील ने लिखा है, "यह हिन्दू तथा बौद्ध संस्कृति का केन्द्र था जहाँ कि सैकड़ों की संख्या में विद्यार्थी एवं शिक्षक भारत के कौन-कौन से और एशिया के देशों से आते हैं।"

(ख) विद्यालय का प्रबन्ध—तक्षशिला में कोई सुव्यवस्थित विश्वविद्यालय अथवा शिक्षा संस्था नहीं थी वरन् यहाँ पर पारिवारिक प्रणाली के आधार पर शिक्षा प्रदान की जाती थी। विद्यार्थी को शिक्षा शुल्क के अलावा भोजन तथा निवास का शुल्क देना पड़ता था। इस भुगतान के तीन रूप होते थे। ये रूप निम्नलिखित हैं—

(1) प्रवेश के समय एक सहस्र मुद्राएँ प्रदान करना।

(2) अध्ययन के उपरान्त स्वर्ण मुद्राएँ देने का वचन देना।

(3) गुरुदेव की सेवा करना।

इस प्रकार से धनी या गरीब सभी विद्यार्थियों को अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हो जाया करता था। एक अध्यापक के पास कभी-कभी 500 तक छात्र हुआ करते थे। प्रवेश की न्यूनतम आयु 16 वर्ष थी। यह स्थान उच्च शिक्षा के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध था। यह निर्विवाद रूप से प्राचीन भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र था तथा लगभग 1000 वर्षों तक इसकी ख्याति देश-विदेशों में व्याप्त थी। यहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिये आया करते थे।

(ग) पाठ्यक्रम—तक्षशिला चूँकि शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था इसलिये यहाँ उच्च स्तरीय विषयों का अध्यापन किया जाता था। इसके प्रमुख विषय निम्नलिखित थे—

(1) वेदचर्या (तीन वेद), (2) वेदान्त, (3) व्याकरण, (4) आयुर्वेद, (5) ज्योतिष, (6) कृषि व्यापार, (7) तर्कशास्त्र, (8) सर्पदंश चिकित्सा, (9) सैनिक शिक्षा, (10) 18 शिल्पों की शिक्षा।

व्याकरण के जनक पाणिनि, सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ चाणक्य तथा अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य, भगवान बुद्ध के व्यक्तिगत चिकित्सक जीवक और प्रसिद्ध भारतीय सम्राट चन्द्रगुप्त और पुष्पमित्र ये सभी तक्षशिला की पावन धरती की ही उपज थे। भारतीय और ग्रीक युद्ध-कला के प्रशिक्षण के लिये भी यह स्थान अधिक प्रसिद्ध रहा है। विषयों का चुनाव करने में वर्ण-व्यवस्था का कोई भी बन्धन नहीं था। विद्यार्थी उक्त विषयों में से कोई भी विषय ले सकते थे।

तक्षशिला में जब ऊँच-नीच का भेद-भाव न था और शुल्क देने वाले धनी छात्रों और शारीरिक श्रम करने वाले निर्धन छात्रों दोनों को ही एक प्रकार का सामान्य जीवन व्यतीत करना पड़ता था तथा भोजन, वस्त्र, रहन-सहन भी सबका एक समान होता था जिसके द्वारा वह भोग विलास की सामग्री रख सकें। साथ ही शिक्षा में भी प्रत्येक वर्ण को समान सुविधाएँ प्राप्त थीं और विषयों के चयन में वर्ण की बाधकता न थी। जहाँ क्षत्रिय ब्राह्मणों के साथ वेदाध्ययन करते थे वहाँ ब्राह्मणों के साथ वे धनुर्विद्या में कुशलता प्राप्त करते थे। विद्यार्थियों को न केवल ग्रीक भाषा की शिक्षा दी जाती थी अपितु ग्राम युद्ध प्रणाली भी सिखाई जाती थी तथा चिकित्सा शास्त्र की अध्ययन अवधि सात वर्ष थी।

(घ) तक्षशिला के पतन के दिन—अपने विशाल वैभव के दिनों में तक्षशिला को अनेक विदेशी आक्रमणों के निर्मम प्रहार सहने पड़े थे। इसलिए तक्षशिला के उत्थान और पतन दोनों ही होते रहे। इसकी प्रसिद्धि कुषाण शासन के अंत (250 ई०) तक रही। इसके बाद धीरे-धीरे इसकी अवनति होती गई। पाँचवीं शताब्दी में जब फाह्यान भारत आया था तो उस समय शिक्षा केन्द्र के रूप में तक्षशिला का दीप बुझ चुका था। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग ने इस शिक्षा केन्द्र को देखकर अत्यधिक दुख व्यक्त किया था। पाँचवीं शताब्दी के मध्य बर्बर हूणों ने इस शिक्षा केन्द्र को विध्वंश करके इसको मिट्टी में मिलाकर छोड़ दिया। अब इसकी केवल स्मृतियाँ ही जाग रही हैं।

नालन्दा

(क) नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना—नालन्दा बिहार प्रांत में पटना से लगभग 50 मील दक्षिण की ओर स्थित है। नालन्दा के प्रमद वन में रहकर भगवान बुद्ध ने अनेक धर्मोपदेश दिये थे। उनके प्रथम शिष्य सारिपुत्र का जन्म स्थान यहीं पर है। अशोक जब सारिपुत्र का चैत्य देखने श लिये यहाँ आये थे तो यहाँ पर उन्होंने एक विशाल बिहार बनवाया था। अतएव कहा जा सकता है कि महान् सम्राट अशोक नालन्दा के पहले संस्थापक थे। नालन्दा का महत्व धीरे-धीरे शिक्षा की दृष्टि से बढ़ता गया। लेकिन शिक्षा केन्द्र के रूप में इसकी ख्याति पाँचवीं शताब्दी से हुई थी। 410 ई० में चीनी यात्री फाहियान भारत आया उस समय नालन्दा की ख्याति शैक्षिक केन्द्र के रूप में काफी बढ़ गई थी।

इसके बाद लगभग तीन शताब्दियों तक यह शिक्षा केन्द्र उन्नति के पथ पर निरन्तर बढ़ता ही गया। सातवीं शताब्दी में जब चीनी यात्री ह्वेनसाँग भारत आया तो उसने नालन्दा का विशद वर्णन किया। इसके इस यात्रा वर्णन से ज्ञात होता है कि उस समय नालन्दा अपने वैभव के दिन देख रहा था। इसकी उन्नति में

गुप्त सम्राटों का विशेष योगदान रहा है। कुमार गुप्त प्रथम (414-445) ने यहाँ एक अति विशाल विश्वविद्यालय भवन का निर्माण करवाया। इसके बाद अन्य गुप्त वंश के सम्राटों ने इसके प्रत्येक चरण के विकास में अपना पूरा योगदान दिया था।

(ख) विश्वविद्यालय भवन—यह विश्वविद्यालय एक मील लम्बे आधे लील चौड़े क्षेत्र में स्थापित किया गया था। यह क्षेत्र एक विशाल और मजबूत चहारदीवारी से घेर दिया गया। एक बहुत बड़ा प्रवेश द्वार बना था, इसी से होकर विश्वविद्यालय के भीतर प्रवेश करते थे। विश्वविद्यालय द्वार पर एक पंडित होता था। विश्वविद्यालय के प्रागंण में भीतर 8 बड़े-बड़े सभा भवन होते थे। यहाँ पर विद्यार्थियों को भाषण दिये जाते थे। यहाँ पर 300 अध्ययन कक्ष बने थे। इनमें अध्ययन अध्यापन कार्य होता था। हर एक भवन छः मंजिले होते थे। इनकी ऊँची-ऊँची मीनारें आकाश को छूती थीं। सभा भवन तथा अध्ययन के चारों ओर शिक्षकों और छात्रों को रहने के लिये चार मजिन्ले भवन बने हुये थे।

सम्पूर्ण विश्वविद्यालय भवनों को देखने से यह ज्ञात होता था कि इस विश्वविद्यासय का निर्माण एक निश्चित योजना के आधार पर हुआ था। उस समय देश में वास्तुकल तथा इंजीनियरिंग की उन्नति काफी बढ़ चुकी थी।

विश्व विद्यालय में ही एक विशाल पुस्तकालय था। यह पुस्तकालय भवन 9 मंजिला था जिसकी ऊँचाई 300 फुट थी। इसमें सभी विषयों की पुस्तकों का विशाल संग्रह था। सम्पूर्ण पुस्तकालय तीन भागों में विभाजित कर दिया गया था जो (1) रत्नसार, (2) रत्नोदधि (3) रत्न-रजक नाम से सम्बोधित किये जाते थे। इन सभी भवनों के अलावा मैदान में चारों तरफ पवित्र और निर्मल जल के लगभग 12 सरोवर थे। इनमें कमल खिले रहते थे जिनसे कि विश्वविद्यालय की सारी सीमा में चार चाँद लग जाता था। इन सरोवरों के पवित्र जल में विद्यार्थी जल-क्रीड़ा भी करता था।

(ग) विश्वविद्यालय में प्रवेश—इस विश्वविद्यालय में छात्रों का प्रवेश बड़ी कठिनाई के साथ होता था। कारण यह था कि प्रवेश के इच्छा रखने वाले, विद्यार्थियों की विश्वविद्यालय के दरवाजे पर द्वार पंडित के द्वारा परीक्षा ली जाती थी। यहाँ जो विद्यार्थी सफल हो जाते थे केवल उन्हें ही विश्वविद्यालय में प्रवेश का अधिकार होता था। प्रवेश के लिए इच्छुक विद्यार्थियों में केवल दस प्रतिशत विद्यार्थी ही ऐसे होते थे जिनको कि विश्वविद्यालय में प्रवेश की अनुमति प्राप्त होती थी। इस विश्वविद्यालय का शिक्षा स्तर वास्तव में बहुत ऊँचा था। इसलिए देश तथा विदेश से आए विद्यार्थियों की भीड़ सी लग जाती थी।

इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए विद्वान् के० एस० वकील ने लिखा है कि "उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए न केवल भारत के विभिन्न भागों से बल्कि विदेश जैसे तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान, बर्मा, सुमात्र, जावा, तुर्किस्तान आदि देशों से भी विद्यार्थी नालन्दा विश्वविद्यालय में आते थे।

(घ) प्रबन्ध तथा प्रशासन—यहाँ का प्रबंध तथा प्रशासन आदर्श ढंग का था। इस विश्वविद्यालय में लगभग 10,000 विद्यार्थी व 1,500 अध्यापक अध्ययन

अध्यापन का कार्य सम्पादित करते थे। विश्वविद्यालय कई भागों में विभाजित था, इसका प्रबंध पूर्णरूपेण जनतंत्रीय प्रणाली पर आधारित था। विश्वविद्यालय के पूरे प्रबन्ध का नियामक भिक्षु महास्थिर ही होता था। यह विश्वविद्यालय का कुलपति अथवा अध्यक्ष कहा जाता था। वह भिक्षुओं द्वारा निर्वाचित होता था तथा सर्वश्रेष्ठ विद्वान् होता था। कुलपति की सहायता के लिये परामर्श देने वाली दो समितियाँ होती थीं उनमें पहली समिति शिक्षा सम्बन्धी कार्यों-उदाहरणस्वरूप पाठ्य विषयक शिक्षकों के कार्यक्रम, पुस्तकालय संचालन आदि में परामर्श तथा सहायता देती थी। दूसरी समिति आर्थिक प्रशासन विषय कार्यों में सहायता देती थी। विभिन्न भागों के अध्यापकों का निर्वाचन विश्वविद्यालय संघ द्वारा होता था। इस विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रों को कोई शुल्क नहीं देना होता था। विद्यार्थियों के निवास, भोजन, वस्त्र और चिकित्सा आदि सभी बातों की व्यवस्था भी निःशुल्क की जाती थी। शिक्षा शुल्क तथा खर्च का यह सब भार राजाओं तथा प्रजा पर होता था। राजा और प्रजा विश्वविद्यालय को भूति तथा धन दान के रूप में देते थे। विश्वविद्यालय के पास दान में प्राप्त हुए 200 गाँवों की आय थी और अनेक दान समितियों के द्वारा इसका आर्थिक खर्च पूरा होता था।

(ङ) विश्वविद्यालय का छात्रावास—नालन्दा विश्वविद्यालय के छात्रावास की व्यवस्था ही सुन्दर थी। दो मंजिलों के 13 विहारों में छात्रों के निवास के लिए भारी संख्या में कमरे थे। कुछ कमरों में एक-एक विद्यार्थी रहते थे और कुछ में दो-दो। छात्रों को शयन करने के लिए हर कमरे में पत्थर की चौकी होती थी, दीपक रखने के लिए दीवट होता था तथा पुस्तकों को रखने के लिए आला बना हुआ होता था। कमरों का निर्धारण क्रम से होता था। यह क्रम वही होता था जिस क्रम से विद्यार्थी प्रवेश लेते हों। छात्रावास में भोजन के लिए बड़े-बड़े चौके थे। इनमें भोजन पकाने का काम विहार की ओर से निर्धारित कर्मचारी करते थे। पानी की व्यवस्था भी छात्रावास में बहुत ही अच्छी थी हर किसी विहार के आँगन के कोने में पक्के छायादार कुँए बने हुने थे।

(च) पाठ्यक्रम—चीनी यात्री आइत्सिंग नालन्दा में लगभग 10 वर्ष तक रहा था। उसने विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में विस्तार के साथ उल्लेख किया है। विश्वविद्यालय में बौद्ध धर्म की दोनों ही शाखाओं जैसे महायान और हीनयान के अलावा वैदिक धर्म की भी शिक्षा प्रदान की जाती थी। अनेक धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का भी विचारपूर्वक अध्ययन कार्य होता था। इसके अति-उच्च शिक्षा प्रदान की जाती थी। आजकल के समान ही यह विश्वविद्यालय स्नातकोत्तर शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था।

(छ) शिक्षण-विधि—इस विश्वविद्यालय में निम्नलिखित शिक्षण विधियों का प्रयोग करके शिक्षा प्रदान की जाती थी—

(1) मौखिक और पुस्ताक व्याख्या विधि।
(2) व्याख्यान विधि।
(3) शास्त्रार्थ विधि।

विश्वविद्यालय में प्रतिदिन 100 भाषण होते थे। ये भाषण विद्यार्थियों के लिए सुनना आवश्यक था यहाँ के अध्यापक अपने ज्ञान और प्रतिमा के लिए विख्यात थे। ह्वेनसाँग ने कुछ प्रसिद्ध शिक्षकों के नाम गिनाए हैं। ये सुविख्यात नाम इस प्रकार हैं—

(1) चन्द्रपाल, (2) धर्मपाल, (3) ज्ञानमति, (4) श्री मति, (5) प्रभामित्र, (6) स्थिर मणि, (7) नागार्जुन, (8) शीलभद्र आदि।

(ज) नालन्दा विश्वविद्यालय का पतन—विद्या का यह महान् केन्द्र नालन्दा विश्वविद्यालय लगभग 800 वर्षों तक अपने ज्ञान के प्रकाश से विश्व को आलोकित करता रहा। देश विदेश से आये न जाने कितने छात्र इसके चरणों में निवास करके पद धूलि प्राप्त करके ज्ञानी बने और इसके गौरव की रक्षा करते रहे। एक विद्वान् ने नालन्दा विश्वविद्यालय की तुलना आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज, हारवर्ड तथा प्रयाग जैसे विश्वविद्यालयों से की है। इसने भारतीय संस्कृति के विकास, प्रसार तथा परिवर्द्धन में सराहनीय योग प्रदान किया है। प्राचीन भारत के प्रतीक इस विश्वविख्यात विश्वविद्यालय को 11वीं शताब्दी के अन्त में मुस्लिम आक्रमणकारी बख्तियार खिलजी ने सदा के लिए धराशायी कर दिया। उसके भवन तथा पुस्तकालय में आग लगवा दी, तथा न जाने कितने भिक्षुओं और अध्यापकों को मौत के घाट उतार दिया। उन निर्मम हाथों को क्या कहा जाए जिन्होंने इसके कलेवर में आग लगाई, उस बुद्धि को कितना कोसा जाये जिसने इसके विनाश की राय दी। सम्भवतः ऐसे पातकी व्यक्ति को मनुष्य की संज्ञा देना व्यर्थ है।

इस सम्बन्ध म डा० पी० एल० रावत ने लिखा है—"यह ज्ञान प्रदीप जो युगों तक प्रकाशित बना रहा और जिसने आध्यात्मिक, पवित्र एवं योग्य मानव जीवन को प्रोत्साहन-प्रदान किया, हमेशा के लिए बुझ गया।"

●

मुद्रक—कैक्सटन प्रेस, बाई का बाग, इलाहाबाद।

क ला
(Art)

सिन्धु घाटी की वास्तु
(Architecture of Indus Valley)

प्रश्न (1) सिन्धु घाटी की वास्तु के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

अथवा

"सिन्धु घाटी का नागरिक वास्तु अप्रतिम एवं बेजोड़ है" विवेचना कीजिए।

अथवा

मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा के नागरिक वास्तु के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

सिन्धु घाटी की सभ्यता भारत की सबसे प्राचीन सभ्यता है। इस सभ्यता के समय का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। कुछ समय पूर्व तक यह माना जाता था कि आर्य सभ्यता ही भारत की प्राचीनतम सभ्यता है। आर्यों की कला से पूर्व किसी भी भारतीय कला के दर्शन नहीं होते थे परन्तु मोहनजोदड़ो और हड़प्पा आदि स्थानों पर की गयी खुदाई से ऐसे अवशेष प्राप्त हुये हैं जिनसे आर्यों की सभ्यता से पूर्व सिन्धु घाटी की सभ्यता के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। इससे यह भी पता चलता है कि उस युग में वास्तु कला अत्यन्त उच्च शिखर पर थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा का वास्तु मुख्य रूप से नागरिक वास्तु है।

खुदाई के फलस्वरूप सिन्धु घाटी सभ्यता के अवशेष मुख्य रूप से दो स्थानों पर प्राप्त हुए—सिन्धु नदी के तट पर सिन्ध में मोहनजोदड़ो तथा रावी नदी के तट पर दक्षिणी पंजाब में हड़प्पा। इन नगरों का विस्तार कई मीलों तक रहा होगा तथा किसी समय में ये बहुत ही वैभवशाली एवं समृद्ध नगर रहे होंगे। इन दोनों नगरों के दक्षिण पश्चिम 80 मील दूरी पर एक तृतीय स्थान चन्दु-दड़ो (Chandu-daro) पर यह सोचकर खुदाई की गई कि सिन्धु घाटी सभ्यता के सम्बन्ध में शायद कुछ अधिक जानकारी उपलब्ध हो सके अथवा सिन्धु घाटी सभ्यता के पतन एवं आर्य सभ्यता के आरम्भ के बीच वाले अन्धकार युग के विषय में जानकारी प्राप्त हो सके। परन्तु कोई उपयोगी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। अभी अगस्त सितम्बर 1978 में इलाहाबाद से 56 किलोमीटर दूर मध्य गाँव घाटी में हड़प्पा संस्कृति के चिन्ह यमुना नदी के किनारे कौशाम्बी से लेकर चन्द्रप्रभा नदी के काकौरिया (वाराणसी) मण्डल की चकिया तहसील) में पाए गए हैं। खुदाई और खोज का यह कार्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग द्वारा किया गया था।

इन दोनों नगरों का समय ईसवी सन् के पूर्व तीन हजार वर्ष अथवा उससे भी अधिक पूर्व का माना जाता है। इन नगरों के भवनों में प्रयुक्त सामग्री की बनावट बहुत उच्च कोटि की है तथा निर्माण की सुदृढ़ता आश्चर्यजनक है। पर्सी ब्राउन ने लिखा है कि इन नगरों का नियोजन जिस प्रकार किया गया था, उससे स्पष्ट विदित होता है कि इन नगरों का निर्माण करने वाले शिल्पी उच्च कोटि के कलाविद् थे। इन दोनों नगरों में प्रायः छोटे-बड़े दोनों ही प्रकार के आवास गृह हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के भवन हैं, जैसे क्रय-विक्रय हेतु निर्मित विशाल कक्ष (Market Halls), गोदाम (Store Rooms) अथवा कार्यालय (Office) इन नगरों में उपलब्ध वास्तुकला अपने समय से बहुत आगे यानी अत्यधिक विकसित एवं पूर्ण है। उनकी कला का उपयोगितावादी दृष्टिकोण इस बात का प्रमाण है कि वह स्थापत्य की अपेक्षा भवन-निर्माण कला के अधिक निकट है। इन नगरों के निवासी भौतिकतावादी जीवन को अधिक महत्व देते होंगे। यही कारण है कि कलात्मक वातावरण के लिए अपेक्षित सौन्दर्यानुभूति का उनमें अभाव था। इन दोनों नगरों के अवशेषों का ऐतिहासिक मूल्य अधिक है कलात्मक कम।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों का अध्ययन कई वास्तु-विद्या-विशारदों द्वारा किया गया है। महत्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार हैं—"इन नगरों का विधान दुर्ग के रूप में किया गया था। उनके पुर-विन्यास में परिवार, प्राकार, वप्र द्वार, अट्टालक, महापथ, प्रासाद कोट्ठागार, सभा, चत्वर, वीथी, जलाशय आदि वास्तु के अनेक अंग प्राप्त हुए हैं। वप्र मिट्टी कूट कर बनाया हुआ थूहा था जिसके ऊपर प्राकार खड़ी करते थे।"

"नगर-निर्माण का इतना सुरुचिपूर्ण प्रयत्न इस काल में अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई पड़ता। नगर मार्ग संकीर्ण न होकर पर्याप्त विस्तृत हैं। सड़कें प्रायः सीधी हैं तथा परस्पर समकोण पर काटती हैं। वे चौराहे का निर्माण करती हैं। इन सड़कों से शाखा के रूप में गलियाँ भी निकाली गई हैं।"

"वहाँ गलियाँ और सड़कें पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण एकदम सीध में गई हैं। कुछ सड़कें काफी बड़ी और काफी चौड़ी हैं। एक सड़क जिसकी लम्बाई का पता लगभग आधे मील तक लगा है, उत्तर से दक्षिण एकदम सीधी जाती है और 33 फीट तक चौड़ी है। इसके दक्षिण ओर एक दूसरी अधिक चौड़ी सड़क आकर इसे काटती है। इसको अन्य सड़कें भी काटती हैं जो 9 फीट से 18 फीट तक चौड़ी हैं। गलियाँ भी कम से कम चार (4) फीट चौड़ी हैं। सड़कें प्रायः पक्की नहीं होती थीं। केवल एक सड़क पर ईंटों के टुकड़े और बर्तनों के फूटन डालकर पक्का करने की चेष्टा की गई दिखाई देती है।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के समस्त भवन तथा गृह ईंटों से बने थे। उनमें प्रायः पक्की ईंटों का प्रयोग हुआ है. जिनका रंग हलका लाल है। कहीं-कहीं नींव में ईंटों का प्रयोग पाया जाता है। ये ईंटे कच्ची और पक्की दोनों प्रकार की हैं। ईंटों के सम्बन्ध में एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। वे चाहे पक्की हों अथवा कच्ची ईंटें सुडौल तथा आनुपातिक हैं। सामान्यतः उनकी लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा दुगुनी है और मोटाई आधी है। इनके आकार 10.25″ × 5″ × 2.25″ से 20.25″

×8.5″×2.5″ के बीच भिन्न-भिन्न हैं। मकानों में 10″×5.25″×2.5″ की ही ईंटों का प्रयोग किया गया है। बड़ी ईंटों का प्रयोग कार्यों में नाली आदि ढकने के लिए ही किया गया है। कच्ची ईंटों का उपयोग जहाँ-तहाँ ही हुआ है। कुँओं में जो ईंटें लगी हैं वे चौड़ाई में एक ओर कम और दूसरी ओर अधिक हैं। फर्श आदि कार्यों के लिए छोटे छोटे टुकड़ों यथा 9.5′6×4.35″×2″ में काटकर ईंटों का प्रयोग किया गया है और कोरें रगड़ कर चिकना कर लिया गया है। कहीं-कहीं कोने पर ∠ आकार की ईंटों का प्रयोग किया गया है। इन ईंटों के अतिरिक्त भी कुछ विशेष आकार की ईंटें प्राप्त हुई हैं।

दीवालों की चुनाई आधुनिक ढंग की है। दीवालों में ईंटों को लगाने के लिए गारे तथा चूने का प्रयोग किया गया है। दीवालों की ऊँचाई 25 फीट तक है। मकानों में पत्थर का प्रयोग नहीं मिलता है।

छतों और खिड़कियों के बारे में प्रायः अनुमान ही लगाया जा सकता है। अनुमानतः छतें सपाट रही होंगी पहले शहतीर डालते होंगे और फिर चटाई बिछाई जाती थी। फिर चटाई पर मिट्टी डालकर उसकी कुटाई की जाती थी छतों का पानी बहने के लिए पनाले थे। खपरैल के अवशेष उपलब्ध नहीं हुए हैं। अतः कहा नहीं जा सकता है कि खपरैल का प्रयोग होता था या नहीं।

खिड़कियों के ही अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं। अनुमानतः हवा और रोशनी दरवाजों के द्वारा ही प्राप्त होती थी। दरवाजों की चौड़ाई 3.4′ से 7.10′ तक मिली है।

छत के भार साधन के लिए स्तम्भ बनाए जाते थे। ये स्तम्भ आयताकार हुआ करते थे। एक ऐसा भी स्तम्भ मिला है जिसका आधार 3 वर्ग फुट है और शीर्ष $2\frac{1}{2}$ फुट है।

मकान कई-कई खण्ड वाले हुआ करते थे। कई मकान ऐसे मिले हैं जो काफी विशाल थे। एक विशाल भवन की लम्बाई 242 फीट और चौड़ाई 112 फीट है। इसी प्रकार 90 वर्ग फीट का एक विशालाकार मध्यहाल भी मिला है। विशाल भवनों की दीवाल की मोटाई 5 फोट तक है। प्रत्येक घर के साथ स्नानागार था। कुछ मकानों में शौचालय भी मिले हैं। ये स्नानागार और शौचालय मकान के एक कोने में थे तथा मकान के किसी भी खण्ड (मंजिल) में हो सकते थे। स्नानागारों और शौचालयों से पानी बहने के लिए उपयुक्त परनालों की ऐसी व्यवस्था थी कि राहगीरों के ऊपर पानी के छींटे न पड़ सकें। नालियाँ-नाले ढके हुए थे। नालियाँ सम्भवतः गंदे पानी के लिए तथा नाले बरसाती पानी के लिए थे। प्रतीत होता है कि वे लोग शरीर की स्वच्छता का पूरा ध्यान रखते थे। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस संदर्भ में लिखा है कि 'इसे देखकर हमें उपनिषद् के इस उल्लेख का ध्यान आता है जिसमें कहा गया है कि असुर जाति के लोग शरीर को ही आत्मा मानते थे। उनका विश्वास था कि प्रेत या मृत शरीर का संस्कार भोजन, वस्त्र और अलंकार से करना चाहिए (असुरापाँ हषोपनिषत् प्रेतस्य शरीर भिक्षया बसने नाले - कारेणेति संकुर्वन्ति, (छा० उप० 8/8/5)।

मोहनजोदड़ो की विशेषताएँ—मोहन जोदड़ो में पानी की व्यवस्था बहुत सुन्दर थी। यहाँ काफी संख्या में कुएँ पाए गए हैं। बड़े मकानों में भी कुएँ होते थे जिनकी गच पक्की होती थी। कुओं पर बैठने के योग्य चबूतरे भी मिले हैं। साधारणत: कुएँ की चौड़ाई 3 फीट होती थी कहीं-कहीं दो फुट से लेकर 7 फीट तक की चौड़ाई के कुएँ हैं।

स्नानागार और सार्वजनिक सभाभवन इस काल की स्थापत्य कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभा-भवन का हाल 85′ वर्गाकार है, जिसकी छत ईंटों के 20 आयताकार स्तम्भों पर बनी रही होगी, जो पाँच-पाँच स्तम्भों की चार पंक्तियों में बने थे। इस हाल के सम्बन्ध में सर जान मार्शल का विचार है कि वह किसी प्रकार का धार्मिक सभा-भवन रहा होगा। परन्तु एक अन्य कला कोविद श्री अर्नेस्ट का विचार है कि यह कोई मण्डी थी जिसमें स्तम्भों के मध्य में दूकानें रही होंगी।

स्तूप के पश्चिम की ओर एक भवन में स्नान का एक विशाल जल कुण्ड है-जो पक्की ईंटों द्वारा निर्मित है और जिसकी लम्बाई 39·9 तथा चौड़ाई 22′2′ है। कुण्ड में उतरने के लिए 9″ चौड़ी तथा 8″ ऊँची सीढ़ियाँ हैं। ऊपर सीढ़ियों के चारों ओर 15 फीट चौड़ा एक मार्ग है। फर्श से युक्त कुण्ड के पूर्व में एक बड़ा सा कुआँ है। कुण्ड के उत्तर में 8 स्नानागारों का एक समूह है। इसके मध्य में जल प्रवाहिका नाली भी है।″ इन स्नानागारों के उपयोग के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है कि वे सम्भवत: पुरोहित आदि कर्मकाण्डी लोगों के लिए बने थ जो स्नानागारों के ऊपरी तल्लों में रहा करते थे। सारे भवन का सम्बन्ध किसी धार्मिक कृत्य से लगाया जाता है।″

मोहनजोदड़ो नगर के उत्तर भाग में 240′ × 112′ आकार के भवन का भनावशेष मिला है। इस भवन के बाहर की दीवालों की मोटाई 5 फुट है और उसके दक्षिण-पश्चिमी भाग में प्रवेश द्वार है। दक्षिण की ओर एक अन्य भवन है। इसके साथ में नौकरों के रहने के लिए बने हुए मकान और भण्डार दृष्टिगत होते हैं। कलाकोविदों के अनुसार यह राजमहल रहा होगा। राजमहल के चारों ओर बना हुआ उक्त सम्पूर्ण स्थान 220′ लम्बा और 115′ चौड़ा है तथा इसकी दीवारें भी 5 फुट तक मोटी हैं। भवन तथा स्थान के चारों ओर मुख्य सड़कें बनी हुई हैं।

सारांश रूप में वास्तुशास्त्र की दृष्टि से मोहनजोदड़ो में प्राप्त अवशेषों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) परकोटा, गोपुर द्वार और अट्टालिकाओं से युक्त दुर्ग या कोटला।
(2) महाकुण्ड या जलाशय
(3) राजप्रासाद और इसका महासोपान
(4) कोट्ठागार, जहाँ अन्न का भण्डार भरा जाता था।
(5) सार्वजनिक सभा भवन।
(6) वृहत् स्नानागार।

हड़प्पा की विशेषताएँ—हड़प्पा के अवशेष मोहनजोदड़ो के अवशेषों की अपेक्षा बुरी हालत में प्राप्त हुए हैं। परन्तु फिर भी वे उसकी उन्नत वास्तुकला की कहानी कह ही देते हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में, ऐसा अनुमान

होता है कि हरियूयोया (हड़प्पा) सभ्यता और आर्य सभ्यता दोनों दीर्घकाल तक सहवासिनी रहीं और परस्पर के मेल से फूली-फलीं। पर अंत में एक बड़ा संघर्ष हुआ; जिसमें सिन्धु सभ्यता को अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता से हाथ धोना पड़ा।

हड़प्पा के कोटले में पचीस फुट चौड़ा वक्र मिला है। उसके ऊपर ईंटों का परकोटा (इठटका-प्राकार) बनाया गया था जिसके बीच-बीच में बुर्ज (अट्टालक) और मुख्य दिशाओं में ऊँचे गोपुर या द्वार थे। सम्भवतः चारों ओर.........भथे थी जो नदी जल से भरी जाती थी। दुर्ग का यह रूप कोटिलीय अर्थशास्त्र के वर्णनों से मिलता है। इसकी पहचान ऋग्वेद के पुर से की जाती है। हड़प्पा का दुर्ग उत्तर से दक्षिण 400-100 गज लम्बा और पूर्व से पश्चिम 200-300 गज चौड़ा है जिसका चौभीता घेरा तीन मील है।

कोट के भीतरी भाग का अध्ययन करने पर हमारे सामने दो तथ्य प्रकट होते हैं—(1) पुरनिर्माण के आरम्भ में वास्तु आचार्यों द्वारा किया गया विन्यास लगभग एक हजार वर्षों के अन्त तक इसी रूप में बना रहा। तथा (2) वहाँ के निवासी पौर सभा के निर्माण सम्बन्धी नियमों का पालन धार्मिक आस्था से करते थे।

मकानों का निर्माण मोहनजोदड़ो के मकानों की अपेक्षा अधिक सुठ्ठ और सुविन्यस्त था। स्नान की कोठरियों में छिली ईंटें लगाकर फर्श में एकदम ऐसी सच्ची जुड़ाई करते थे कि बूँद भर पानी भी न भरने पावे। मोटी दीवारों में पक्की मिट्टी के नल लगाकर ऊपरी कोठे का नहाने-धोने का पानी नीचे उतार कर सड़क की ओर की नालियों में बहा दिया जाता था। इससे बनी रहने वाली स्वच्छता हड़प्पा संस्कृति की विशेषता थी।

हड़प्पा की एक और विशेषता सामने आती है। प्रायः हर अच्छे घर में मीठे पानी से भरा हुआ गहरे सोते का कुआँ था। वह सूजा पट्टी ईंटों की चोखी जुड़ाई से बनाया जाता था।

मोहनजोदड़ो की भाँति हड़प्पा में बड़े धान्यागार या कोठार (150′ × 75′) पाए गए हैं। हड़प्पा में कोठार से लगे हुए कुछ गोल पक्के चबूतरे मिले हैं जिन पर उखल-मूसल से अन्न कूटकर आटा बनाया जाता था।

हड़प्पा की वास्तु कला को देखकर यह अनुमान लगाया गया है कि कोट के भीतर राजनीतिक और आर्थिक संगठन कैसा था।

निष्कर्ष— सिन्धु घाटी सभ्यता की इस वास्तु कला के भरे पूरे चित्र को देखकर वहाँ के नगर-जीवन में एक ही अभाव दिखाई देता है—किसी मंदिर या देवस्थान का अस्तित्व न होना। सम्भवतः वे बौद्धकालीन स्तूप वाले टीलों के नीचे दबे पड़े हैं। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का यह कथन द्रष्टव्य है "इन पुरों के ऐतिहासिक युग के दुर्ग-विधान के साथ तुलना करने पर एक से दूसरे का विकास सूचित होता है।" (भारतीय कला)

पर्सी ब्राउन के अनुसार इन नगरों के भवनों में कलात्मकता का अभाव है और सामग्री का नियोजन एवं निर्माण की सुदृढ़ता विस्मयकारी है।

2

स्तूप—वास्तु

(Stupa-Architecture)

प्रश्न—स्तूप परम्परा और स्तूप की वास्तु का उल्लेख करते हुये विभिन्न स्तूपों का वर्णन कीजिये।

अथवा

भरहुत, सांची, बोधगया और अमरावती के स्तूपों का विशद विवेचन कीजिये।

भारतीय वास्तुकला के प्राचीन उदाहरणों में स्तूप प्राचीनतम माने गए हैं।

सामान्य परिचय—'स्तूप' का शब्दार्थ है—शिखर, ढेर, राशि, मिट्टी ईंट आदि से बना हुआ ढूह विशेषकर बौद्धों का (बुद्ध के अवशिष्ट) चिन्ह रखने के लिए बनाया गया। 'अमरकोष' में 'राशिकृत मृतकादि' को स्तूप कहा गया है। स्तूप-संस्कृत-स्तूपः अथवा प्राकृत शब्द 'स्तूप' धातु से बना है जिसका अर्थ है एकत्र करना, ढेर लगाना आदि। साधारणतया स्तूप का सम्बन्ध बौद्ध मत से प्रकट होता है, इसीलिए बौद्ध साहित्य दीर्घनिकाय (2/142, अंगुतर निकाय (1/117) तथा मज्झिम निकाय (2/244) थूप शब्द का अधिकतर प्रयोग किया गया है।

स्तूप के लिए चैत्यं शब्द का भी प्रयोग मिलता है। चैत्य शब्द का 'चि' धातु से निकला है, क्योंकि इसमें प्रस्तर या ईंट चुन कर भवन-निर्माण किया जाता है (चीयते पार्षाणदिनाइति चैत्यम्)।

भगवान बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर भस्मीभूत अवशिष्ट अस्थियों का तत्कालिक भारत के शासकों ने आठ भागों में विभक्त किया और अपने अंश पर भगवान बुद्ध की स्मृति में समाधि का निर्माण कराया। इन्हीं स्मारक समाधियों को बौद्ध ग्रन्थों में "चैत्यनै" (चिता भूमि पर निर्मित) कहते हैं। प्रसिद्ध यह है कि अशोक ने इनमें संरक्षित बुद्ध की अस्थि आदि पदार्थों को लेकर 8400 स्तूपों में रखवाया था।

परम्परा—प्राचीन भारत में यजुर्वेद में वर्णित शव टीला की परिपाटी चल पड़ी। रामायण (5/22/29) वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महापुरुषों या नृपतियों की स्मृति में चैत्य (स्तूप) बनते थे। जातकों में थूप का प्रयोग स्मारकों के लिये किया गया है। इस प्रथा के अनुसार भारत में चैत्यों तथा स्तूपों का निर्माण बौद्ध युग में हुआ। इसके बाहुल्य के कारण मध्य-युगीन टीकाकार चैत्य

का अर्थ बौद्धायतन ही करने लगे । सायण ने (16 वीं शती) मसान की परिधि पर व्याख्या करते हुए प्रस्तर की वेदिका का वर्णन किया है । स्तूप का इतिहास यही बतलाया है कि बौद्ध युग से पूर्व स्मारक-स्तूप निर्मित होते रहे । विभिन्न अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि बुद्ध अवशेषों को स्तूप में प्रतिस्थापित करने की परिपाटी सर्वत्र थी । स्तूप की स्थापना धर्म का कार्य था । इसकी पूजा से पुण्य लाभ होता है, ऐसा जनसाधारण में विश्वास था ।

स्तूप-निर्माण की परम्परा का व्यापक अध्ययन करने के उपरान्त डॉ० वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि "यह कहना यथार्थ होगा कि अशोक द्वारा स्थापित स्तूप-पूजा की परम्परा तथा गोलाकार स्तूप का निर्माण शुंगकाल (ईसवी पूर्व दूसरी एवं पहली शताब्दी) में निर्विघ्न रूप से चलता रहा ।

ईसवी सन् के आरम्भ से कुषाण वंश का शासन प्रारम्भ हुआ । उस वंश का प्रतापी नरेश कनिष्क बौद्ध मत का प्रबल समर्थक था । कनिष्क के शासन-काल में अनेक स्तूप उत्तर-पश्चिमी भारत में निर्मित हुए । यह परम्परा गांधार होती हुई अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया तक पहुँच गई ।

कुषाण युग के बाद स्तूप—निर्माण का कार्य क्षीण होता गया, परन्तु परम्परा बनी रही । गुप्तकाल में पूजा के निमित्त मनौती स्तूप का आकार (Votiue stupe), मुख्य स्तूप की चारों दिशाओं में निर्मित होते रहे । पाल नरेश स्तूप की मरम्मत के लिए दान देते रहे । कहने का सारांश यह है कि वैदिक प्रणाली को बौद्ध लोगों ने अपनाकर स्तूप को विशाल रूप दिया । वही क्रम कई सदियों तक चलता रहा । नव निर्माण की बातें गौण पड़ गईं थीं ठोस प्रस्तर खण्ड का मनौती स्तूप बनाकर पूजा की जाने लगी । सारांश यह है कि तेरहवीं सदी तक भारतीय समाज में स्तूप की परम्परा को स्थान प्राप्त था ।

स्तूप का वास्तु —डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने स्तूप के वास्तु पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है । इसी के आधार पर स्तूप वास्तु का परिचय इस प्रकार है— "स्तूप एक गुम्बद अथवा उल्टे कटोरे के समान अर्द्धगोलाकार होता था । उसका निर्माण पाषाण या शिलाओं की नींव पर किया जाता था । आरम्भ में स्तूप के व्यास और उसकी ऊँचाई का अनुपात, अपेक्षाकृत कम होता था, पर क्रमशः ऊँचाई में वृद्धि होती गई और स्तूप का आकार अंडे के समान ऊँचा होता गया । स्तूप की चोटी अपनी गोलाई पूरी न करके सिरे पर चपटी हुई बनाई जाती थी । उसी चपटे भाग पर स्तूप का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग रहता था । इसे हार्मेका या देवसदन कहते थे । इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि स्तूप के आधार पर एक ऊँचा कोठा होता था । यह द्युलोक के समकक्ष माना जाता था । हार्मेका के बीच में एक पट्टिका लगाई जाती थी । यष्टिक का निचला काम स्तूप के मस्तक में धातु गर्भ मंजूषा के ऊपर पिरोया रहता था और उसके ऊपरी सिरे पर तीन छत्र या छत्रावली लगाई जाती थी । क्षत्रों की संख्या 7 तक पहुँच गई थी । यष्टि या हार्मिका के चारों ओर छोटे खम्भों की एक वेदिया बनाई जाती थी जिससे उस स्थान पर देव-प्रभाव सूचित होता था ।

स्तूप के वास्तु में क्रमशः विकास हुआ। स्तूप के चारों ओर वेदिका समेत तोरणों की रचना हुई। आरम्भ में वेदिकाएँ लड़की होती थीं कालान्तर में शिलापूर्ण वेदिकायें बनाई जाने लगीं। भरहुत और साँची के स्तूपों में ऐसी ही वेदिकायें हैं।

वेदिका का स्वरूप परिमंडलाकार (परिक्रमा) है। इसकी चार दिशाओं में चार प्रवेश द्वार या तोरण बनाए जाते हैं। क्रमशः तीन वेदिकाओं वाले त्रिमेखला मंडित स्तूप का विकास हुआ। इन वेदिकाओं के अलंकरण का भरपूर प्रयास किया जाता था। यह कार्य ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में आरम्भ हुआ था। हम सहज ही देख सकते हैं कि इन स्तूपों का पूर्व रूप हमें वैदिक यज्ञों की वेदिका-भूमि में प्राप्त होता है। जिस प्रकार यज्ञभूमि के चारों ओर बाड़ होती थी उसी का प्रतिरूप सूचिका है। यात्री का परिक्रमा मार्ग स्तूप और वेदिका दोनों में हैं। जिस प्रकार आर्य वेदिका की प्रदिक्षणा करते समय दायां हाथ वेदिका की ओर रखते थे इसी प्रकार बौद्ध यात्री भी परिक्रमा करते थे।

समाधिस्थ व्यक्ति की स्तुति में अनेक बातें स्तूप के वाह्य भाग में पलस्तर पर अंकित रहती थीं। इन स्तूपों का निर्माण ईंटों अथवा पत्थरों के ठोस ढांचे से होता था।

स्तूप का दार्शनिक विश्लेषण—यह सर्वसम्मत है कि वैदिक परम्परा का पालन बौद्ध मत में किया गया है। समयानुसार इसके वास्तु में परिवर्तन होता रहा है।

स्तूप के आकार का विश्लेषण यह प्रकट करता है कि प्रत्येक भाग का निर्णय किसी विशेष उद्देश्य से किया गया है। भारतीय परम्परा में आकाश स्वर्ग का परिचायक है, यही ब्रह्माण्ड है। इसी सिद्धान्त की अभिव्यंजना स्तूप के द्वारा की जाती है। अवृत्त का आकार होने के कारण स्तूप को अंतरिक्ष के सदृश मानते हैं। इसके ऊपर स्थित हरमिका देवलोक है। बुद्धि की अस्थि अवशेष हेतु निर्मित स्थान होने के कारण वह बुद्ध का कल्पित निवास स्थान है। छत्र राजस्व का प्रतीक है। बुद्ध को राजश्री प्रतिष्ठा देने के लिए इस छत्र का निर्माण किया गया। हरमिक के ऊपर सृष्टि के लोकों की संख्या छत्रावली द्वारा व्यक्त की जाती है। तीन एवं सात छत्र क्रमशः तीन भुवनों एवं सप्त लोकों के परिचायक हैं। केवल माजा गुफा में चौदह स्तूपों का निर्माण एक साथ दिखाई पड़ता है जिससे चौदह स्तूपों का बोध होता है। विश्व की रचना एक बड़े स्वास्तिक के रूप में हुई है। चारतोरण द्वार और वेदिका के चार तुरीय भाग यही द्योतित करते हैं। चार दिशाओं के अधिपतिरा च लोकपाल थे। उनकी संख्या चातुर्यहारमिक देव थी। स्तूप के चार तोरणों के वे अधिपति या रक्षक थे। भरहुत-साँची के स्तूपों में उनका निवास स्थान बनाया गया है—उत्तर में यक्षों के राज्य वैश्रवन कुबेर, पूर्व में गन्धर्वों के धृतराष्ट्र-दक्षिण में नागों के राजा विरूढक और पश्चिम में कुम्भाण्डो के राजा विरुपाक्षक। "चतुटष्यं वा इदं सर्व" के मूल सिद्धान्त के अनुसार स्तूप के गर्भ-सूत्रानुसारी वास्तुविधान की कल्पना की गई है। ब्रह्मसूत्र की दृष्टि से स्तूप के उत्संघ में तीन वेदिकायें होती थीं। यह त्रिलोकी की कल्पना है, भूमिगत भाग पृथ्वी, मध्यगत या आन्तरिक भाग और तीसरा शिखर गत हर्मिका द्युलोक

है। बुद्ध इस विराट पुरुष के प्रतिनिधि थे जो सूर्य मण्डल का अधिष्ठाता है। स्तूप को महापुष का प्रतीक माना जाता था जिसकी शरीर-धातु स्तूप के गर्भ में निधान कलश में रखी जाती थी। विद्वानों की दृष्टि में स्तूप गूढ़ विश्व रचना का प्रतिरूप था। अंड और हर्मिका से युक्त महती आकृति पूरे विश्व या ब्रह्माण्ड की प्रतीक थी और इसी को महापुरुष का भी प्रतीक माना जाता था। जनता के मन पर स्तूप के महास्वरूप का बहुत बड़ा प्रभाव होता था।

महत्वपूर्ण स्तूपों का वर्णन

अशोक का तोपि स्तूप—यद्यपि अशोक ने चौरासी हजार स्तूप बनवाए थे, तथापि उनके ध्वंसावशेष ही उपलब्ध हैं। ध्वस्त स्तूपों में से केवल कपिल स्तूप की छठवीं शताब्दी तक खड़े रहने के उल्लेख मिलते हैं। कहते हैं कि इसकी ऊँचाई सौ फुट थी। इसी प्रकार का तीन सौ ऊँचा स्तूप काबुल पेशावर के मध्य निग्रहार (नगरहार) में था।

शुंगकालीन प्रधान स्तूप—मौर्य युग के बाद स्तूप-निर्माण की प्रगति अवरुद्ध हो गई। जो स्तूप वर्तमान थे, उनको स्थायी रूप देने तथा आकर्षक बनाने की ओर शासकों या उपासकों का ध्यान गया। यही कारण था कि शुंग काल में निर्मित स्तूपों पर प्रस्तर का आच्छादन लगाया गया और काष्ट की वेष्टिनी को प्रस्तर से प्रतिस्थापित किया गया। शुंगकालीन प्रधान स्तूपों में इन चार स्तूपों की गणना होती है। (1) भरहुत (2) साँची (3) बोधगया और (4) अमरावती।

(1) **भरहुत स्तूप**—भरहुत गाँव, उचहरा स्टेशन से 6 मील उत्तर पूर्व में तथा सतना स्टेशन से 9 मील दक्षिण में है। यह पश्चिम भी केहर नदी की घाटी के उत्तरी सिरे पर स्थित था, जहाँ पर उज्जैन-विदिशा से मार्ग पाटलिपुत्र की ओर मुड़ता था और कौशाम्बी तथा श्रावस्ती की दिशा में भी राजमार्ग जाता था। इसी राजमार्ग पर प्रयाग और चेदि (जबलपुर) के महत्वपूर्ण प्रदेश भी थे। पूर्व में मगध से भी सोनाघाटी में होकर एक मार्ग इस बड़े पथ से आकर मिलता था और चौथा मार्ग पश्चिम की ओर मालवा की ओर चला जाता था। इस प्रकार यह पथ व्यापार की एक धमकी के रूप में था जैसे पश्चिम में मथुरा प्रतिष्ठान को मिलने वाला व्यापारी मार्ग था। इस महत्वपूर्ण स्थिति को ध्यान में रखकर ही यहाँ भरहुत स्तूप का निर्माण किया गया था। शुंग युग में जो देशव्यापी कला व्यापक आन्दोलन के रूप में फैल गई थी। इसका प्रत्यक्ष रूप भरहुत-साँची के इन दो महान् स्तूपों के रूप में आज भी उपलब्ध है।

सन् 1873 ई० में कनिंघम ने अपनी यात्रा में भरहुत स्तूप का निरीक्षण किया था। स्तूप का सम्पूर्ण आकार समाप्त हो चुका था।

केवल उसके अवशेष ही मिले थे। उनके अनुसार वेदिका का व्यास 88 फीट 4 इन्च था और प्रयत्न करके स्तूप के चबूतरे का ब्यास भी माप लिया गया

---

1. कनिंघम द्वारा संग्रहीत स्तूप के भाग कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

था जो 67 फीट $8\frac{1}{2}$ इन्च था। स्तूप पक्की ईंटों से बना हुआ था, जिसका आयतन 13 इन्च × 12 इन्च × $3\frac{1}{2}$ इन्च था कुछ ईंटों की मोटाई 5 इन्च से 6 इन्च थी। स्तूप की ऊँचाई ज्ञात नहीं हो सकी।

अवशिष्ट भाग में दीपालय बने हुये थे। प्रत्येक आला ऊपर की ओर $3\frac{1}{2}$ इन्च तथा नीचे की ओर $4\frac{1}{2}$ इन्च चौड़ा था। दो आलों के बीच की दूरी $8\frac{1}{2}$ इन्च के लगभग थी। आले स्थानों की संख्या 10 थी जिनमें 600 से अधिक दीपक जगमगाते थे।

भरहुत-स्तूप की चारों दिशाओं में चार तोरण थे तथा अस्सी वेदिका स्तम्भों से घिरा था। इसके प्रस्तर लाल रंग के थे जिन्हें विन्ध्या पर्वत के कैमूर श्रेणी से लाया गया था। भरहुत वेदिका-स्तम्भ वेदिका का आकार परिमण्डल या गोल था मानों कोई बड़ा चक्र हो। तोरणों से वह चार फाँकों में बँट गई थी। स्तूप और वेदिका के बीच की 10 फुट और 4 इन्च चौड़ी भूमि प्रदक्षिणा के काम आती थी। वेदिका में कुल मिलाकर 80 खम्बे थे और उसका मण्डलाकार घेरा कुल मिलकर 330 फुट का था। प्रत्येक खम्बे की ऊँचाई 7 फिट 1 इन्च थी। खम्भों के ऊपर पत्थरों की पंक्ति थी और इस प्रकार वेदिका की पूरी ऊँचाई 9 फिट के लगभग हो गई थी।

भरहुत स्तूप का प्रत्येक तोरण द्वार दो बड़े स्तम्भों से बना है जो चार-चार आठ पहल एवं चौपल खम्भों को जोड़कर बनाए गए हैं। तोरण द्वार के आगे-पीछे नाना प्रकार के दृश्य उत्कीर्ण किए गए हैं जिससे दर्शकों को पूर्व और पश्चिम भाग का अद्भुत सौन्दर्य दूर से ही दिखाई पड़ता था। बड़ेरियों के बीच में भरे हुए छोटे वेदिका स्तम्भों से सम्पूर्ण रचना अत्यन्त शोभायुक्त शलाका-वातायन के समान जान पड़ती थी।

भारहुत स्तूप के वास्तु की कल्पना एक महान् दिव्य स्वास्तिक के रूप में की गई थी। जिसमें चक्रकार वेदिका के चार भाग और घार द्वार तोरण दिशाओं की दृढ़ सत्ता के सूचक थे इस भाव के पीछे विश्व सृष्टि का तत्व ही निहित था। इस प्रकार की मान्यता ऋग्वेद के समय में अस्तित्व में आ चुकी थी।

वेदिका के स्तम्भ एक ही पत्थर के कटाव से बने हैं। वे 7 इन्च ऊँचे, 1 फुट $10\frac{1}{2}$ इन्च चौड़े और $2\frac{1}{2}$ इन्च मोटे हैं। उनके कोने काट दिये गये हैं जिससे वे अठपहल हो गये हैं। उनके बीच में कमल पूरा सूर्याकृति फुल्लक (पदुमक) और ऊपर नीचे चन्द्राकृति आधे फुल्लक या अर्ध प्रदुमक है। इनकी आकृति में कणिका, पंखुड़ी, पद्म पत्र पद्मनाल आदि का अंकन अनेक भाँति का है। उन पर अनेक भाँति के पशु पक्षियों की आकृतियाँ भी हैं एवं बौद्ध धर्माचार्य और आख्यानों के भी अनेक दृश्य हैं। कुछ खम्भों पर पक्षी, नाग और लोक देवताओं की भी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। एक खम्भे पर एक सैनिक की खड़ी हुई मूर्ति है। स्तम्भों पर कई जातकों के दृश्य भी हैं जिन पर उनके नाम लिखे हैं। कुछ खम्भों के फुल्लों पर हाथी बंदर, मोर, जंगली सुग्गे और फलों को कुतरती हुई गिलहरियाँ हैं।

तोरण द्वार पर लगे खम्भों का अलंकरण औरों से भिन्न है। उन पर यक्ष-यक्षिणी, देवता और राजाओं की मूर्तियाँ हैं जो चार दिशाओं के रक्षक समझे जाते

हैं, जैसे उत्तरी द्वार पर कुबेर यक्ष और चन्द्र यक्षी, दक्षिणी द्वारा पर नागराज चक्रवाक और चुलकों का देवता है।

भरहुत में स्तूप की तोरण वेदिका पर लगभग 20 जागक दृश्य, 6 ऐतिहासिक दृश्य, 30 से ऊपर यक्ष-यक्षी, देवता, नाग राजाओं आदि की कढ़ी हुई बड़ी मूर्तियाँ और अनेक भाँति के वृक्ष और पशुओं की मूर्तियाँ है इनमें बहुतों पर उनके नाम खुदे हैं। इनके अतिरिक्त नौका, अश्वरथ, गोरथ और कई प्रकार के वाद्य, कई भाँति की ध्वजाएँ तथा अन्य राजचिन्ह अंकित हैं। भरहुत वेदिका पर वृक्ष का प्रदर्शन अपनी निजी विशेषता रखता है तथा अन्यत्र किसी बौद्ध कलात्मक नमूनों में नहीं दीख पड़ता।

भरहुत स्तम्भों पर वृक्षों की प्रतिकृति उत्कीर्ण कर नीचे लेख भी अंकित हैं, जिससे मानुषी बुद्ध का एकीकरण किया गया है।

भरहुत की अन्य विशेषता जातक-प्रदर्शन तथा नामाँकन की है। बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ जातक कही जाती हैं। भरहुत में प्रदर्शित जातकों की संख्या 230 है। प्रायः सभी जातक प्रदर्शन का मूक उपदेश था—सात्विक जीवन तथा अहिंसा। प्रत्येक उत्कीर्ण दृश्य को नामाँकन की क्या आवश्यकता थी; यह रहस्यपूर्ण प्रश्न है। अनुमानतः इन विषयों की जानकारी में अनभिज्ञ जनता की जानकारी के लिये कलाकारों ने ऐसा किया था। सारांश रूप में भरहुत स्तूप की तोरण वेदिका पर—

(1) 30 जातक दृश्य
(2) 6 ऐतिहासिक दृश्य
(3) 30 से अधिक यक्ष-यक्षी
(4) देवता, नाग राजाओं की मूर्तियाँ।
(5) वृक्षों और पशुओं की मूर्तियाँ।
(6) नौका, अवश्वरथ, गोरथ, ध्वजायें राजचिन्ह आदि अंकित हैं। इनमें शिल्पकारों की कल्पना उदार है। इन सबका विवरण इस प्रकार है—

देव योनियाँ—(1) यक्ष, (2) देवता, (3) नाग, (4) अप्सरा।
मनुष्य वर्ग—(1) राजा (2) धार्मिक वर्ग।
पशु, वृक्ष और फल।
मूर्त्तियाँ जो उत्कीर्ण हैं—

(1) जातक कथाएँ (20 से अधिक) (2) 6 ऐतिहासिक दृश्य (3) लेख के साथ विविध प्रकार के दृश्य (4) बिना लेख के साथ विविध प्रकार के दृश्य (5) हास्य और व्यंग के दृश्य चित्रण का मुख्य विषय बोधिसत्व की दया है, यद्यपि स्वयं उनका चित्रण कहीं भी नहीं देखने को मिलता है। इसमें कहीं पर भी बुद्ध का चित्रण मनुष्य रूप में नहीं किया गया है। इनके जीवन की घटनायें केवल चिन्हों के द्वारा अंकित की गई हैं जैसे—हाथी से उनका जन्म, बोधि वृक्ष से उनको ज्ञान-प्राप्ति, धर्म-चक्र से सारनाथ में उनका प्रथक उपदेश और स्तूप से उनके परिनिर्वाण का संकेत। वस्तुतः प्राचीन कला में कहीं भी बुद्ध का जीवन मनुष्य के रूप में चित्रित नहीं है। एक चित्र बुद्धमाता मायादेवी का है। रात्रि में वह राजमहल में लेटी हुई हैं, दीपक जल रहा है, दासियाँ पलंग के पास ऊँघ रही हैं। सिर की ओर कोई

देवता हाथ जोड़े खड़ा है, एक हाथी दौड़ा हुआ माया देवी की ओर आता है, भगवान बोधिसत्व श्वेत वर्ण के हाथी के रूप में, जो कि सूँड में सफेद कमल लिये हुये हैं, तथा मायादेवी के कुक्षि में प्रवेश करते हैं। यह वह दृश्य है जो मायादेवी के स्वयं में बुद्ध के जन्म से पूर्व देखा था। इसी प्रकार अकापिंडक की दान कथा भी बहुत ही सुन्दरता के साथ अंकित है। भरहुत की कला में एक दोष है। उसके रूप-चित्रों में गति का अभाव है या सभी सीमेंट के जुड़े हुये प्रतीत होते हैं। इस कारण भरत के स्तूपों में भरहुत कला को हीनावस्था की कला माना जाता है।

भरहुत स्तूप का निर्माण-काल—कनिंघम के मतानुसार भरहुत का निर्माण अशोक काल में हुआ था, अर्थात् 250-200 वर्ष ई० पू०। इसका आधार यह बताया कि अशोक काल की लिपि और भरहुत के लेखों की लिपि में गहरा सादृश्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि गारे ईंट द्वारा निर्मित मूल स्तूप अशोक के समय में बना था तथा पत्थर की वेदिका और तोरणों का निर्माण उसके लगभग 50 वर्ष बाद शुँग युग में हुआ। स्तूप के पूर्वी तोरण पर उत्कीर्ण एक लेख में शुँग राजा धनभूति का उल्लेख है जिसका समय 180-150 ई० पू० के लगभग माना जाता है।

हम यह कह सकते हैं कि भरहुत स्तूप जहाँ अपनी कला के लिए प्रसिद्ध है वहाँ इसका धार्मिक महत्व भी है। इसकी कला चित्रण, अंकन आदि तत्कालीन समाज की दशाओं का भी संदेश देते हैं।[1]

(2) **सांची स्तूप**—सांची नामक स्थान विदिशा (भेलसा) से लगभग 6 मील पर स्थित है। किसी समय विदिशा पूर्वी मालवा का सबसे बड़ा स्थान था। अतः महाचैत्यों के निर्माण के लिये इसको सर्वाधिक उपयुक्त समझा गया।

महावंश के अनुसार अशोक जब उज्जयिनी के शासक नियुक्त हुए तब कुछ समय के लिए विदिशा में ठहरे थे। वहाँ उन्होंने एक धनिक व्यापारी की पुत्री से विवाह किया। सम्भवतः इसी कारण भी उस स्थान का महत्व हो गया था और अशोक ने वहाँ स्तूप तथा स्तम्भ का निर्माण कराया। अशोक के स्तम्भ पर लेख खुदा है और चार सिंह का शीर्ष (Capital) है। सांची की खुदाई से भस्म कलश प्राप्ति नहीं हो सकी है। स्पष्टतः अशोक ने इसे पूजा निमित्त तैयार किया था और लेख भी खुदवाये थे।

यह स्थान सदियों तक महत्वपूर्ण बना रहा। पुष्यमित्र शुँग के पुत्र अग्निमित्र की राजधानी विदिशा थी। यूनानी राजदूत होलियोडोरस ने विदिशा में गरुड़ध्वज की स्थापना की। गुप्त सम्राट द्वितीय के भी दो लेख यहाँ खुदे हैं। सौभाग्य से सांची के अधिकांश स्तूप सुरक्षित हैं। साँची में और उसके आसपास 61 स्तूप हैं। सीमरी में 8 स्तूप, सतधारा में 5 स्तूप, अबेर में 3 स्तूप, भोजपुर में 3 स्तूप तथा साँची में 8 स्तूप हैं।

साँची में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तीन स्तूप हैं—नं० 1, 2, 3। स्तूप संख्या 1 के समीप अशोक के स्तम्भ पर लेख खुदा है, जिसमें बिहार में विभेद पैदा करने

1—राजा धनपति ने मथुरा में भी तोरणयुक्त स्तूप तथा एक रत्नगृह बनवाया था।

वाले भिक्षुणी को दण्ड का विधान है। स्तूप संख्या 2 में अशोक के धर्मदूतों के अवशेष मिले हैं। भस्म पात्र पर लेख अंकित है। संख्या 3 से सारिपुत्र तथा मोदगल्यायन के भस्म-पात्र (लेख-सहित) उपलब्ध हुये हैं।

पुरातत्व के विद्वानों के मतानुसार स्तम्भ तथा स्तूप संख्या 1 समकालीन है। ये ईसा पूर्व 300 वर्ष में निर्मित हुये। प्रारम्भ में सूखी ईंटों का अंड बनाया गया था। शुंग काल में इस अर्द्धवृत्ताकार स्मारक को प्रस्तर से ढक दिया गया। 70 फीट व्यास में 35 फीट ऊँचा स्तूप है। इसके अधोभाग तल से 6 फीट दूरी पर काष्ठ की वेष्टकी बनाई गई थी जिसे कालान्तर में चुनार प्रस्तर से प्रतिस्थापित किया गया।

महास्तूप के चारों ओर की चार दिशाओं में चार बड़े तोरण है और दक्षिण के तोरण के सामने एक अशोक स्तम्भ है। स्तूप संख्या 2 में कोई तोरण नहीं है। स्तूप संख्या तीन के साथ केवल एक तोरण द्वार है।

अशोक ने साँची इष्टिका स्तूप का निर्माण कराया था, जो शुंगकाल में शिला कंचुक से आच्छादित कर दिया गया। पाँचों द्वार तोरणों और महावेदिका का निर्माण भी शुंग युग में प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध के लगभग हुआ। दक्षिणी द्वार तोरण की सबसे ऊपर की बडेरी पर स्तूप के सामने की ओर एक लेख उत्कीर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि उसे आन्ध्र-वंशी राजा सातकर्णी के मुख्य स्थापित आनन्द ने दान में दिया था। कुषाण युग में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ। केवल वसिष्क के शासन काल में मथुरा के मजाठी पथ की एक बुद्ध-प्रतिमा की स्थापना की गई। गुप्त युग में साँची का महत्व फिर उभरा। पुरातत्व के विद्वानों ने साँची के अवशेषों के विषय में लिखा है कि उनका निर्माण अशोक-काल (274–232 ई० पू०) से लेकर उत्तर मध्य काल (10वीं--11वीं शती ईसवी) तक हुआ था।

साँची का महास्तूप—बड़ा इष्टिका स्तूप अशोक के राज्यकाल में बनवाया गया था। इसे सुरक्षित रखने के लिए शुंग काल में इसके ऊपर पत्थर का कंचुक (शिला आच्छादन चढ़ाया गया)। नये स्तूप का व्यास दुगुना बढ़ाकर 126 फीट और उसकी ऊँचाई 54 फीट कर दी गई। स्तूप के पादमूल में पहले पत्थरों का चोला बनवाया गया और फिर इस पर गढ़े हुये पत्थरों की ईंटों का आच्छादन ढका गया। इनमें किसी प्रकार की जुड़ाई का मसाला नहीं था। चूने के बिना की जाने वाली चुनाई का यह भारत में पहला नमूना है। शिला कंचुक के ऊपर 4 इन्च मोटी कंक्रीट का खोल चढ़ाया गया। उसके ऊपर गचकारी का लेप और दोगा पन्नी या स्वर्ण द्रव्य चढ़ाकर रंग-बिरंगी चित्रकारी की गई।

भूमितल पर चारों ओर पत्थर का फर्श है। वहाँ स्तूप की पहली मेधि थी। उसी पर महावेदिका या गोल वैष्टिनी है। वेदिका काफी बड़ी है, परन्तु सादा है। भरहुत की भाँति उस पर कोई अलंकरण नहीं है। वेदिका कुल मिलाकर 11 फीट ऊँची है और देखने में इंग्लैण्ड की स्टोन हेज की भाँति भव्य है। स्तम्भ, सूची, पर किसी प्रकार की उकेरी नहीं है।

साँची की वेदिका के प्रत्येक भाग में लेख खुदे हैं। ये दानदाताओं के नाम हैं। इससे स्पष्ट है कि इसके निर्माण में धार्मिक जनता ने जी खोलकर दान दिया

था । विभिन्न लेखों की कुल संख्या 827 तक प्राप्त हो चुकी है । जिन्हें एन० जी० मजूमदार ने प्रकाशित कराया था । महास्तूप के द्वार तोरण की सर्वोपरि विशेषता उसके चार तोरण द्वार हैं । वे आकार में एक से और 34 फीट ऊँचे हैं । इनका निर्माण इस क्रम में हुआ था –दक्षिणी, उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी । समस्त तोरण द्वार नीचे से फुनगी तक उकेरी से सजे हैं । प्रत्येक द्वार में दो भारी स्तम्भ हैं । स्तम्भों पर शीर्षक है । द्वारों पर उत्कीर्ण दृश्य भरहुत जैसे हैं । उनमें बौद्ध धर्म और लोकधर्म दोनों के विषय सम्मिलित हैं । बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं के अनेक दृश्य अंकित है । अशोक के काल में स्तूप का निर्माण होने के उपरान्त उसके ऊपर की हर्मिका का निर्माण किया गया । मंच, वेदिका, छत्र और यष्टि बनाई गई । साँची के मुख्य तीनों स्तूपों में यही विशेषता देखने को मिलती है ।

हर्मिक के ऊपर एक छत्र था जिसके कई टुकड़े मलबे में पाये गये । उसके छत्रों के निचले भाग में बहुत बारीक काम की पोरियाँ दिखाई गई हैं । मौर्यकाल में शिल्प कार्य में प्राप्त सावधानी के विषय में मार्शल का कहना है कि "किसी भी देश के शिल्प कर्म में इससे बढ़कर उत्तम काम नहीं पाया जाता ।"

शिल्प की दृष्टि से साँची स्तूप को दो भागों में विभक्त किया जाता है—(1) वे दृश्य जिनका संयोजन निश्चित योजना के अनुसार किया गया है तथा (2) अलंकरण एवं प्रतिकात्मक चिन्ह । इन चिन्हों को कई बार दोहराया गया है । ये चार प्रकार के हैं—

(1) बुद्ध के जीवन की चार घटनाएँ ।
(2) यक्ष मूर्तियाँ ।
(3) पशु पक्षियों की मूर्तियाँ ।
(4) फूल पत्तियाँ ।

साँची के स्तूप का निर्माण कई अवस्थाओं में दीर्घकाला विधि में हुआ । "महास्तूप के निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं से यह प्रकट होता है कि स्तूप निर्माण की कला के विकास का इतिहास कैसा रहा है ।" साँची स्तूप जनता के सहयोग से जनता की भावनाओं को व्यक्त करने के लिये निर्मित हुआ था ।

सम्पर्ण स्तूप के चित्रों में जो कला है वह जनता के आन्तरिक स्नेह और विश्वास को प्रदर्शित करती है । शिल्पकार की कुशलता ने सीधी-सादी भाषा में बौद्ध धर्म की सम्पूर्ण कहानी को कह दिया है । अन्त में हम यही कहेंगे कि शिल्पकारों की सहानुभूति, और सच्चाई ने ही इन मूर्तियों को जीवन सा दे दिया है ।

तोरण प्रदर्शनों का परीक्षण करने के उपरान्त डॉ० वासुदेव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है कि "साँची कला में वास्तविकता तथा सही प्रदर्शनों का मेल हो गया था ।" परिरेखा के दिखाने में कलाकार दक्ष थे । सभी उत्कीर्ण विषयों के परीक्षण से प्रकट होता है कि साँची की खुदाई में एक व्यक्ति का हाथ न था । प्राचीनता तथा नवीनता का सम्मिश्रण पाया जाता है । साँची की कला प्राकृतिक रूप में तैयार हुई । कलाकारों ने दक्षता के अनुसार चित्रों को सहज तथा स्वच्छंद बनाया है । कलाकार ने संसार के सभी विषयों का संग्रह किया । साँची में मध्य

भारतीय जीवन का वास्तविक एवं सुन्दर प्रदर्शन है और भरहुत तथा बोधगया से अनवरत् विकास की ओर चलता गया।"

(3) **बोधगया**—बोधगया में भगवान बुद्ध ने सम्बोधि (ज्ञान) की प्राप्ति की थी। यह स्थान गया से 6 मील दक्षिण प्राचीन उरुविल्व ग्राम के स्थान पर था। यहीं पर कश्यप ऋषि का आश्रम तथा सुजाता का घर था : उपगुप्त ने जब इसी स्थान पर भगवान की सम्बोधि प्राप्त करने की बात बताई तो अशोक ने यहीं बोधि घर का निर्माण कराया था। इसके नीचे बुद्ध का आसन या बोधिमण्ड था। बोधि-मण्ड के चारों ओर बोधि-घर को महाबोधि विहार कहा गया था। बाद में इसी के निकट के बड़े विहार को महाबोधि संघाराम कहा गया।

मूलबोधिगृह अब सुरक्षित नहीं है। इसकी आकृति भरहुत के वेदिका स्तम्भ पर मिली है जिसके अनुसार यह स्तम्भों पर खड़ा हुआ मण्डप था। छत खुली थी। इसके मध्य बज्रासन था, इसके सामने चार स्तम्भ थे— पीछे पीपल का ऊँचा तना था। बोधि-घर के चारों कोर अशोक ने एक वेष्ठिका बनवाई थी, जिसकी चारों दिशाओं की लम्बाई 258 फीट है। मूल में यह ईंटों की बनी थी, पर बाद में इसके स्तम्भ, सूची और उष्णीष सब पत्थर के कर दिये गये। यह वेदिका विन्यास में भरहुत या साँची जैसी है। यह भरहुत के समान अलंकृत है। इसका समय भरहुत और साँची के बीच का है। इस पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि यह इन्द्राग्निमित्र की रानी कुरांगी और ब्रह्ममित्र की रानी नागदेश का धार्मिक दान था।

इसकी वेदिका पर उत्तर कुरु प्रदेश के कल्पवृक्ष और कल्पनायें जातक कथायें और बुद्ध के जीवन के ऐतिहासिक दृश्य हैं। पशुओं का अंकन बोधिगया की विशेषता है। इन अंकनों में—(1) सपक्ष सिंह, (2) सपक्ष अश्व, (3) सपक्ष हस्ती, (4) नर मच्छ, (5) वृषभ, (6) भेड़े-बकरे, (7) कल्पनाजन्य पशु, (8) मगरमच्छ, (9) जलभ पर आरोहक पुरुष पूर्ति, (10) इसी पर दूसरी मूर्ति सिंहमुखी मगरमच्छ, (11) जलधर, जलचर पशुओं की ईहमृग मूर्तियाँ अंकित हैं।

पुरातत्त्व कोविदों का यह मत है कि ऐसा विदित होता है कि बोधगया के शिल्पियों को जो थाती भरहुत से प्राप्त हुई, उसे उन्होंने पल्लवित करके साँची और मथुरा के शिल्पियों को प्रदान किया। उन्होंने कई प्रकार से अपनी मौलिकता दिखाई। दूसरे उनकी शैली सीधी, सरल और एक सूत्र में ग्रथित है। इन्होंने पृष्ठ-भूमि के सम्बन्ध में भी अपनी दृष्टि का विकास किया।

(4) **अमरावती के स्तूप**—दूसरी शदी ई० पू० बौद्ध धर्म आन्ध्र प्रदेश में फैल चुका था। लेखों से विदित होता है कि बौद्ध धर्म के कई सम्प्रदाय विशेष आन्दोलन में सम्मिलित हुए जिन्होंने स्तूपों के निर्माण की प्रेरणा प्रदान की।

शुंग-कालीन भरहुत और साँची के समकालीन दक्षिण भारत में अनेक स्तूप निर्मित हुये। सभी कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित हैं। तमिलनाडु प्रदेश के गुंटूर जिले के अन्तर्गत दक्षिण के शासक सातवाहन नरेशों के प्रोत्साहन से इन्हें बनवाया गया था। इनमें अमरावती, मट्टिप्रोल, जगय्यापेट, घटाशाला तथा

नागार्जुनी कोंडा से सम्बद्ध है जो 20 मील के क्षेत्र में फैले हैं। इनमें कोई भी सुरक्षित नहीं है।

अमरावती का स्तूप ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में बनना आरम्भ हुआ था। वह संसार की कृतियों में महान् था परन्तु दुर्भाग्य से अब उसके कुछ भग्नावशेष ही शेष रह गये हैं। उसके कुछ अवशेष कलकत्ता मद्रास तथा लन्दन के संग्रहालयों में रखे हुए हैं।

अमरेश्वर शिव के नाम पर अमरावती एक नया गाँव है। कृष्णा सागर से 60 मील से अधिक दूर सरिता के दाहिने कगार पर गुण्टूर से 18 मील पर बस्ती से दक्षिण दिशा में अमरावती बौद्ध स्तूप है। इसके आधी मील पश्चिम की दिशा में धरिणिकोट नामक स्थान किसी समय सातवाहनों की राजधानी धान्य कटक के नाम से विख्यात था।

अमरावती स्तूप का सर्वप्रथम पता सन् 1797 में कर्नल मेकेन्जी ने लगाया। इन्होंने उसके रेखाचित्र आदि भी तैयार कराये। सन् 1840 में गुण्टूर के कमिश्नर वाल्टर इलियटर ने स्तूप के कुछ भाग की खुदाई कराई जिसमें अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। 16 वर्षों तक वे मूर्तियाँ वहीं मैदान में पड़ी रहीं। उसके बाद उन्हें ले जाकर लन्दन के एक गोदाम में डाल दिया गया। आजकल वह लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में है।

अमरावती के अवशेषों की लूट खूब हुई। "मानो अमरावती के रूप में इन्द्र की सभा में दिव्य अवशेषों की लूट की गई है।" यहाँ के अनेक अवशेष शिलापट आदि को यहाँ के स्थानीय राजे ही अपने महल-निर्माण के लिए उठा ले गये। आस-पास के गाँवों के निवासियों ने संगमरमर की इन कलामूर्तियों को चूना बनाने के लिये फूँक डाला। ह्वेनसांग ने 636 ई० में जब अमरावती का भ्रमण किया था उस समय तक यह स्मारक प्रायः ढह गया था।

अमरावती के शिलापटों पर अनेक लेखों के दर्शन हुये हैं। इन लेखों के आधार पर अमरावती स्तूप के सम्बन्ध में निम्नलिखित जानकारी प्राप्त हुई है—

(1) स्तूप का नाम महाचेतिय था।
(2) धनमहाकेतिय तथा कठमहाचेतिय के रूप में भी वह सर्वविदित था।
(3) चैत्यक बौद्ध निकाय द्वारा स्तूप निर्माण को प्रेरणा मिलीं।
(4) स्तूप के निर्माण में जनता ने काफी सहयोग दिया।

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में अमरावती क्षेत्र में स्तूप का निर्माण आरम्भ हुआ और यह स्तूप कई शताब्दियों में परिपूर्ण हुआ। इसमें शुङ्ग-कालीन प्रतीकों का सुन्दर प्रदर्शन मिलता है। भगवान बुद्ध के जन्म प्रतीक हाथी को जिस रूप में यहाँ उत्कर्ण किया गया है, वैसा अन्यत्र अज्ञात है। डा० वासुदेव उपाध्याय ने अमरावती के क्रमिक विकास पर सविस्तार विचार किया है। उनका कथन है कि "अमरावती के निर्माण तथा अलंकरण ई० पूर्व 200 से आरम्भ होकर दूसरी शती (ईसवी सन 200) में चरम सीमा को पहुँच जाते हैं। नागार्जुनी तथा अमरावती समकालीन है। इक्ष्वाकु नरेश के समय स्तूप का संस्कार कर आयक-स्तम्भ को जोड़ दिया गया। अमरावती में गहरे कटान द्वारा साँची की समानता प्रकट होती है।

अमरावती स्तूप की वास्तु कला की विशेषताओं पर विचार करते समय ये तथ्य हमारे सामने आते हैं—

"मुख्य स्तूप 200 ई० पू० में बनना शुरू हुआ था। आरम्भ में यह छोटा स्तूप था, बाद में इसे बढ़ाया गया। इसकी आँतरिक रचना ठोस ईंटों से की गयी होगी। यह स्तूप सातवाहन युग की विशेषताओं से परिपूर्ण था। इतना ही नहीं, इसमें सातवाहन युग की कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना हमें अमरावती वैदिकों में दिखाई पड़ता है।

यह स्तूप हीनयान एवं महायान युग की देन है। अतएव भगवान के प्रतीक एवं भगवान की प्रतिमा (बुद्ध मूर्ति) स्थान-स्थान पर उत्कीर्ण दिखाई देती है। वेदिका स्तम्भों पर यक्ष-यक्षिणी के रूप-चित्र खुदे हैं तथा अलंकृत आधार पर स्तूप, वृक्ष एवं चक्र उत्कीर्ण हुए थे। इस स्तूप में जितनी मूर्तियाँ मिली हैं, उतनी मूर्तियाँ सम्भवतः किसी अन्य स्तूप में प्राप्त नहीं हुई हैं। प्रत्येक मूर्ति सुन्दर है तथा किसी अभिप्राय विशेष से निर्मित प्रतीत होती है। इनमें 500 वर्षों के प्रमाण निहित हैं।

अमरावती का स्तूप प्रस्तर कला की उन्नति का सजीव उदाहरण है। स्तूप में भगवान बुद्ध की भावपूर्ण कई मूर्तियाँ 6 फीट से भी ऊँची हैं। स्तूप के स्तम्भ तथा सूचियों पर बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित कथानक मूर्तियों द्वारा अंकित किये गये हैं। स्तूप के चित्रों को सजाने के लिये पुष्पों सहित लतायें बनाई गई हैं। ये लतायें तथा फूल पत्थर को काट-काट कर बड़े सुन्दर ढंग से बनाये गये हैं। पशुओं के भी कुछ चित्र हैं। पुरातत्ववेत्ताओं के मतानुसार ऐसा लगता है कि साँची के स्तूप की कमी इसमें दूर की गई है।

उसी समय भारत और रोम के मध्य व्यापार विकसित हो चुका था। इसी कारण अमरावती के स्तूप के चारों ओर बनी संगमरमर की बाड़ पर बने चित्रों में रोमी कला का भी प्रभाव दिखाई देता है। अमरावती की प्रत्येक मूर्ति को बनाने में कलाकारों ने अपने दिव्य चातुर्य का परिचय दिया है।

अन्य स्तूप—अशोक के समान कनिष्क भी बौद्ध धर्म का विश्व विश्रुत अनुयायी था। उसने भी अनेक स्तूपों का निर्माण किया। जलालाबाद (नगरहार) अफगानिस्तान का खोस्ता स्तूप ई० पू० 50 के लगभग निर्मित हुआ। यह विशाल आधार पर स्थित स्तूप है तथा इसका निचला भाग मूर्तियों से अलंकृत है। इस काल में तक्षशिला में कई स्तूपों का निर्माण हुआ।

चीनी यात्रियों के वृतान्त से ज्ञात होता है कि कनिष्क के काल में पेशावर में भी एक विशाल स्तूप था। कहते हैं कि उसका आधार सीढ़ियों पर बनाया गया था। वह 13 मंजिला था। इस स्तूप के ऊपर एक दण्ड था। दण्ड में ताँबे के छत्र लगे थे और दण्ड सहित इसकी ऊँचाई 628 फीट थी। शाहजी की ढेटी नामक स्थान की खुदाई से स्तूप की प्रमाणीकृत ज्ञात हुई है। इसका समकालीन मणिकथाला स्तूप का व्यास 160 फीट के लगभग है। इस स्तूप के गर्भगृह में कनिष्क का प्रसिद्ध रजत मँजूषा भी प्राप्त हुआ है।

गुप्तकाल के चतुर्थ शतक में भी अनेक स्तूपों की रचना हुई। तक्षशिला का पल्लड़ स्तूप पीरयुर (सिंध) का स्तूप एवं सारनाथ का धमेख स्तूप गुप्त काल के प्रसिद्ध स्तूप हैं। एक स्तूप राजगृह में भी है जो जरासन्ध की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है। यह मीनार की तरह काफी ऊँचे आधार पर स्थित है।

कतिपय स्तूपों के अवशेष—सारनाथ में अशोक द्वारा निर्मित तीन स्तूप वर्तमान हैं—(1) चौखन्डी, (2) धमेक स्तूप तथा (3) धर्मराजिका स्तूप। तीनों स्तूप सारनाथ के आस-पास ही हैं तथा इनके भग्नावेशों के आधार पर इनके मूल आकार का अनुमान लगाया जा सकता है।

बौद्ध धर्म के चार तीर्थ स्थानों में सारनाथ के बाद कुशीनगर की गिनती होती है। यह उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में स्थित है। सारनाथ में भगवान ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था, कुशीनगर में भगवान ने निर्वाण प्राप्त किया था। बौद्ध मन्दिर के पार्श्व में स्तूप है जिसे महापरिनिर्वाण स्तूप कहते हैं। विभिन्न समयों में इसका संस्कार होता रहा है। चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने इसे देखा था। यह 167 फीट ऊँचा था।

कुशीनगर में एक और स्तूप है-अंगार चैत्य जो परिनिर्वाण स्तूप से तीन मील की दूरी पर स्थित है। उत्तर प्रदेश के गोंडा जिले में स्थित श्रावस्ती (वर्तमान नाम सहेत-महेत) में भगवान बुद्ध ने धर्म-प्रचार के लिये 24 वर्षों तक वास किया था। यहाँ भी कई स्तूपों के भग्नावशेष मिले हैं। कहा जाता है कि श्रावस्ती में एक स्तूप का निर्माण अशोक ने भी करवाया था तथा धातु शरीर उसमें रखा था।

प्रयाग से 38 मील पर स्थित कौशाम्बी (कोसम) में अशोक ने स्तूप का निर्माण कराया था। भगवान बुद्ध ने प्रचारार्थ यहाँ कई वर्षों तक वास किया था। भगवान ने कोसंबीय सूत्त का उपदेश यहीं किया था। पाटलिपुत्र से उज्जैन का राज मार्ग यहीं से होकर जाता है। संघाराम के दक्षिण-पूर्व में स्तूप के अवशेष आज भी विद्यमान हैं। यह स्तूप 200 फीट ऊँचा था जो बुद्ध के नख एवं केश के ऊपर बनाया गया था। चीनी यात्री ह्वेनसाँग के अनुसार राजगृह में कई स्तूप थे परन्तु वहाँ आज एक भी स्तूप दृष्टिगत नहीं होता है। ज्ञान प्राप्ति के पूर्व बुद्ध ने यहाँ निवास किया था। शोधकर्ताओं के मतानुसार स्यात चीनी यात्री ने विहार को स्तूप कहा है। चौथी सदी से नालन्दा महाविहार के कारण नालन्दा की ख्याति हो गई जहाँ के प्राध्यापकों ने वृहत्तर भारत में जाकर बौद्ध धर्म तथा साहित्य का प्रचार-प्रसार किया था। अशोक ने यहाँ स्तूप का निर्माण कराया था। नालन्दा में एक और स्तूप की पंक्तियाँ हैं।

नालन्दा का प्रधान स्तूप बहुत ऊंचा है—इतनी ऊँची इमारत दूसरी नहीं है। मध्य भाग में मूल स्तूप स्थित था। उसके चारों ओर पूजा स्तूप दिखाई पड़ते हैं। परीक्षण से विदित होता है कि मूल स्तूप की वृद्धि न करके उसके अवशेष पर नया स्तूप बनाया गया था। सात आवरण निश्चित होते हैं। कई आवरण के कारण ही स्तूप का आकार विस्तृत हो गया। इस प्रधान स्तूप की उत्तर दिशा में कई स्तूपों के भग्नावशेष दिखाई पड़ते हैं।

अशोक के समान ही बौद्धधर्म का अनुयायी कनिष्क भी इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति है। इसने भी अशोक की भाँति ही अनेक स्तूपों की रचना कराई। जलालाबाद (नगरद्वार) अफगानिस्तान का खोस्ता स्तूप ई० पू० 50 के लगभग का है। इस स्तूप का आधार विशाल है तथा तूदे का निचला भाग मूर्तियों से अलंकृत है। इनके अलावा भी कनिष्ककालीन कई स्तूपों की जानकारी प्राप्त होती है।

चीनी यात्रियों के वृतान्त से ज्ञात होता है कि कनिष्क काल में पेशावर में एक प्रसिद्ध एवं विशाल स्तूप था ' कहते हैं कि यह स्तूप 13 मंजिल और 400 फीट ऊँचा था। इसका आधार सीढ़ियों पर था और 150 फीट था। इस स्तूप के ऊपर तांबे का एक दण्ड था। दण्ड सहित स्तूप की ऊँचाई 628 फीट थी। शाहजी की ढेरी नामक स्थान की खुदाई से इस स्तूप के अस्तित्व की प्रामाणिकता सिद्ध हुई है। यह भारत का एक महान् स्मारक था। इसी का समकालीन एक अन्य स्तूप मणिवथाला स्तूप था। यह रावलपिंडी से 20 मील दूर है। इस स्तूप के खोदने पर एक भस्म कलश मिला था जिसमें कई सिक्के तथा मोती एक सोने के पात्र में रखे हुये थे। कनिष्ककालीन इस स्तूप के गर्भगृह में कनिष्क का प्रसिद्ध रजत मंजूषा प्राप्त हुआ है।

गुप्तकाल के चतुर्थ शतक में भी अन्य अनेक स्तूपों की रचना के प्रमाण मिले हैं। तक्षशिला का भल्लड स्तूप उन्हीं में से एक है। यह चौकोर आधार पर स्थित ऊँचे तूदे वाला स्तूप है। मीरपुर (सिंध) का स्तूप गुप्तकालीन एक महत्वपूर्ण स्तूप है। यह भी चौकोर आधार पर स्थित है। इस स्तूप का अलंकरण पच्चीकारी से युक्त ईंटों से हुआ है।

गुप्तकालीन षष्ठ शतक का सारनाथ का धमेख स्तूप प्रस्तर भवनों के समान गोलाकार मण्डल की तरह है इसकी रूपाकृति कलाकार पत्थर के ढोल के समान है। ईंटों से निर्मित यह 128 फीट ऊँचा स्तूप है। यह आधाररहित भूमि पर स्थित है। उपयुक्त अनुपात तथा सुन्दर पुष्पादि से अलंकृत शिल्पकारी इसकी प्रमुख विशेषता है ।

राजगृह में एक स्तूप जरासन्ध की बैठक के नाम से प्रसिद्ध गुप्तकालीन स्तूप है। यह मीनार की तरह काफी ऊँचे आधार पर स्थित है। गुप्तकाल के उपरान्त स्तूपों के निर्माण की प्रथा समाप्त हो जाती है।

3

चैत्य एवं विहार वास्तु-कला
(Chaitya And Vihara Architecture)

प्रश्न (1) चैत्य वास्तु-कला का परिचय दीजिए और प्राचीन भारत के प्रमुख चैत्यों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

बौद्ध स्थापत्य कला का स्पष्ट रूप चैत्यों और विहारों के वास्तु के रूप में दिखलायी पड़ता है। चैत्य और विहार गुफाओं के रूप में देखने को मिलते हैं। महात्मा बुद्ध के शिष्यों की संख्या में दिनों-दिन वृद्धि होती गई। अंततः बुद्ध ने निर्मित स्थानों में शिष्यों (भिक्षुओं) को रहने की आज्ञा प्रदान की। धनी मानी लोग बौद्ध भिक्षुओं के निवास बनाकर दान देने लगे। विभिन्न प्रकार के भिक्षु निवासों में पर्वतों की गुफाओं की भी गणना की जाती है। नगर के कोलाहल से दूर एवं चिंतन-मनन के योग्य होने के कारण बुद्ध मत की प्रगति के साथ गुफा का विकास होता गया। ठोस पर्वत के ढूढ़ में अशोक को गया के समीप बनावर की पहाड़िया उचित मालूम पड़ीं। अतः उसने आजीविकों के लिये गुफायें खुदवायीं। शुंगकाल से पश्चिमी भारत की सहमाद्रि पर्वत-शृङ्खला में अनेक गुफायें खोदी गई हैं, जो आज भी देखी जा सकती हैं। यहाँ हम चैत्य वास्तु पर संक्षेप में प्रकाश डाल रहे हैं :

चैत्यगृह वस्तुतः बौद्ध धर्म के देवालय हैं—पूजा स्थल हैं। ये सभी शिला-टंकित हैं। केवल तीन चिनाई से बनाए गए हैं—(1) साँची में (2) तेर में (मल्लदुर्ग हैदराबाद) और (3) चेत्ररला (कृष्णा जिला) में।

हीनयान युग दूसरी शती ई० पू० से 200 ई० तक) के आठ चैत्यगृह प्रसिद्ध हैं—(1) भाजा (2) कण्डाने (3) पीतलखोरा (4) अजन्ता (गुफा सं० 10) अजन्ता (गुफा सं० 9) (6) बेडसा (7) नासिक और (8) कार्ले (बम्बई और पूना के बीच पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में)।

'चैत्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'ची' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है चयन करना एक के ऊपर आरोपित करना। 'ची' धातु से ही चित्य बना है, जिसका अर्थ है वेदी। कुछ समय के उपरान्त इसका सम्बन्ध महान् व्यक्तियों के स्मारकों के साथ हो गया, जो सर्वथा स्वाभाविक था। हम 'स्तूप' के संदर्भ में बता चुके हैं कि स्तूप के लिए भी चैत्य शब्द का प्रयोग हुआ है। अतएव हम कह सकते हैं कि स्तूप की भाँति चैत्य शब्द का भी प्रयोग पवित्र स्थल के लिए होता है। इसी अर्थ में अनाथपिण्डक ने सारिपुत्र की अस्थिपेटिका रखने के लिए चौमंजिला चैत्य बनवाया था। इसके शिखर पर छत्र बना था। स्पष्टतः यह स्तूप का रूप था। दुल्बा ने भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। इसके अनुसार शव को घास और पत्तियों से ढँककर उस पर चैत्य

का निर्माण होना चाहिए। अन्जता और एलोरा और अन्यत्र भी गुम्बजनुमा कमरे में बने स्तूप के साथ समूचे वास्तु का नाम चैत्य है, देवालय के अर्थ में। इसी अर्थ में देवायतत्र, देवगृह, देवालय के अर्थ में रामायण, महाभारत आदि में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। विद्वानों के एक वर्ग के अनुसार 'चैत्य' शब्द चिता से बना है। चिता के अवशिष्ट अंशों को भूमिगर्भ में रख कर उनके ऊपर जो स्मारक बनाए जाते थे' प्रारम्भ में उन्हीं को चैत्य कहा जाता था। चैत्य वे स्मारक थे जिनमें साधु-संतों, राजाओं आदि के अस्थि, नख, केश, आदि शारीरिक अवशेष गाड़ दिए जाते थे।

कुमारस्वामी[1] और जुबोदुव्र् इल आदि के साक्ष्य के अनुसार भी चैत्य का सम्बन्ध शव-समाधि से होता है। मालाबार की चट्टान में खुदी मृतक समाधि भी इसी प्रकार का एक चैत्य चैत्यस्तूप है। एशिया माइनर के दक्षिणीतट पर लीडिया के पिनारा और नेन्थस में जो प्रस्तर शव-समाधियाँ बनी हुई हैं वे भारतीय चैत्यों के समान हैं।

आरम्भ में चैत्य शब्द भले ही शव-समाधि का सूचक रहा, परन्तु बाद में वह संघ के पूजागृह के लिए प्रयुक्त होने लगा—वे पूजागृह जहाँ महायानी बौद्धों के प्रतीक बुद्ध की प्रतिम आदि संरक्षित रहते थे। चैत्यों के निर्माण का प्रारम्भ बुद्ध तथा महावीर के निर्वाणकाल के बाद ही माना जाता है। परन्तु इस प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि चैत्य-निर्माण के पीछे स्तूप-निर्माण की परम्परा थी। 'महापरिनिर्वाण सूत्र' में उल्लिखित है कि बुद्ध भगवान ने अपने अंतिम समय में अपने परम शिष्य आनन्द से कहा था कि मेरे अवशेषों को चतुष्पथ (चौराहे) पर गाड़ कर उन पर उसी प्रकार स्तूप निर्मित करना जिस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट के अवशेषों पर किया जाता है। स्पष्ट है कि स्तूप (चैत्य) निर्माण की परम्परा बुद्ध से भी प्राचीन ठहरती है।

फर्ग्युसन प्रभृति विद्वानों के मतानुसार बौद्धों की चैत्य-परम्परा तूरानी संस्कृति की देन है, परन्तु हम इसे भारतीय परम्परा की ही देन मानते हैं। ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण तथा सूत्र साहित्य में चैत्य परम्परा-सम्बन्धी अनेक विवरण उपलब्ध हैं। इस प्रकार चैत्य परम्परा का प्रारम्भ वैदिक काल से माना जा सकता है। चैत्यों के प्राचीनतम उदाहरण लोरियानंदनगढ़ (बिहार प्रान्त) में पाये जाते हैं जिन्हें विद्वान ई० पू० सातवी-आठवीं शताब्दी का मानते हैं।

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में व्यक्तिपूजा एवं मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान नहीं था। भरहुत साँची, सारनाथ बोधगया आदि अनेक स्थानों पर पाये गये स्तूपों के उत्कीर्ण शिल्प में कहीं भी बुद्ध को मानव रूप में नहीं दिखाया गया है। दधिनिकाय में बुद्ध को 'अननुवेद्य' अर्थात् न जाने जा सकने वाला कहा गया है। यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रह सकी। ब्राह्मण धर्म (वैष्णव एवं शैव) में प्रचलित भक्ति के प्रभाव, भगवान बुद्ध के शारीरिक (केश, नख, अस्थि आदि) पारियौगिक (कमंडलु दंड, पादुका, वस्त्र आदि) तथा उपद्देशिक (स्तूप, बोधिवृक्ष, स्मारक आदि) अवशेषों में स्वयं बुद्ध के अस्तित्व की परिकल्पना करके उनकी पूजा का विधान किया गया, जो प्रायः सर्वमान्य हो गया।

---

1. देखें पृ० 56-57, प्राचीन भारतीय कला और संस्कृति।

चैत्यगृह वस्तुतः बौद्ध धर्म का पूजा स्थल है। इसके तीन भाग होते हैं—मण्डप, प्रदक्षिणापथ तथा गर्भगृह। मण्डप और प्रदक्षिणापथ के बीच में मालाकार स्तम्भ पंक्ति होती है। गर्भगृह में ही चैत्य रहता है जिसकी पूजा की जाती है। यह चैत्य चट्टान को काटकर या काष्ठ अथवा इष्टकाओं से बनाया जाता था। चैत्यगृह के विभिन्न भाग हिन्दू देवालयों के विभिन्न भागों में मिलते हैं।

चैत्यगृह वृत्तायत होते थे। चैत्यगृहों के मण्डप की छतें गजपृष्ठवृत्ति या ढोलाकार होती थीं जिनका पिछला सिरा कुछ खरबुजिया आकृति का होता था। प्रत्येक चैत्य का प्रवेश द्वार सामने होता था और बड़ा कीर्तिमुख बनाया जाता था। चैत्यगृह अपने मूलभूत काष्ठशिल्प से पाषाण शिल्प में उतारे गये। कई स्थानों पर पाषाण शिल्प के ऊपर काष्ट शिल्प का मेल पाया जाता है। ई० पू० तीसरी-चौथी शती से चैत्यों का निर्माण होता रहा है। अशोककालीन आरम्भ के चैत्यगृह अपेक्षाकृत छोटे और सादा हुआ करते थे।

पश्चिमी भारत के चैत्यगृह—नासिक के चारों ओर 200 मील के घेरे में पश्चिमी भारत के लगभग 900 गुफा मंदिर हैं। इनमें सबसे प्राचीन है भाजा की गुफा। यह भोरघाट में कार्ले से चार मील पर स्थित है। भाजा के अवशेषों में एक बड़ा चैत्यगृह है। यह 55 फीट लम्बा और 26 फीट चौड़ा है (दोनों ओर के प्रदक्षिणा का गलियारा $2\frac{1}{2}$ फुट चौड़ा है। मण्डप का प्रत्येक भाग 11 फीट ऊँचा है। छत का ढोला भूमितल से 29 फीट ऊँचा है। यह कला का एक सुन्दर नमूना है। इसके काष्ठ-शिल्प गल गये हैं, यद्यपि उनके छेदों के कटाव शेष हैं। "कीर्तिमुख या चैत्य का सूर्यद्वार काष्ठ-शिल्प से अलंकृत था, जो अब नहीं रहा। कालक्रम से तीन प्रकार का विकास हुआ—पहली अवस्था में पत्थर का ओटा छाँट कर उसकी जगह लकड़ी का ओटा लगाया गया। दूसरी अवस्था में पत्थर और लकड़ी का मेल किया गया और तीसरी अवस्था में शीलाकर्म द्वारा केवल पाषाण का ही पर्दा प्रवेश द्वारों के साथ बनाया गया तथा बीच के खम्भे एवं पार्श्व के स्तम्भ दोनों का उठान एक सीध में कर दिया गया।"[1]

इस चैत्यगृह में मूर्ति शिल्प का प्रायः अभाव है। केवल मण्डप के स्तम्भों पर पाँच माँगलिक चिह्न बने हैं—यथा-त्रिरत्न, श्रीवत्स, चक्र, नन्दिपद और बीच में मस्तिष्क एवं कमल को घेरे हुए चार त्रिरत्नों का मण्डलाकृति घेरा।

हीनयान चैत्यगृहों में कालक्रम की दृष्टि से यात्रा के बाद कोण्डाले का चैत्यगृह है। यह कार्ले से 10 मील दूर है।

औरंगाबाद से चालिसगाँव जाने वाले मार्ग पर शतमाला नाम की पहाड़ी में 13 गुफाएँ उत्कीर्ण हैं। यहाँ पीतलखेरा (प्राचीन नाम पतिंगल्प) नामक चैत्यगृह है। इसका शिल्प ई० पू० दूसरी शती का है।

इनमें गुफा संख्या 3 और 13 चैत्यगृह हैं तथा गुफा संख्या 10, 11 व 12 में ढोलाकार छत और स्तूप की योजना से पूर्व एक अर्धवृत्त चैत्यगृह था।

गुफा संख्या 3 का चैत्यगृह $86' \times 35$ है जिसका एक सिरा बेसर आकृति

1. पृष्ठ 238 भारतीय कला—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल।

का है। इसमें अठपहलू 37 स्तम्भ थे जिनमें केवल 12 बचे हैं। उन पर पाँचवीं शती के कुछ चित्र हैं।

अजन्ता के चैत्यगृह—इनमें वास्तु सम्बन्धी यह आन्दोलन अपने उच्चतम शिखर पर दिखाई देता है। इनमें वास्तु, शिल्प और चित्रविद्या सम्बन्धी दीर्घकालीन प्रयत्न व्यक्त हुआ है जिसकी अवधि दूसरी शती ई० पू० से सातवीं शती लगभग एक हजार वर्ष की है। अजन्ता की गुफाओं में चार चैत्यगृह हैं। सबसे अधिक महत्वपूर्ण चैत्यगृह है गुफा संख्या 10 का। यह 96 फीट 6 इंच गहरा, और भीतर 41 फीट 3 इंच चौड़ा तथा 36 फीट ऊँचा है। मण्डप और प्रदक्षिणापथ के मध्य 96 खम्भों की पंक्ति है। खम्भों के बीच की डण्डी चौकोर और कुछ भीतरी झुकाव लिए हुए है। मण्डप की छत के ढोलने में किसी समय काष्ठशिल्प की धरन लगी हुई थीं जो अब नहीं रहीं—उनकी चूलों के छेद पत्थर में कटे हैं।

चैत्यगृह गुफा संख्या 9 उपर्युक्त चैत्यगृह से अपेक्षाकृत छोटा है। इसका कीर्तिमुख 12 फीट ऊँचा था जो चैत्यगृह के भीतरी भाग को प्रकाश एवं वायु से भरने का मुख्य साधन था।

नासिक का चैत्यगृह—गोदावरी के तट पर अपनी अनुकूल स्थिति के कारण नासिक बौद्ध भिक्षुओं के एकान्तवास के लिए उपयुक्त स्थान बन गया था। यहाँ 17 गुफाएँ हैं। इनमें केवल एक चैत्यगृह है। यह चैत्यगृह प्रथम शती ई० पू० मध्ययांग खुदवाया गया ज्ञात होता है। नासिक का यह चैत्यगृह पाण्डुलेण के नाम से प्रसिद्ध है। यह सर्वथा पहाड़ी में उत्कीर्ण है तथा इसमें कहीं भी काष्ठ कर्म का प्रयोग नहीं पाया जाता है। यह चैत्यगृह विकसित अवस्था का द्योतक है। उदाहरणतः स्तम्भों की आकृति स्थूल और भारी भरकम न होकर लम्बी और छरहरी है। यह विशेषता ग्रीस और रोम के खम्भों में भी दिखाई देती है।

जुन्नार के चैत्यगृह—पूना से 48 मील उत्तर की ओर जुन्नार नाम की पुरानी बस्ती है। उसके आसपास पर्वत में उत्कीर्ण कई समूहों में विभक्त 150 गुफाएँ हैं। उनमें 10 चैत्यगृह हैं तथा शेष विहार हैं। इनका निर्माण काल द्वितीय शती ई० पू० से प्रथम शती ई० तक था। ये भी हीनयान बौद्ध धर्म की प्रेरणा का फल थीं। इनमें मूर्तियों का अभाव है।

इसके 6 चैत्यगृह आयताकार हैं। इनकी छतें चपटी हैं तथा मण्डप में कोई स्तम्भ नहीं है। तुलजा समूह में एक चैत्यगृह बिल्कुल गोल आकृति का है जो अपने ढंग का निराला है। इस प्रकार का अन्य चैत्यगृह केवल पूर्वी समुद्र तट के निकट गुण्टपल्ले में ही पाया गया है। गणेशलेण थोक या समूह में नासिक जैसा एक चैत्यगृह है, जो सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। इसमें महयान के समय (प्रथम शती ई०) का लेख है। इसके भिन्न भागों की नाप अनुपात सिद्ध है और सब अलंकरण और वास्तु के विन्यास सुविदित एवं सुविहित हैं। "इस चैत्यगृह की समृद्ध सजावट और इसका मझला आकार सूचित करता है कि बौद्ध कला के इस स्वरूप के सर्वोपरि विकास के युग में इसे बनाया गया। इसके पीछे वास्तु और स्थापात्य के दीर्घकालीन प्रयोगों की परम्परा थी।"[1]

1. पृष्ठ 250, भारतीय कला, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल।

बेडसा का चैत्यगृह—बेडसा कार्ले से 10 मील दक्षिण में है। यहाँ के चैत्यघर का भीतरी भाग $45\frac{1}{2}$ फीट लम्बा और 21 फीट चौड़ा है। यह एकदम सादा है। कहीं-कहीं बौद्धों के मांगलिक चिह्न अवश्य उत्कीर्ण हैं। स्तूप और स्तम्भों पर चित्रों के कुछ अवशेष हैं जो महायान युग में लिखे गये। चैत्यगृह के पास एक आयताकार विहार भी है।

कार्ले का चैत्यगृह—कोंकड़ और सहयाद्रि के पूर्वी तटान्त को जोड़ने वाले प्राचीन मार्ग पर भोरघाट नामक पहाड़ी में बहुत-सी पर्वत गुफाएँ हैं। इनमें कार्ले की गुफाएँ सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। यहाँ एक विशाल भव्य चैत्यगृह है। यह चैत्य मंदिर अपनी श्रेणी के समस्त चैत्यगृहों में श्रेष्ठ है। मुख मण्डप में उत्कीर्ण लेख के अनुसार यह उस युग में भी जम्बू द्वीप का सर्वोत्तम चैत्यगृह समझा गया था। अर्वाचीन सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से भी यह बहुत ही श्रेष्ठ कोटि की कला का नमूना है। इस चैत्यगृह में निम्नलिखित भाग हैं—

(1) दो ऊँचे चतुर्मुख दर्शन वाले स्तम्भ या लाट जिनके सिरे पर सिंह शीर्षक हैं।

(2) मुख मण्डप जो स्तम्भों पर आश्रित हैं और जिसमें नीचे ऊपर दो हैं।

(3) मुख मण्डप की अगली भित्ति के निचले भाग में से आगे की ओर निकली हुई संगीतशाला।

(4) मुख मण्डप की पिछली दीवार के ऊपरी तल्ले में महान् कीर्तिमुख या सूर्यद्वार बना है जिसका गोलावा काष्ठशिल्प के पंजर से भरा हुआ है। निचले या भूमिभाग तल्ले में तीन प्रवेश द्वार हैं, जो बीच के महामण्डप और दाएँ-बाएँ के प्रदक्षिणापथ में जाने के लिए हैं।

(5) बीच का अभ्यान्तर मण्डप।

(6) दो लम्बे प्रदक्षिणापथ।

(7) वृत्ताकार गर्भगृह का मण्डप का पिछला भाग।

(8) गर्भगृह के बीच में चैत्य या स्तूप।

(9) 37 स्तम्भों की माला, जिनमें 7 स्तम्भ स्तूप को घेरे हुए हैं और 15-15 मण्डप के दोनों और पंक्तिबद्ध खड़े हैं।

(10) ढोलाकृति और गुम्बद के आकार की छत।

(11) छत के नीचे लगी हुई काष्ठशिल्प की भीमकाय घुमावदार धन्नियाँ जो चैत्यगृह के निर्माण के समय की हैं।

(12) चैत्यगृह के भीतर और बाहर कई लेख उत्कीर्ण हैं।

इस गुफा में उत्कीर्ण एक लेख से यह विदित होता है कि नहयान और उनके जामाता उषवदान ने इस चैत्यगृह के लिए एक ग्राम दान में दिया था। एक अन्य लेख में वैजयन्ती (वर्तमान बनवासी) के सेठ भूतपाल का नाम इस चैत्य-ग्रह के दानदाता के रूप में दिया हुआ है।

कन्हेरी का चैत्यगृह—कन्हेरी की गुफाओं के समूह में सबसे विशिष्ठ यहाँ का चैत्यगृह है, जो कार्ले के नमूने पर बनाया गया है। यह लगभग उतना ही बड़ा है।

वास्तु-विन्यास भी वैसा ही है, परन्तु कलात्मकता कुछ उतरी हुई है। इस चैत्यगृह की विशेषता यहाँ का प्रांगण है। घटमुख के आगे इतना बड़ा प्रांगण अन्य चैत्यगृहों में नहीं मिलता है। इस प्रांगण के एक सिरे पर एक वेदिका है' जिसके खम्भों और सूचियों पर अनेक भाँति के अलंकरण बने हैं जो विशेष अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं। वेदिका स्तम्भों के बीच-बीच में कुछ चौड़े स्तम्भ हैं जिन पर उपासक पुरुषों की उभरी हुई मूर्तियाँ बनी हुई हैं।

कलात्मकता की दृष्टि से यह चैत्य विशेष श्रेष्ठ नहीं है। कला के ह्रास के कारणों पर प्रकाश डालते हुए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि "एक तो यहाँ की चट्टान ठोस नहीं थी, दूसरे यहाँ के शिल्पी भी कुछ नवकर्मिक या नौसिखिये थे, तीसरे यहाँ के कार्य का कर्मान्तिक या कमठान अध्यक्ष बोधिक नामक बौद्ध भिक्षु था जो इस कला में इतना प्रवीण न था।"

"वाह्य स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेख में लिखा है कि, इस चैत्यगृह के उत्कीर्ण करने का कार्य गजसेन और गजमित्र नामक दो भाइयों ने कराया और यह कार्य गौतमी पुत्र श्री यज्ञशान कपी के राज्यकाल में 180 ई० के लगभग सम्पन्न हुआ।

कतिपय ऐसे चैत्यगृहों के भी अवशेष पाए गए हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के चैत्यों के निर्माण की परम्परा जैन पूजा और नागपूजा में भी विद्यमान थी। उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि-खण्डगिरि की पहाड़ी के तल पर इसी प्रकार के चैत्यभवन की नीवें पाई गई हैं। जर्मन विद्वान डा० हर्टेल को सौख (मथुरा) में एक नाग मन्दिर के अवशेष मिले हैं। इस मंदिर की तल-योजना ठीक बौद्ध चैत्यों जैसी ही है।

इस संदर्भ में डा० अशर्फीलाल श्रीवास्तव का यह कथन दृष्टव्य है, "सम्भवतः इन्हीं चैत्यगृहों के आधार पर ही कालांतर में हिन्दू मंदिरों का पूजा-वास्तु विकसित हुआ। चैत्यगृह के भीतर पीछे स्तूप वाले भाग के स्थान पर ही मंदिरों के गर्भगृह, केन्द्रीय कक्ष के स्थान पर मंडप तथा अलग-बगल वाले गलियारों के स्थान पर प्रदक्षिणापथ निर्मित किये गये। दक्षिणभारत में शोलापुर जिले के अंतर्गत तेर (प्राचीन नगर) का विष्णु मंदिर, कृष्णा जिले के अन्तर्गत चैज्जराला का कपोतेश्वर मंदिर तथा महाराष्ट्र में धारवाड़ जिले के अन्तर्गत ऐहोल का दुर्गा मंदिर स्पष्टतः चैत्यगृहों की वास्तु-योजना पर ही निर्मित किए गए थे।

प्रश्न (2) विहारों के वास्तु का संक्षिप्त परिचय देते हुये प्राचीन भारत के प्रमुख विहारों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

प्राचीन भारत में गुफा स्थापत्य का दूसरा रूप विहारों के रूप में देखने को मिलता है। विहारों का सम्बन्ध भी मुख्य रूप से बौद्ध धर्म से ही रहा है। विहार भिक्षुओं का आवासगृह था। विहार वह स्थल था जहाँ बौद्ध संघ निवास करता था। वह एक प्रकार का मठ था जहाँ बहुत से भिक्षुओं का संघ निवास करता था। इस बड़े विहार को संघाराम कहा जाता था। आरम्भ में विहार छोटी गर्भशालाओं के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु बाद में बड़े आकार के आवास स्थान भी विहार कहलाये।

सर्वप्रथम भगवान बुद्ध के निवासनिमित्त जो कुटी या मकान बनाए गए वे 'आराम' कहलाए। राजगृह में वेणुवन तथा वैशाली में बुद्ध के निवास-स्थान को आराम कहा गया है। श्रावस्ती में अनाथपीडिक द्वारा निर्मितगृह को विहार कहने लगे थे। आराम और विहार एक ही प्रकार के भवन के लिए प्रयुक्त होता है। गुप्तकालीन लेखों से विदित होता है कि कालांतर में संघाराम या विहार समूहवाचक शब्द हो गये। डा० वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि "विहारों के नामकरण व्यक्ति स्थान या कलाकारों से सम्बन्धित हैं।"

ये विहार केवल बौद्ध धर्म तक ही सीमित नहीं थे। प्रथम से तृतीय शती ई० पू० में खंडगिरि तथा उदयगिरि की गुफाओं के साथ कुछ जैन विहार उपलब्ध हुए हैं। विहार में रहकर स्थविर आचार्य आदि के संरक्षण में संघ के भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ धर्म की साधना करते थे। जिस प्रकार गुरुकुलों में आचार्य एवं ब्रह्मचारी का निवास, आवास भोजनाच्छादन साथ-साथ होता था, उसी प्रकार इन विहारों में भिक्षु, स्थविर एवं आचार्य साथ-साथ जीवन व्यतीत करते थे। बौद्ध चैत्य के साथ-प्रायः सदा ही एक विहार सम्बद्ध रहता था। विहार वस्तुतः एक प्रकार के आवास थे, जो अन्य सार्वजनिक गृहस्थ आवासों से भिन्न हुआ करते थे। नासिक अजन्ता, बेडसा आदि में सर्वत्र विहार बने हुए थे। प्राचीन काल का विहार चैत्यगृह के चारों ओर बने हुए कमरों का घर हुआ करता था। इन छोटे कमरों को कुटी भी कहते थे। सारनाथ में जो विहार है उसका नाम मूलगंध कुटी विहार रख दिया गया है। इन कुटियों के बीच में सम्प्रदाय विशेष की पूजामूर्ति की स्थापना की जाती थी।

आरम्भिक चैत्यगृहों के समकालीन विहारों का वास्तु विन्यास सादा था। कालान्तर में दूसरी शती के बाद महायान धर्म के विहार विशाल भी होने लगे तथा वास्तुविन्यास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण होगे लगे। युवाङ् चाङ् ने बड़े संघारामों का जो वर्णन किया है, उससे यह विदित होता है कि संघाराम पंचखण्डे महलों की भाँति होते थे और उनमें एक के ऊपर एक मंजिल मेरू की भाँति उठती चली जाती थी। इनमें कहीं-कहीं तो भूमितल की मंजिल में पाँच सौ कोठे तक होते थे। हीनयान युग में भी भिक्षुओं के आवास के लिए ईंटों के विहार बनते थे।

फाहयान के काल में विहारों ने भव्य भवनों का रूप ले लिया था। जेतवन विहार को फाहयान ने आठ सौ वर्षों बाद देखा था। इसके भवन सात-आठ मंजिल वाले थे। भरहुत वाले उत्कीर्ण चित्र आश्रम का रूप है, वहाँ एक भिक्षु चैत्य-वृक्ष का सिंचन कर रहा है। दूसरी ओर उपासक प्राणायाम मुद्रा में खड़े हैं। इसी प्रकार के विहार आज भी सिक्किम में उपलब्ध हैं।

महत्वपूर्ण विहार—समग्र भारतवर्ष में असंख्य विहार थे। चीनी यात्रियों ने इन विहारों का सविस्तार वर्णन किया है। 'ये विहार ईंट-पत्थर से बने हुए थे। विहार छः-छः आठ-आठ अट्टों तक बनते चले जाते थे। विहार भिक्षुओं के आवास तो थे ही साथ-साथ वे उनके लिए विद्यालय का भी काम देते थे। ह्वेनसांग ने अपने समय के बौद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा के विहार का जो वर्णन लिखा है, वह बहुत कुछ इसी प्रकार का है यथा-भिक्षुओं का प्रत्येक आवास चार मंजिला था। संघ के

हाल स्तम्भों पर देव-मूर्तियाँ बनी हुई थीं और उनकी धन्नियों में इन्द्र धनुष के सातों रंग विद्यमान थे। सर्वत्र अर्द्धचित्र उत्कीर्ण थे और चौखटों का सौन्दर्य अकथनीय था। भीतर के रंग परस्पर मिलकर अनेक अन्य रंग उत्पन्न करते थे जिससे विहार का सौन्दर्य सहस्रगुना बढ़ जाता था।

आज ईंट-पत्थर के बने हुए विहार उपलब्ध नहीं हैं। पर्वतों को काट कर बनाए गए प्राचीनतम विहार यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। जो विहार बचे हैं उनके कई समूह हैं—(1) मगध की बाराबर पहाड़ी की विहार गुफाएँ (2) कलिंग में उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाएँ, जिनमें जैन भिक्षु रहा करते थे तथा (3) पश्चिमी भारत की विहार गुफाएँ—जैसे नासिक, अजन्ता, भाजा में। अधिकांश विहार चैत्यगृहों के साथ हैं—जैसे बेडसा, पीतलखोरा, काण्डाने, कार्ले एवं जुन्नार। इन विहारों में भाजा का विहार सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रसिद्ध है। यह विहार पूना के निकट पहाड़ियों पर है। यह एक पंचगर्भ विहार है। बीच का मण्डप 33 फीट लम्बा है। यह विहार दूसरी शती के आरम्भ काल का है। भाजा के विहार की मूर्तियाँ सबसे विलक्षण हैं। उनका आगे को काढ़ कर उभरा हुआ रूप सब पर हावी हो जाती है। इनमें इन्द्र, सूर्य आदि के उभरे हुए अंकन लगने वाले दृष्य विशेष आकर्षक हैं। विशेष अध्ययन से प्रतीत होता है कि इन दृश्यों में सूर्य एवं इन्द्र की मूर्तियाँ न होकर सम्राट मान्धाता के उत्तरकुरु देश में जाने का अंकन है। भाजा विहार के मण्डप का सम्मुखी भाग वैदिका संयुक्त काष्ठ-शिल्प का उदाहरण था जिसमें नीचे प्रवेश द्वार थे और पास वाले चैत्यगृह की भाँति का वेदिका अलंकरण था। पाठक स्मरण रखें कि यह शुंग-कालीन कला का परिचायक है।

बेडसा का विहार भी लगभग द्वितीय शतक ई० पू० का है। इसकी छत गुम्बजदार है। गोदावरी तट पर नासिक में 16 विहार हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध गौमतीपुत्र विहार है। यह कार्ले का समकालीन विहार था। यह हीनयान सम्प्रदाय का विहार था। इस विहार में भिक्षुओं के आवास के लिए स्वल्पकाय अनेक कमरे बने हुए हैं। विहार (46×11) के भीतर दीवारों के सहारे पत्थर की बेंचे लगी हुई हैं। किसी समय नासिक के विहारों की भित्तियों पर भी अजन्ता के समान लिए लिखे थे जो अब नहीं रहे। इसी के समीप नहयान विहार लेण सं० 8 है। यह प्रथम शतक ई० पू० का है। इसके स्तम्भ त्रिकोण हैं और घट पर स्थित हैं। शीर्ष घण्टे की आकृति से सुसज्जित है। उसके ऊपर पिरामिड हैं, जिस पर कार्ले के स्तम्भों की भाँति वृषभ अंकित हैं। कार्ले से 10 मील पर काण्डाने का विहार है। विहार एक भूमिक है। वास्तु की दृष्टि से यह विहार अपूर्व है। गर्भगृह को लेकर आभ्यन्तर मण्डप 66 फीट लम्बा और 26″–6′ चौड़ा था जो भाजा के विहार से भी कुछ बड़ा था। इसकी छत की ऊँचाई 26 फीट है। ईसा पूर्व प्रथम-द्वितीय शतक के भरहुत के एक प्राचीन अर्थचित्र में श्रावस्ती के जेतवन विहार में भिक्षुओं का अंकन है। फाहयान ने इसी को आठ सौ वर्षों बाद देखा था। उसके समय में इसके भवन सात-आठ मंजिल तक के थे।

पूना से 48 मील उत्तर की ओर जुन्नार के आस-पास पर्वत में 150 गुहाएँ उत्कीर्ण हैं। इनमें 140 विहार हैं। आदिकाल (द्वितीय शती ई० पू० से प्रथम शती ई० पू० के विहारों की भाँति इनमें मूर्तियाँ नहीं है। ये विहार बौद्ध भिक्षुओं के

निमित्त बनाए गए थे। जुन्नार से 2 मील पश्चिमी तुलजा लेखों के समूह में 5 कोठरियों से युक्त एक विहार है।

औरंगाबाद से चालिसगाँव जाने वाले मार्ग पर शतमाला नाम की पहाड़ी में अनेक गुफाएँ उत्कीर्ण हैं। इन्हें पीतलखोस की गुफाएँ कहते हैं। इनमें गुफा सं० 4,5,6,7,8,9 तथा 12 विहार हैं। गुफा सं० 9 का विहार सबसे बड़ा है।

अजन्ता में उत्कीर्ण विहारों में वहाँ के चैत्यगृहों की भाँति इस आन्दोलन का पूर्ण विकसित रूप दिखाई देता है। इनकी अवधि ई० पू० दूसरी शती से ईसवी 7वीं शती तक की है—यानी यह प्रयास हीनयान एवं महायान दोनों युगों को अपने अंचल में समेट लेता है। अजन्ता में 29 गुफाएँ हैं जिनमें 25 विहार गुफाएँ हैं। इनमें विहार गुहा सं० 12 सबसे प्राचीन है जो दसवीं गुफा के चैत्यगृह के साथ संलग्न थी। गुफा विहार सं० 10 व 17 महायान युग के हैं। ये अत्यन्त भव्य चित्रों के आलेखन और पाषाण शिल्प की मूर्तियों से भरे पड़े हैं।

कार्ले में तीन सामान्य विहार हैं। विहार गुफा सं० 4 पारसीक देशवासी हरयान ने दान में दी थी, जो सातवाहन सम्राट गौतमीपुत्र शातकर्णी (प्रथम शती ई०) के राज्यकाल में विद्यमान था। गुप्तकालीन विहारों में से सारनाथ और नालन्दा के विहारों के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं। चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्त नरेशों ने नालन्दा के अनेक विहारों का निर्माण कराया था। ये विहार केवल भिक्षुओं के निवास-स्थान या मठ ही नहीं थे, अपितु यहाँ उच्च शिक्षा भी प्रदान की जाती थी।

उपसंहार—शुंगकालीन विहार प्रारम्भिक अवस्था के सूचक हैं। कुषाणकालीन विहारों के मध्य में एक चतुर्भुजाकार आंगन होता था और तीनों ओर कोठरियों की पंक्ति रहती थी, जिनके सामने एक बरामदा होता था। सभी कोठरियाँ प्रायः छोटी हुआ करती थीं।

बौद्ध विहार प्रायः कई मंजियों के होते थे तथा निवास के अतिरिक्त विद्यालय का भी काम देते थे। फाहयान तथा ह्वेनसांग नामक चीनी यात्रियों ने इनके विषय में बहुत कुछ लिखा है। इनमें देव मूर्तियाँ उत्कीर्ण रहती थीं।

4

मन्दिर वास्तुकला
(Temple Architecture)

प्रश्न (1) प्राचीन हिन्दू मन्दिर वास्तुकला के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

अथवा

हिन्दू मन्दिर वास्तुकला के विकास का संक्षिप्त परिचय दीजिए और प्रमुख मन्दिरों का उल्लेख कीजिए ।

अथवा

मन्दिर-निर्माण की विभिन्न शैलियों के सम्बंध में आप क्या जानते हैं ?

सामान्य परिचय—धार्मिक वास्तु के अन्तर्गत मन्दिर निर्माण-कला का एक महत्वपूर्ण अंग है । देवालय के रूप में मंदिर का आरम्भिक रूप हमें वैदिक काल में प्राप्त होता है । वैदिक संस्कृति में देवपूजा के लिए पुरोहित तथा क्षत्रियों के लिए धार्मिक स्थानों (देवमंडपों) की नितांत आवश्यकता थी । अतएव वैदिक-कालीन देवालय को मन्दिर (पूजा स्थान) कहना सर्वथा उपयुक्त है और कतिपय पश्चिमी विद्वानों के इस कथन को कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वेदों, देवालयों (मन्दिर) नामक संस्था का अभाव था । प्राचीन भारत में ईसा पूर्व चौथी सदी से मन्दिर-निर्माण का क्रम आरम्भ होकर मुसलमान काल के कुछ पूर्व अवरुद्ध हो गया । घोसुण्डी (चित्तौरगढ़) बेसनार आदि में उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि ईसवी पूर्व भारत में मन्दिर-निर्माण की कला मौजूद थी । यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि कला के क्षेत्र में साहित्य तथा चित्रशैली पर जहाँ मुसलमानी प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा वहाँ मन्दिरों की स्थापत्य कला पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा ।

सर्वप्रथम ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के मन्दिरों में स्थान दिया गया । परन्तु विष्णु तथा शिव की अपेक्षा ब्रह्मा का महत्व कम रहा । मंदिरों का विकास भक्ति-भावना के साथ सम्बद्ध रहा । उत्तरी भारत में गुप्त काल से ही बड़ी संख्या में वैष्णव मंदिर निर्मित होने लगे और यह परम्परा बारहवीं शताब्दी तक बनी रही । सातवीं सदी से दक्षिण भारत में शैव मन्दिर का शुभारम्भ किया गया जिसकी उत्पत्ति मद्रास के समीप मामल्लपुरम में दिखाई देती है । मध्ययुगीन भारत में विष्णु मन्दिरों के साथ शिव के मन्दिर भी बनाए गये । इस्लाम के कारण 12 वीं शताब्दी के बाद उत्तरी भारत में मन्दिर-निर्माण का कार्य अवरुद्ध हो गया, परन्तु दक्षिण भारत में मंदिर स्थापत्यकला का विकास होता रहा । मन्दिर की स्थापना का मुख्य प्रयोजन धार्मिक भावना का संचार रहा । युगों के चिन्तन के उपरान्त मन्दिर को परमात्मा के निवास-स्थान मानव देही रूप में निर्मित किया गया । अतः यह कहना

यथार्थ होगा कि देवता का आवास मन्दिर को मनुष्य के शारीरिक अंगों के सदृश व्यक्त (प्रत्यक्ष रूप) किया गया। उसी में प्राण प्रतिष्ठा के पश्चात् उपासक पूजा कार्य सम्पन्न करता था।

मन्दिर की उपयोगिता कई प्रकार की थी—

(1) आराधना करना।

(2) उपदेश सुनना।

(3) दरबार हाल के रूप में वहाँ देवता के सामने राजा जनता को सुख पहुँचाने, सुधार लाने तथा नवीन योजनाओं के सम्बन्ध में वार्ता करता था।

(4) विद्वत् परिषद् के रूप में वहाँ सामाजिक एवं धार्मिक विषयों का विवेचन एवं शास्त्रार्थ होता था।

(5) राजसभा के अधिवेशन स्थल के रूप में आज भी पंचायतें मन्दिरों के आँगन में बैठक बुलाती हैं।

(6) व्यास कथा के स्थान के रूप में।

(7) शिक्षा के स्थान के रूप में।

मन्दिर वास्तु का आरम्भ—भारत में मन्दिरों का निर्माण कब और कहाँ आरम्भ हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना कठिन है। आज तक प्राप्त मन्दिरों में प्राचीनतम मन्दिर में साँची का 40 संख्यक मन्दिर है। सर्वप्रथम यह मौर्यकाल या शुंगकाल में निर्मित हुआ होगा। उस समय मन्दिर का ऊपरी भाग सम्भवतः लकड़ी का बना हुआ था जो कि बाद में पुनर्निर्माण के समय ढक दिया गया था। इसी मन्दिर के समकालीन दो मन्दिर मिलते हैं—(1) चित्तौड़ के पास नगरी में निर्मित मन्दिर। इस मन्दिर में संकर्षण (बलराम) और वासुदेव कृष्ण की प्रतिमायें थीं, तथा (2) सरगुजा रियासत में प्राप्त एक 'लपण मंदिर' जो कि जोगियारा के नाम से प्रसिद्ध वरुण मन्दिर था। मध्य प्रदेश में विदिशा के समीप बेसनगर में भी भगवान विष्णु के शुंगकालीन एक मन्दिर का उल्लेख मिलता है। दक्षिण के सपाट छत वाले मन्दिरों में एहोल का लाड़खाँ का मन्दिर चतुर्थ शती का एक महत्वपूर्ण मन्दिर है। यह बहुत ही नीचा तथा सपाट है, और इसकी दीवारें पत्थर की हैं दीवारों में अंकित ताखों में मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। ऐहोल में तीन मन्दिर ऐसे हैं जिनके शिखर के बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं। भारतीय मन्दिरों का नव-विकास सांची के गुप्तकालीन मन्दिर से आरम्भ होता है। गुप्त युग के पूर्व के मन्दिरों की रूपरेखा का अनुमान भरहुत, अमरावती, साँची, गया तथा गया के प्रस्तरों पर अंकित चित्रों से किया जा सकता है। यद्यपि अनेक उल्लेख मिलते हैं तथापि गुप्त साम्राज्य से पूर्ववर्ती कोई भी मन्दिर-वास्तु प्राप्त नहीं है।

भागवत धर्म में भगवान के शारीरिक स्वरूप (Anthropowerplic Conception) का विचार व्यक्त किया गया है। भक्तजन ने इष्ट देव की प्रस्तर प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा की और उस मूर्ति को मन्दिर में स्थापित किया। चौथी सदी से प्रतिमा के प्राण-प्रतिष्ठा निमित्त मन्दिरों का निर्माण हुआ—यानी। खुदाई के स्थान पर संरचनात्मक (इमारत) रूप सामने आया। इस कालावधि में हमें 'गुहाओं' की उपेक्षा संरचनात्मक कृतियों की बहुलता दिखाई देती है। पाँचवीं सदी के आरम्भ में तिगवा

(जबलपुर) तथा साँची (मन्दिरों की संख्या 17) के आकार इमारती हैं। इन्हें गुप्तकाल के प्रथम संरचनात्मक (Structural) मन्दिर कहेंगे।

"चैत्य को ग्रामीण झोंपड़ी का विकसित आकार मानते हैं। इसी प्रकार आरम्भ में ईंट तथा काष्ठ की कोठरी के मूल आकार का अनुकरण कर गुप्त कलाकारों ने प्रस्तर का परमपावन स्थान (मन्दिर) निर्मित किया, जो गर्भगृह के नाम से विख्यात हुआ। 5वीं सदी में नये रूप में आकार (इमारत) बनाए गए, उनकी दो विशेषतायें हैं :—

(अ) संरचनात्मक (Structural) कार्य पद्धति तथा

(ब) सौंदर्य-परकता (Aesthetic Character)।

गुप्तकालीन मन्दिर इन्हीं दो विशेषताओं पर आधारित है। मन्दिरों के गर्भ-गृह ने चौकोर समतल से विकसित होकर शिखर का रूप धारण किया। स्तम्भों में पुष्प सहित पूर्ण कलश की आकृति तैयार हुई; जिसकी सुन्दरता अद्वितीय है।[1]"

गुप्तकालीन मन्दिर—गुप्तकाल के मन्दिर एक विशेष प्रकार के होते थे। इनमें एक चौकोर गर्भगृह होता था जिसमें मुख्य प्रतिमा स्थापित की जाती थी। सामने स्तम्भों पर आधारित एक मंडप होता था। कभी-कभी गर्भगृह के चारों ओर आच्छन्न प्रदक्षिणा होती थी अथवा छत-युक्त प्रदक्षिणा पथ होता था। गुप्तकाल के प्रारम्भिक मन्दिरों की छत सामान्यत: सादी होती थी किन्तु ईंटों के प्रयोग के साथ छछ की आकृति शिखराकार होती गई। इस प्रकार के मन्दिर तिगवा एरण, गढ़वा और उदयगिरी में हैं। इस सन्दर्भ में पर्सी ब्राउन का यह कथन बहुत ही महत्वपूर्ण है—"ये मन्दिर प्रारम्भिक पाँचवीं शताब्दी के हैं।" भारतीय वास्तु का यह रूप उन प्रागैतिहासिक वस्तुओं का अनुकरण कहा जा सकता है जिसमें चारों ओर चार शिला फलकों की दीवार और ऊपर शिला फलक की ही छत हुआ करती थी। गुप्तकाल में ऐसे मन्दिरों का बाहुल्य देखकर अनुमान किया जाता है कि इस काल में इनका विशेष प्रचार रहा होगा।

इन मन्दिरों के सम्बन्ध में यह भी अनुमान किया जाता है कि वे पूर्वकालिक बौद्ध-लपड़ों के अनुकरण हैं, जो भी हो, इन मन्दिरों में फलक योजना (स्लैब कॉस्ट्रक्शन) का बहुत ही आदिम रूप देखने को मिलता है।

गुप्तकालीन प्रारम्भिक मन्दिर सादे हैं। इन सादे मन्दिरों में सांची का मंदिर, तिगवा (जबलपुर) का मंदिर, तथा एरण (सागर) के विष्णु तथा वराह मन्दिर उल्लेखनीय हैं। इन मंदिरों की छत सपाट है और दीवारें भी सादी हैं। इनमें प्राय: चार खम्भों पर आधारित सादा वर्गाकार या आयतकार गर्भगृह मिलता है। सामने छोटा बरामदा है, जिसे मंडप का पूर्वरूप कहा जा सकता है। 'सांची के समीप उदयगिरि की गुप्तकालीन गुफाओं' से सम्भवत: इन सादे मंदिरों के निर्माण की प्रेरणा प्राप्त हुई होगी। परवर्ती गुप्तकालीन मंदिरों में अलंकरण की प्रवृत्ति का विकास दिखाई देता है। द्वार-स्तम्भों पर एक ओर मकरारूढ़ गंगा और दूसरी ओर कच्छप पर खड़ी हुई यमुना का चित्रण एक परम्परा सी दिखाई देती है। इन स्तम्भों पर मंगलघाट आदि का अलंकरण भी मिलता है। द्वार के सिरदल पर बीच में प्राय: मंदिर के

---

1. प्राचीन भारतीय स्तूप तथा मन्दिर।

मुख्य देव की प्रतिमा तथा इधर-उधर अन्य देव प्रतिमायें स्थापित मिलती हैं। इन मंदिरों में गर्भगृह के चारों ओर ढका हुआ प्रदक्षिणा-मार्ग मिलता है। मध्य प्रदेश के नचना तथा भमरा के शिव मंदिर, नागौड़ राज्य के भूभरा तथा बुन्देलखंड के अजय गढ़ के मंदिर इसी कोटि के हैं।

पाँचवीं शती के मंदिरों में बोधगया के मंदिर की भी गणना होती है। बौद्ध साहित्य में इसे महाबोधि विहार भी कहा जाता है। यह भारत का एक आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक धार्मिक मंदिर है। यह शिखर शैली का अत्युत्तम उदाहरण है। इस मंदिर में यथासमय परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होते रहे हैं।" इसका आरम्भिक रूप भीतरगाँव के मंदिर के समान था। इस मंदिर का वर्तमान रूप सन् 1880-81 में किया गया जीर्णोद्धारित रूप है। इससे पूर्व सन् 1105 और 1298 में वर्मा निवासियों ने इसकी रक्षा का प्रयत्न किया था। इस मंदिर का प्राचीन नाम वज्रासन-गंध कुटी-प्रासाद है। यह नौ खंडों का मीनार जैसा है। हर खंड में आमलक के कौने बने हुए हैं। इसके शिखर के निम्न भाग में प्रवेश द्वार के ऊपर एक लम्बी पतली खिड़की है ताकि भीतर रोशनी जा सके। पूर्व की ओर एक मंडप है जो मुख्य द्वार के बाद का बना हुआ है और मंदिर प्रदक्षिणा के चबूतरे पर स्थित है। इसके पश्चिमी सिरे पर सन् 1876 ई० तक बोधिवृक्ष खड़ा था 17 वीं शती में ह्वेनसांग ने बोधगया आने के समय इस मंदिर को निश्चित रूप से अपने मूल-रूप में देखा था। ह्वेनसांग ने मंदिर का बहुत ही विशद् वर्णन किया है। उसने जो ऊँचाई बताई है बिलकुल इतना ही ऊँचा वह आज भी है और इसकी चौड़ाई भी लगभग उतनी ही है। फाह्यान का कथन है कि बुद्ध के जीवन में जिन चार स्थानों पर महान् घटनायें अंकित हुई वहाँ पर एक एक मंदिर बना हुआ है। इस कथन के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि वह दूसरी और तीसरी शताब्दी के मध्य बना होगा। अनुमान किया जाता है कि वहाँ पहले एक बोधि द्रव्य मंदिर था। इसके स्थान पर इस मंदिर को बुद्ध की मूर्ति की प्रतिष्ठा के लिए उस समय बनाया गया जब लोगों में मूर्ति-पूजा के भाव जाग्रत हो रहे थे।"

गुप्तकालीन छठी शताब्दी के मंदिरों में चतुष्कोण गर्भगृह के ऊपर शिखर का निर्माण मिलता है। इस वर्ग के मन्दिरों में भीतरगाँव (करनपुर) तथा देवगढ़ (झाँसी) के मंदिरों को गिना जाता है। श्री कृष्णदत्त बाजपेयी ने अपने ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में इन मंदिरों का वर्णन करते हुए लिखा है कि देवगढ़ में दशावतार का पाषाण मंदिर एक चौड़ी कुर्सी पर बना है जिस पर पहुँचने के लिये चारों ओर सीढ़ियाँ बनी हैं। इस कुर्सी पर दीवारों पर उत्कीर्ण शिला पट्ट लगे हैं जिनमें से कुछ रामायण सम्बन्धी तथा कुछ कृष्ण लीला सम्बन्धी भी हैं। गर्भगृह की तीनों सादी दीवारों पर अत्यंत कलापूर्ण शिला पट्ट जड़े हैं। इसमें नर-नारायण तथा गज-उद्धार के दृश्य विशेष प्रभावोत्पादक हैं। भीतरगांव का मंदिर ईंटों पर बनां है। यह एक ऊँची चौकी पर खड़ा है। मंदिर की कुल ऊँचाई 70 फुट है। इसका गर्भगृह तथा मँडप वर्गाकार है। दोनों की बाहरी दीवारों के आलों पर मिट्टी की कलात्मक मूर्तियाँ लगी हैं। इनमें विविध देवी-देवताओं तथा पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ अधिक हैं। मंदिर

की कामदार ईंटों में विविध अलंकारों का प्रयोग सुरुचिपूर्ण है। यह पद्धति उत्तर भारत में गुप्तकालीन स्थापत्य का एक सुन्दर उदाहरण है।

गुप्तकालीन अन्य मंदिरों की बनावट में भी परिष्कार है। तेली का मंदिर (ग्वालियर) तथा सिरपुर का मंदिर लम्बे शिखर वाली इमारतें हैं जो ऊँचे चबूतरे पर बनी हैं। इसमें एक कमरा (गर्भगृह) तथा बरामदा दीख पड़ते हैं। उन पर ईंटों की खुदाई सतर्कतापूर्ण की गई है। देखने में पूरा मंदिर एक ही आकार में सम्पूर्ण भाव प्रकट करता है।

पूर्व गुप्तकाल में मध्य प्रदेश के राजपुर, दमोह, जबलपुर आदि स्थानों पर अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ था। इनकी निर्माण शैली भीतर गाँव वाले मंदिरों के ढंग की है। अलंकरण की मात्रा अवश्य कुछ अधिक है।

गुप्त काल का प्रभाव समस्त उत्तरी भारत पर पड़ा और ईंट का प्रयोग प्रधानतया सर्वत्र होने लगा। बौद्ध धर्म के चार तीर्थों—(1) कपिलवस्तु एवं लुम्बिनी (2) बोध गया (3) सारनाथ तथा (4) कसिया—में मंदिर एवं विशाल संघाराम (विहार) ईंटों के बने दीख पड़ते हैं। इस सन्दर्भ में नालन्दा का भी नाम लिया जा सकता है। सातवीं सदी में चीनी यात्री फाह्यान ने इसके विशालता का वर्णन किया था। इस प्रकार पाँचवीं सदी अथवा गुप्तकाल के अंतिम चरण की दो विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं—(1) पहाड़ों को खोदकर गुफा निर्माण के कार्य का अन्त हो गया और समतल भूमि में ईंट के सहारे इमारतें बनाई जाने लगीं तथा (2) वैष्णव मत के प्रचार के कारण मंदिरों का प्रचलन बढ़ गया और बौद्ध-विहारों का प्रचलन समाप्त हो गया। केवल मगध में विहारों की परम्परा बनी रही।

गुप्तकाल के बाद निर्मित मन्दिर—गुप्तकाल के बाद हिन्दू और जैन मन्दिरों का निर्माण जारी रहा और अनेक मन्दिर बनाए गए। इन मन्दिरों में शिखरावृत्ति मिलती है। सातवीं सदी से लेकर दसवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में निर्मित महत्वपूर्ण मंदिर ये हैं—अहिच्छत्रा, नालन्दा तथा फतेहपुर जिले (उत्तर प्रदेश) के तेंदुली और बहुवा के मंदिर। ये मंदिर बहुत ऊँचे स्थान पर बने हैं। इन तक पहुँचने के लिये सोपानों की आवश्यकता होती है।

सातवीं सदी से मंदिर निर्धारित (Prescribed) रूप में बनाए जाने लगे और कलाकारों ने शिल्प शास्त्र के आदेशों का अक्षरशः पालन किया। शिल्पशास्त्र में तीन प्रकार की शिखर-शैली का उल्लेख मिलता है।

(1) नागर,
(2) द्राविड़,
(3) वेसर।

ये नाम भौगोलिक आधार पर निश्चित हुए। नागर शैली उत्तर भारत में प्रयुक्त मिलती है। हिमालय से विन्ध्य पर्वतमाला के मध्य भाग तक नागर शिखर दिखाई देते थे। द्रविड़ रीति का प्रयोग द्रविड़ देश (कृष्णा नहीं से कन्या कुमारी बेक का भूभाग) में होता रहा। इन दोनों शैलियों के अतिरिक्त एक तीसरी शैली का उल्लेख मिलता है, जिसका प्रयोग विंध्य तथा कृष्णा नदी के मध्य के भूभाग में किया गया। इस भूभाग में चालुक्य वंश का राज्य था। अतः पुरातत्व

वेत्ता इसे चालुक्य शैली भी कह देते हैं। यह मिश्रित शैली अधिक समय तक काम नहीं कर सकी। दसवीं शताब्दी के बाद भारत में नागर और द्राविड़ मूल्यों को लेकर ही मंदिर तैयार किए गए।

उत्तरी भारत के मंदिर—उत्तरी भारत के मन्दिरों के दो प्रमुख लक्षण हैं—स्वस्तिकाकार योजना तथा वक्ररेखीय ऊँचाई। छठवीं शताब्दी के बाद वर्गाकार योजना आरम्भ हो गई और दोनों कोनों पर उभार प्रगट होने लगा जिसे अस्त्र का नाम दिया गया है। इस शैली के प्रमुख मंदिर में देवगढ़ (झाँसी) का दशावतार नचना (कुठारा) का महादेव मंदिर तथा भीतरगाँव (कानपुर) के मंदिर हैं। इन मंदिरों में नागर (आर्य) शिखर का आरम्भ दीख पड़ता है। चौड़ी समतल छत से उठते हुए शिखर की प्रधानता है। इस प्रकार उत्तरी भारत में सातवीं शताब्दी के पश्चात् स्थापत्य कला शिखर सहित विकसित हुई। अतएव उसे 'आर्यन शिखर वाले मंदिर' कहना यथार्थ होगा। उत्तरी भारत के मुख्यतया छः प्रदेशों में आर्यन शिखर का प्रयोग मिलता है। सबमें स्थानीय प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन शैलियों को भौगोलिक आधार पर व्यक्त करते हैं। उत्तरी भारत की 6 विभिन्न शैलियाँ प्रसिद्ध हैं, यथा—

(1) उड़ीसा शैली के मंदिर,
(2) खजुराहो शैली के मंदिर,
(3) राजपूताना और मध्य भारत शैली के मंदिर,
(4) गुजरात व काठियावाड़ की शैली के मंदिर,
(5) ग्वालियर शैली के मंदिर,
(6) मथुरा शैली के मंदिर।

इनके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के मंदिरों का निर्माण हुआ—बंगाल के मंदिर, नैपाल के मंदिर, काश्मीर के मंदिर तथा दक्षिणी नागर शैली के मंदिर।

(1) **उड़ीसा शैली के मन्दिर**—उड़ीसा शैली के मन्दिर पूर्वी भारत के समुद्रीय तट पर छः सौ किलोमीटर के भू-भाग में फैले हुए हैं। यहीं उड़ीसा (कलिंग) प्रदेश है। इसमें एक स्थान पर विशेषकर भुवनेश्वर नगर में मंदिरों का विकास हुआ। भुवनेश्वर को मंदिरों का नगर भी कहते हैं।

उड़ीसा में सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक छः सौ वर्षों तक मंदिरों का निर्माण अविच्छिन्न रूप से चलता रहा और इस कालावधि में यहाँ असंख्य मंदिरों का निर्माण हुआ। उड़ीसा शैली मंदिरों का परीक्षण भुवनेश्वर में ही भली प्रकार किया जा सकता है, क्योंकि इसी स्थान पर उसके क्रमिक विकास की विभिन्न श्रेणियों का परिचय प्राप्त होता है। पर्सी ब्राउन का कहना है कि दक्षिण में इस स्थापत्य कला का आरम्भ होकर पूर्वी दिशा (समुद्र के किनारे) की ओर बढ़ता गया, जिसका पूर्ण विकसित रूप उड़ीसा शैली में निहित हो गया। परन्तु अधिकांश विद्वान् उक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार भुवनेश्वर में स्वतन्त्र रूप से स्थापत्य कला की प्रगति हुई है। मंदिरों की योजना तथा बनावट के निरूपण में उड़ीसा के मंदिर विशेष महत्व रखते हैं। भुवनेश्वर में अधिकतर शैव दिर हैं। वहाँ पर अनन्त वासुदेव का वैष्णव मन्दिर है जो वैष्णव मत के प्रसार

का द्योतक है। उड़ीसा में शैवमत क्रमशः कम होता गया और वैष्णव मत का प्रधानत्व होता गया। लिङ्गराज मंदिर शैव-वैष्णव मतों के मेल का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

उड़ीसा के प्राचीनतम मंदिरों के शिखर छोटे और प्रायः सपाट हैं। उनके मंडप ठोस नीची छत वाले कमरे मात्र है परन्तु क्षितिजाकार और उर्ध्वाकार रेखाओं के संयोग से उनमें शालीनता और भव्यता का समावेश हो गया है। इस प्रकार के मंदिरों में मुक्तेश्वर का मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। परशुरामेश्वर के मंदिर का विमान (शिखर) कुछ चपटा हुआ तथा शुन्डाकार है।

उड़ीसा के मन्दिरों की एक अन्य विशेषता है उनका अलंकरण। अलंकरण की दृष्टि से मुक्तेश्वर का मन्दिर सर्वाधिक श्रेष्ठ है। इस मंदिर पर यत्र-तत्र नाग-नागिनियों की आकर्षक मूर्तियाँ बना हुई हैं। रानी के मंदिर पर भी नागिनियों की मूर्तियाँ बनी हुई हैं वे और भी अधिक भव्य एवं आकर्षक हैं। कोणार्क मंदिर में मानव आकृतियाँ बनी हुई हैं। इसके शिखर पर कामशास्त्र के छंद अंकित हैं जो मूर्तिकला की दृष्टि से श्रेष्ठ कलाकृति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

इस मन्दिर समूह में भुवनेश्वर स्थित पशुरामेश्वर (750 ई०) मुक्तेश्वर (950 ई०), लिंगराज (1000 ई०), मेघेश्वर (1200 ई०); पुरी स्थित राजरानी और जगन्नाथ (1150 ई०) तथा कोणार्क स्थित सूर्य देव (1300 ई०) नामक मंदिर विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। इन मन्दिरों में कुछ में मुख्य मण्डप के अतिरिक्त नृत्य-मण्डप, नाट्य-मण्डप सभा-मण्डप और भोग-मण्डप नामक अलग-अलग मण्डप भी हैं। लिंगराज के मन्दिर में ये सभी मण्डप हैं, जो विभिन्न समस्याओं में निर्मित हुए हैं। इसका नाट्य मण्डप सबसे पीछे 1300 ई० में बना था। यह मन्दिर भारतवर्ष के वर्तमान मन्दिरों में सबसे भव्य और विशाल मन्दिर माना जाता है। लिंगराज के मंदिर के वर्गाकार मण्डप की छत काफी ऊँची है और गर्भगृह के विकास का शिखर सीधा ऊपर उठा हुआ है। इसकी रेखायें चोटी पर जाकर ही कुछ झुकी हुई हैं। इसके आधार तथा अन्य स्थानों पर आश्चर्यजनक सुन्दर आकृतियाँ अंकित हैं जो मंदिर के अलंकरण का कार्य करती हैं। इसके मुख्य मण्डप के ऊपर बनी हुई करनीसें दो खंडों में विभक्त हैं। विमान पर विशाल आमलक है और उसके ऊपर कलश। उसके शिखर की समानान्तर रेखायें इसकी निजी विशेषतायें हैं।

राजरानी का मन्दिर भी अलंकृत शैली का मंदिर है। इस मन्दिर के स्तम्भ विशाल हैं। पुरी का मन्दिर यद्यपि वास्तुकला की दृष्टि से सामान्य है तथापि वह सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं समृद्ध है।

कोणार्क का सूर्य मंदिर यद्यपि जीर्ण-शीर्ण है तथापि उसका विशिष्ट महत्व है। इसका मुख्य मण्डप तीन भागों में विभक्त है इसका आधार अलंकृत है तथा ऊपर के भाग में कारनीसों की संख्या कम है। वस्तुतः इस मन्दिर की निर्माण-योजना अन्य मंदिरों से भिन्न है। अबुल फजल ने इस मंदिर की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। केसरी कुल के राजा नरसिंह (1297-1357 ई०) ने इसे बनवाया था। उन्होंने मंदिर का निर्माण अधूरा ही छोड़ दिया था। उसका शिखर अब भी अपूर्ण है। समुद्र की लवणाक्त वायु ने इसके कलेवर को सर्वथा ढीला कर दिया है। कोणार्क का वास्तु तथा स्थापत्य राजपूत काल की देन है।

भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में "कोणार्क के मंदिर को कल्पना में भाव यह है कि सूर्य का रथ ही मंदिर के रूप में मानों पृथ्वी पर उतर आया है। इसके अलंकरण की अभिरामता, ग्रहों की भाँति रथचक्रों का छंदस, अश्वों की शक्ति, वास्तु की मर्यादा की सीमायें खींच देते हैं। बड़े यशस्वी शिल्पियों ने इसकी मूर्तियों की काया कोटी होगी और उसके शलीन कलेवर को खड़ा किया होगा।"

अनुमान किया जाता है कि कोणार्क मंदिर के तीन भाग रहे होंगे (1) शिखर युक्त देडल (2) जगमोहन तथा (3) काट मंदिर। इस समय केवल जगमोहन ही सुरक्षित है।

उड़ीसा के मंदिरों पर अंकित शृङ्गारिक प्रदर्शन के बारे में दो शब्द कहना आवश्यक है। इनकी बाह्य दीवारों पर उत्कीर्ण आकार या चित्र विविध विषयों के परिचायक थे। उनमें इतिहास तथा संगीत, शृङ्गार, गृहस्था जीवन, आदि की झाँकी देने वाले विषय खुदे हैं। दिक्पाल तथा मिथुन जोड़ा को अधिक स्थान दिया गया है। मंदिरों की खुदाई को देखने से प्रतीत होता है कि आकृतियाँ सम्पूर्ण मंदिर के दीवार पर फैली थीं।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि धार्मिक साधना तथा आध्यात्मिक जीवन में कामासक्त विचार के लिए प्रमुख स्थान न था, साथ ही मिथुन-भावना को साधारण जीवन में सदैव स्थान दिया गया था। उड़ीसा शैली के मंदिरों की वाह्य दीवारों पर कामशास्त्र में वर्णित कामासक्त तथा श्रंगारिक अथवा विविध भाँति के संभावित यौन कर्मों का प्रदर्शन लिंगराज, जगन्नाथ तथा कोणार्क के मंदिरों में देखा जा सकता है। इसमें कला के कौशल का प्रश्न नहीं है, वरन् कलाकारों के विचारों का प्रकटीकरण है। उनके अवलोकन से प्रकट होता है कि मिथुन युग्म यौन-कर्मों में लीन नहीं है। इस तरह के अश्लील प्रदर्शन के तीन कारण हो सकते हैं—(1) तंत्रमत का प्रभाव (2) मिथुन युग्म का सर्वोपरि स्थान और (3) उपासकों को उपदेश। ये कामाशक्त प्रदर्शन सम्भवतः उपासकों को यह बताना चाहते हैं कि वाह्य जगत में अपवित्रता एवं अश्लीलता का साम्राज्य है। इसे त्याग कर ही भगवान की उपासना की जा सकती है।

(2) **मध्य भारतीय अथवा खजुराहो शैली के मंदिर**—बुन्देलखण्ड में चंदेलों की राजधानी खजुराहो के मंदिर समूह विशेष प्रसिद्ध हैं। खजुराहो मध्यप्रदेश के छतपुर से चालीस किलोमीटर तथा महोबा से छप्पन्न किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। खजुराहो के मंदिरों का निर्माण-काल 10 वीं 11 वीं शताब्दी माना जाता है। खजुराहो के अनेक मन्दिरों के निर्माण का श्रेय कालिंजर को जीतने वाले यशोवर्मन के प्रतीपी पुत्र धंग को है।

चन्देल नरेश यद्यपि शैवमत के अनुयायी थे तथापि वे अन्य मतों के विरोधी नहीं थे। खजुराहो में शैव मंदिरों के अतिरिक्त अनेक हिन्दू (वैष्णव) तथा 30 जैन मंदिर भी हैं। इन मंदिरों में सर्वाधिक सुन्दर है कंधरियानाथ महादेव का मन्दिर। यह मन्दिर 109 फीट लम्बा, 60 फीट चौड़ा और 119 फीट ऊँचा है। प्रदक्षिणा पक्ष में सुन्दर स्तम्भों की योजना है। चारों ओर भव्य झरोखे हैं। मंदिर का प्रत्येक भाग मूर्तिकला से अलंकृत हैं। कहीं-कहीं अश्लील मिथुन भी हैं। इस स्थान के प्रायः

सभी मन्दिरों की रूपरेखा समान है, इन मन्दिरों के प्रारम्भिक अवस्था के शिखर वर्तमान थे जो भग्नावस्था में पड़े हैं। इनमें प्रतिष्ठित मूर्तियों के आधार पर ही इन मन्दिरों में अन्तर स्थापित किया जा सकता है। कंधरिया नाथ महादेव मन्दिर के सम्बन्ध में कृष्णदत्त वाजपेयी का यह कथन द्रष्टव्य है—"यह संपूर्ण मन्दिर भारतीय वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका भव्य उच्च शिखर पार्श्व के कंगूरे, छज्जों से युक्त प्रदक्षिणा-पथ-सभी दर्शनीय हैं। मुख्य शिखर को छोड़कर सम्पूर्ण मन्दिर का बाहरी-भीतरी भाग विविध कलात्मक मूर्तियाँ तथा अलंकरणों से सुसज्जित हैं। कुछ वृत्तियाँ कामशास्त्र सम्बन्धी हैं।"

खजुराहो के मन्दिर इस प्रकार हैं—

(क) पश्चिमी वर्ग के मन्दिर

(1) चौसठ योगिनी मन्दिर,
(2) कंधरिया महादेव मंदिर,
(3) लाल कुआँ महादेव मंदिर,
(4) देवी जगदम्बा मंदिर,
(5) चित्रगुप्त या भरत जी का मंदिर,
(6) विश्वनाथ मंदिर,
(7) लक्ष्मण मंदिर,
(8) मंतगेश्वर मंदिर,
(9) पार्वती मंदिर,
(10) लक्ष्मी मंदिर,
(11) वाराह मंदिर

(ख) पूर्वी वर्ग के मन्दिर

(1) ब्रह्मा मंदिर,
(2) वामन मंदिर,
(3) जवारी मंदिर,
(4) घंटाई मंदिर,
(5) आदिनाथ मंदिर,
(6) पार्श्वनाथ मंदिर,
(7) अन्य छोटे जैन मंदिर,
(8) हनुमान की प्रतिमा।

(ग) दक्षिणी वर्ग के मन्दिर

(1) पूलादेव मंदिर,
(2) चतुर्भुज मंदिर।

खजुराहो के मन्दिरों की कतिपय सामान्य विशेषतायें निम्नलिखित प्रकार हैं—

(1) परकोटा का अभाव,

(2) ऊँचे प्रस्तर का चबूतरा। इसकी सीढ़ी द्वारा पूजा-स्थान तक सरलता से पहुँच जाते हैं।

(3) मंदिर का कोई भाग 100 फीट से अधिक ऊँचा नहीं है।

(4) मंदिर तीन भागों में विभक्त—

(क) गर्भगृह,

(ख) मण्डप—तथा मण्डप वर्गाकार एवं स्तम्भयुक्त है।

(ग) अर्द्धमण्डप—प्रवेश बरामदा जो चारकोना है।

(5) गर्भगृह और मण्डप को जोड़ने वाला गलियारा (अंतराल)।

(6) प्रदक्षिणा पथ से संयुक्त महामंडप है। इसमें खिड़कियाँ खुलती हैं।

(7) अर्द्धमण्डप से गर्भ-गृह क्रमशः ऊँचा होता गया है।

(8) प्रत्येक भाग के ऊपर मीनार है, अर्द्धमण्डप पर छोटा जो क्रमशः ऊँचा होता चला गया है।

(9) उभार या मोड़ पर मनुष्य के अर्द्ध आकार में चित्रवल्लरी उत्कीर्ण है। चित्र बल्लरी में मानव की शोभा यात्रा दीख पड़ती है। जिसका अन्त अज्ञात है। खजुराहो के कंधरिया महादेव मन्दिर की दीवार पर साढ़े छः सौ आकृतियाँ अथवा मिथुन युग्म बने हुए हैं। मन्दिर के अंतर्भागों की वाह्य दीवारों में गवाक्ष है और उनमें मूर्तियों की समानान्तर पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

(10) अंग शिखर की बहुलता। यह बनावट चारों तरफ मुख्य मीनार के दीवार से जुड़ी रहती है। गर्भगृह की मीनार पर चारों तरफ शिखरनुमा आकार को **उरूश्रंग** कहते हैं।

(11) पूर्व दिशा में प्रवेश द्वार जहाँ-पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं।

(12) गुलाबी या मटियाले रंग के प्रस्तर का प्रयोग जो निकटस्थ पन्ना की खान से उपलब्ध किया गया है। चौसठ योगिनी मंदिर ग्रेनाइट का है।

((13) आंतरिक दीवार प्रचुर मात्रा में खुदी है।

(14) समस्त मन्दिरों के शिखर पर आमलक, उस पर स्तूपिका और कलश।

(15) मूर्तियों का भण्डार। इन मन्दिरों में निर्मित मूर्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—

(i) **त्रियाम वाली देवी देवताओं की प्रतिमाएँ**—इनकी पृष्ठभूमि में छोटे सहायक देवी-देव हैं। ये समस्त मूर्तियाँ मूर्ति विज्ञान के लक्षण-लांछनाओं के नियमों से जकड़ी किन्तु बहुत ही आकर्षक हैं।

(ii) **रथिकाओं में या पट्टियों में गोलाई में कटी हुई मूर्तियाँ**—पार्श्व देवों में विद्याधर, गन्धर्व, नाग, गण, भूत, दिग्पाल आदि आते हैं। इन देवों को अत्यन्त सुन्दरता के साथ मानवीय रूप प्रदान किया गया है।

(iii) **अप्सराओं या सुन्दरियों की मूर्तियाँ**—जंघा, छोटी रथिकाओं, स्तम्भों दीवारों पर ये मूर्तियाँ निर्मित हैं। ये असंख्य हैं। मानवीय रूप में इन मूर्तियों को अनेक भावों और मुद्राओं में बनाया गया है। नृत्य करते हुये अंजलिबद्ध स्नान, तोते से खेलते हुए, चिड़ियों के साथ मनोरंजन करती, बच्चों को दुलारती, काँटा निकलवाती, कंदुक क्रीड़ा में रत, वीणा और बांसुरी बजाते हुये भाव आदि। मुद्राओं की मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। इन्हीं के कारण खजुराहो की कला अमर है।

(iv) **पशु-पक्षी आदि**—वे मूर्तियाँ जिनमें पशु-पक्षी तथा नाना प्रकार के अलंकरण, बेल-बूटे तथा प्रकृति के अनेक दृश्य हैं।

(v) **अधार्मिक मूर्तियाँ**—जिनमें ये विषय उकेरे गये हैं—घरेलू कार्य, गुरु शिष्य, नर्तक और गायक दल, शिकार सेना प्रयाण आदि। इनमें मानवीय भावना तथा कल्पना साकार की गई है। इस कोटि की मूर्तियों में कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ हैं जो अश्लीलता का प्रदर्शन करती हैं। ये ही हैं खजुराहो की उत्कृष्ट कला कृतियाँ।

(3) **राजपूताना और मध्य भारत शैली के मन्दिर**—राजपूताना, मध्यभारत तथा समीपवर्ती प्रदेशों में आठवीं शती से बारहवीं शती एक मन्दिर-निर्माण का कार्य प्रगति पर रहा। इस भाग में गुप्तकालीन परम्परा कार्य कर रही थी। डा० वासुदेव उपाध्याय ने अनेक प्रमाण एवं उद्धरण प्रस्तुत करते हुये लिखा है कि राजपूताने में मन्दिरों का निर्माण मध्य युग (10वीं सदी) तक होता रहा। आठवीं, नवीं शताब्दियों में गुर्जर-प्रतिहार राजे भी स्थापत्य कला की उन्नति में सहायक रहे।

मुसलमान आक्रमणकारियों ने पश्चिमी भारत, राजपूताना तथा मध्य भारत में प्रवेश करके धार्मिक केन्द्रों का विनाश किया और इसी सिलसिले में मन्दिरों को भी नष्ट-भ्रष्ट किया। आठवीं सदी के उपरान्त राजस्थान में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ। इन मन्दिरों में अधिकांश वैष्णव मन्दिर हैं। जोधपुर से उत्तर-पश्चिम 56 कि० मीटर की दूरी पर ओसिया नामक प्रसिद्ध स्थान है। वहाँ ब्राह्मण और जैन मन्दिरों को मिलाकर बीस मन्दिर हैं। ये समस्त मन्दिर एक दूसरे से भिन्न हैं। हरिहर नामक मन्दिर योजना में पंचरत्न प्रकार का है। इसे पंचायत भी कहते हैं। इस योजना में दो देवालय तथा सूर्य मन्दिर अपने अतिशय अलंकरण के लिये प्रसिद्ध है। सूर्य का मन्दिर पंचायतन ढंग का है। इसमें मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त चारों कोनों पर इसी के समान चार छोटे-छोटे मन्दिर हैं। प्रवेश द्वार बहुत आकर्षक हैं। ओसिया के पिछले मन्दिरों को राजपूत शैली के विशिष्ट प्रकार में महत्वपूर्ण मानते हैं। इस श्रेणी में महावीर मन्दिर, सचिपमाता मन्दिर तथा पिपला माता मन्दिर की गणना होती है। इन मन्दिरों के अतिरिक्त राजस्थान में इन मन्दिरों में खड़े, किराड़, तथा सादड़ी (जोधपुर) के वैष्णव मन्दिर, बाजैली (उदयपुर) का शेषशायी नारायण का मन्दिर तथा झालरापाटन का कालिका मन्दिर उल्लेखनीय है। भारतवर्ष के स्थापत्य कला के इतिहास में यह महत्वपूर्ण युग माना जा सकता है, जिस समय पर्वत-चट्टानों को खोदकर भवन बनाने का कार्य प्रायः समाप्त हो गया और निर्माणपरक (Structural) इमारतों का श्रीगणेश हुआ।

राजस्थान में अनेक जैन मन्दिर भी प्राप्त होते हैं। इनमें ओसिया का महावीर मन्दिर, कुभरिया के जैन मन्दिर, आबूपर्वत पर नेमिनाथ पार्श्वनाथ तथा तेजपाल के मन्दिर, रानापुर (जोधपुर) का ऋषभनाथ का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है।

(4) **गुजरात तथा काठियावाड़ शैली के मन्दिर**—राजपूताना से दक्षिण-पश्चिम में एक ऐसी शैली विकसित हुई जिसकी कला अपनी विशेषता रखती है। गुजरात, काठियावाड़, कच्छ और राजपूताना के पश्चिमी भाग पर सोलंकी राजे राज्य करते थे। इन्होंने अनेक मन्दिर बनवाये। ये मन्दिर विशेष प्रकार के होते थे। इनके अलावा लगभग ढाई सौ वर्षों (1025-1298 ई०) में इस भू भाग में नागर शैली के मन्दिरों का सर्वाधिक विकास हुआ जिन्हें 13वीं शताब्दी में मुसलमान विजेताओं ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। नागर शैली के मन्दिरों को सोलंकी या चालुक्य शैली के नाम से पुकारते हैं।

काठियावाड़ के गोप नामक स्थान पर कुछ मन्दिर हैं जिनकी शैली असाधारण है। गोप मन्दिर इस भू-भाग का प्राचीनतम मन्दिर है। विलेश्वर का शिव मन्दिर इस क्रमिक विकास में अन्तिम स्थान रखता है। सोलंकी शैली अनेक विशिष्ट मन्दिरों में गुजरात के नील-कण्ठ महादेव मन्दिर की भी गणना होती है। उसी का समकालीन काठियावाड़ का नवलाखा मन्दिर भी कलात्मक दृष्टि में श्रेष्ठ माना जाता है। काठियावाड़ के बारहवीं सदी के मन्दिरों में रुद्रमल्ल तथा सोमनाथ के मन्दिर विशेष उल्लेख हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि सोमनाथ के मन्दिर के साथ महमूद गजनवी का आक्रमण सम्बद्ध है।

अहमदाबाद के एक धनी महाजन ने 17वीं शताब्दी के आरम्भ में चौमुखी मन्दिर का निर्माण कराया था। सामान्य हिन्दू मन्दिरों से भिन्न इसके अंतराल भाग में चारों दिशाओं से प्रवेश द्वार हैं। इस मन्दिर में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित हैं।

यहाँ के मन्दिरों के निर्माण के सम्बन्ध में तीन तथ्य महत्वपूर्ण हैं—(1) दसवीं से तेरहवीं सदी तक सोलंकी शासन अवधि में प्रायः सभी मन्दिर तैयार किये गये। (2) मन्दिरों का संस्कार तथा निर्माण 12वीं सदी तक होता रहा तथा (3) दसवीं सदी के मन्दिरों का निर्माण साधारण रूप में हुआ था।

(5) **ग्वालियर शैली के मन्दिर**–आर्यन शैली के सबसे दक्षिण भाग में ग्वालियर दुर्ग में कुछ मन्दिर बने थे। इनमें सास-बहू का मन्दिर तथा तेली का वैष्णव मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है। ग्वालियर का नील-कण्ठ मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है। इस मन्दिर की विशेषता यह है कि सम्पूर्ण मन्दिर में बहुत महीन काम किया गया है तथा मण्डप एवं शिखर दोनों सुरक्षित हैं। रीवा के चन्देली में गोल शिखर युक्त मन्दिर भी अच्छा बना हुआ है। नरसिंहपुर रियासत के सोहागपुर का मन्दिर भो अच्छा है। यह मन्दिर खजुराहो के मन्दिरों के अनुकरण पर निर्मित है। इसी प्रकार इन्दौर का सिद्धनाथ का मन्दिर नागर शैली का एक प्रसिद्ध मन्दिर है। आठवीं और बारहवीं शताब्दी में पंजाब तथा गंगा के कोठों में नागर शैली में अनेक मन्दिरों की रचना हुई जो प्रारम्भिक गुप्तकाल तथा भी तरगांव, सिंहपुर, आदि मध्यवर्ती मन्दिरों की परम्परा के अन्तर्गत आते हैं।

(6) **मथुरा-वृन्दावन शैली के मन्दिर**—मथुरा तथा वृन्दावन भगवान कृष्ण की लीलाभूमि होने के कारण कृष्ण भक्तों के सर्वस्व हुए। महाप्रभु चैतन्य के आगमन से इन क्षेत्र में नया उत्साह उमड़ा था। अतः कृष्ण पूजा के निमित्त, कीर्तन के लिये

तथा लीला सम्पादन निमित्त अनेक मन्दिरों का निर्माण किया गया। इन मन्दिरों का निर्माण 16वीं शताब्दी में, अकबर तथा जहाँगीर के शासन काल में हुआ। इनकी शैली स्थानीय रूप से विकसित हुई। स्थानीय हिन्दू शासकों ने इनके निर्माण में हाथ बँटाया इनमें सीकरी के लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। सभी मन्दिर स्वस्तिकाकार हैं। इनकी छतें नीची न होकर ऊँची मेहराब के रूप में हैं, जैसा कि उस युग की मसजिदों में देखने को मिलता है। सभी मन्दिरों में भगवान श्री कृष्ण एवं राधा जी की प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं।

मथुरा में भगवान श्रीकृष्ण के जन्म-स्थान पर ओरछा नरेश वीरसिंह देव ने तेतीस लाख रुपये की लागत से केशवराय (श्री कृष्ण) मन्दिर का निर्माण कराया था। यह मन्दिर भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था, परन्तु अब बड़े पैमाने पर इसका जीर्णोद्धार कर दिया गया है।

वृन्दावन में अनेक बड़े-बड़े मन्दिर हैं, यथा—

(1) गोविन्द देव जी का मन्दिर,
(2) गोपीनाथ जी का मन्दिर,
(3) मदन मोहन जी का मन्दिर,
(4) जुगलकिशोर जी का मन्दिर,
(5) राधावल्लभ जी का मन्दिर।

इसमें गोविन्द देव जी का मन्दिर सबसे बड़ा है। यह 20 फीट ऊँची कुर्सी पर स्थित है। इसकी लम्बाई 200 फीट और चौड़ाई 120 फीट है, बाहरी जगमोहन 40 फुट लम्बा और 20 फूट चौड़ा है। जगमोहन के बाद रंग मण्डप है। इस मन्दिर की मेहराबों का कटाव कमानीदार पत्थरों से बनाया गया है। इसका सुन्दर गुम्बद दर्शनीय है। इस पर तत्कालीन मुस्लिम वास्तुकला का प्रभाव स्पष्ट है। यह मन्दिर लाल पत्थर से निर्मित है।

(7) अन्य मन्दिर

(i) **काश्मीर के मन्दिर**—काश्मीर की भौगोलिक स्थिति सर्वथा स्पृहणीय है। आवागमन के कारण इस प्रदेश पर विभिन्न संस्कृतियों का प्रभाव पड़ा है। अतएव यहाँ की इमारतें विदेशी शैली से सम्बद्ध हैं। काश्मीर का राजाललित दित्य मुक्तापीड़ा (724-760 ई०) ने कश्मीर में भवन-निर्माण का आरम्भ किया था। इसके काल को हम कश्मीर-स्थापत्य का स्वर्ण युग कह सकते हैं। इस कालाविधि में निर्मित मन्दिरों में ब्राह्मण धर्म के मंदिरों की प्रमुखता है।

काश्मीर के मन्दिर आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक निर्मित हुये हैं। पर्सी ब्राउन ने इनकी स्थापत्य कला पर विस्तार के साथ लिखा है, यथा—"उनकी छतें दोहरी, कोणकार और एक के ऊपर एक त्रिकोणाकार होती है जिनमें बीच में एक ताखा रहता है। उसके स्तम्भ ऊँचे उठे होते हैं जिनमें लकड़ी अथवा पत्थर का दीप होता है। मुख्य मन्दिर के चारों ओर स्तम्भ-युक्त मण्डप अथवा प्रदक्षिणा-पथ रहता है।"

इन मन्दिरों का निर्माण प्रस्तर को काटकर विशाल पाषाण-खण्डों द्वारा हुआ है। विदेशी प्रभाव के कारण मन्दिर उत्तरी भारत के मन्दिरों से पृथक स्थान

रखते हैं। कश्मीर के मन्दिरों की निर्माण पद्धति यूनानी-रोमन रीति से मिलती-जुलती है। कश्मीर के प्रमुख लदुव, मार्तन्ड, पठनपापर, पाण्डेताण पंजताणु, और बांग्थ में हैं। अन्तिम दो स्थानों के मन्दिर कंडे तेलिया पत्थर के बने हैं। मूर्तिण्ड का सूर्यमंदिर सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इन मन्दिरों में हिन्दू धर्म का प्रभाव स्पष्ट है।

(ii) **बंगाल के मन्दिर**—यद्यपि बंगाल सभ्यताओं का केन्द्र रहा है तथापि वहाँ प्राचीन वास्तुकला के उदाहरणों का अभाव है। वहाँ की जलवायु तथा वनस्पति के कारण इमारतें ध्वस्त हो गईं और अवशेष नष्ट हो गये। प्राचीन समय की इमारतों में पहाड़पुर (जिला राजशाही) का काम उल्लेखनीय है। वहाँ की खुदाई में ऐसे मन्दिरों के भग्नावशेष सामने आए हैं, जिनका उदाहरण भारतीय पुरातत्व में अप्राप्य है। यह मन्दिर धर्मपाल के शासन-काल आठवीं शताब्दी में बना था। मार्शल के मतानुसार यह मन्दिर गर्भ चैत्य से युक्त था, जबकि श्री राखालदास बनर्जी इसे खाली छतवाला प्रकोष्ठ कहते हैं।

बाकुड़ा तथा वर्दवान जिलों में भी कुछ खँडहर मिले हैं। वे भुवनेश्वर के मन्दिर की शली पर हैं। बाकुड़ा के बेहुलारा तथा सिद्धेश्वर मन्दिर उस श्रृंखला के सबसे सुन्दर मन्दिर हैं। ईंट के बने इस मंदिर के समस्त बहिरंग पक्की ईंट से ढके हैं जिनमें चित्रों का अलंकरण है। प्राचीन स्थापत्य कृतियों के अतिरिक्त देशी शैली के भी मन्दिर मिलते हैं। दक्षिण बंगाल में इनका अधिक प्रचलन था। यह शैली बंगाल में प्रचलित बांस के छप्पर वाली झोपड़ियों के अनुकरण पर है। इन मन्दिरों में ईंट या प्रस्तर के बने दोनों ओर ढालू छज्जे निकाले गये हैं ताकि वर्षा का पानी आसानी से बह जाये। सम्भवतः मल्ल राजाओं ने इन मंदिरों का निर्माण किया होगा। इस शैली के मन्दिरों में 1675 ई० में निर्मित रानी भक्ति का मन्दिर कांतनगर (दीनाजपुर के निकट), दक्षिणेश्वर (कलकत्ता) के निकट बने श्री रामकृष्ण के मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं।

दक्षिणापथ अथवा द्राविड़ शैली के मन्दिर

भारत में विंध्य के दक्षिणी भूभाग को यदि मन्दिरों का क्षेत्र कहें, तो अत्युक्ति न देगी। तमिल की प्रसिद्ध कवियत्री-अव्वैयर की सूक्ति प्रसिद्ध है कि "जहाँ मन्दिर न हो उस स्थान पर मत रहो।" इस्लामी आक्रमणों से बचे रहने के कारण वे मन्दिर सुरक्षित बने रहे। यही कारण है कि दक्षिण के मन्दिरों के गौरवमय इतिहास का जीवित इतिहास प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है। दक्षिण में हजारों मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनमें अधिकांश सुरक्षित हैं। बड़े प्रसिद्ध मन्दिरों के अतिरिक्त छोटे स्थानों पर भी अनेक मन्दिर बनाये गये। उत्तरी भारत की तुलना में दक्षिण-भारत के मन्दिरों में कला का विकास भी अधिक हुआ और उसका रूप भी अधिक सुरक्षित बना रहा।

विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में वास्तुकला की एक भिन्न शैली का आविर्भाव हुआ। इसका सम्बन्ध द्रविण जाति और उसकी संस्कृति से माना जाता है। इस शैली के मन्दिरों का आरम्भिक रचना-काल आठवीं शताब्दी है। मैसूर के बीजापुर जिले के अन्तर्गत ऐहोल के पाषाण निर्मित मन्दिर में हमें दक्षिण भारत के स्थापत्य का रूप देखने को मिलता है। दक्षिणी वास्तु का आरम्भ करके उत्तरेश्वर और काले-

श्वर के ईंटों के बने मन्दिरों तथा एहोल, पट्टदलक, बदामी के अनेक मन्दिरों के निर्माण से होता है। यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि उत्तरी भारत की नागर-शैली का विस्तार कृष्ण-तुंगभद्रा घाटी में भी हुआ। यहीं दोनों शैलियों (नागर तथा द्राविड़) का सङ्गम मिलता है। इस मन्दिरों का निर्माण 450 ई० से 600 ई० के मध्य चालुक्य राजाओं ने कराया। इसी काल में उत्तरी भारत में गुप्त सम्राटों ने मन्दिरों का निर्माण कराया। सम्भवत: आर्यन शिखर शैली (नागर शैली) का प्रभाव दक्षिण पहुंचा। इसी कारण ऐहोल के मन्दिरों में मिश्रित शैली मिलती है। ऐहोल के मन्दिर को चालुक्य स्थापत्य-कला का जन्मदाता कह सकते हैं। ऐहोल के मन्दिर के गर्भगृह त्रिरल योजना पर बने हैं। उस पर छोटा शिखर है और मन्दिर के सामने के भाग में स्तम्भयुक्त कमरा है। नागर शैली के प्रारम्भिक शिखर की रूपरेखा ऐहोल के मन्दिरों में वर्तमान है।

बादामी के निकट पट्टादलक में मन्दिरों का जमघट है। इसमें कई मन्दिर नागर वास्तु (उत्तर भारत) शैली के हैं, जो 5 वीं शताब्दी में बने। पट्टादलक के मन्दिरों में चार आर्य शैली के तथा छः द्राविड़ पद्धति के मन्दिर उल्लेखनीय हैं—यथा—

(क) आर्य शिखर युक्त

(1) पापनाथ
(2) जंबूलिंग
(3) करसिद्धोश्वर
(4) काशी विश्वनाथ

(ख) द्रविण शिखर सहित

(1) संगमेश्वर
(2) विरपाक्ष
(3) मलिकार्जुन
(4) गलगनाथ
(5) सुमेश्वर
(6) जैन मन्दिर

इन मन्दिरों का गम्भीर अध्ययन करके डॉ० वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है; "इस प्रकार के ऐहोल पिट्टाहलक तथा आलमपुर नगरों के मन्दिरों का विवरण यह बतलाता है कि चालुक्य राज्य में ऐसा संगम था, जहाँ आर्य शिखप तथा द्राविड़ शैली के मन्दिर निर्मित किये गये।"

दक्षिण भारत के मन्दिरों का काल-निर्धारण—दक्षिण भारत के मन्दिरों के वास्तु का समय निर्धारित करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। सर्वप्रथम हमें रामायण युग में दक्षिण-भारत में मूर्ति-पूजा एवं विकसित रूप में मन्दिर वास्तु की चर्चा उपलब्ध होती है। वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड में महर्षि अगस्त के आश्रम में विभिन्न देवताओं की वेदियों की चर्चा मिलती है। सुन्दरकाण्ड के द्वारा हमें विदित होता है कि लंका में निकम्मिला देवी का मंदिर था। सर्ग 43 में वर्णन है कि आंजनेय ने लंका के रक्षक देवता के पवित्र देवालय का एक खम्भा उखाड़ लिया था तथा

आग लगाकर उसके उच्च भवन को नष्ट कर दिया था। दक्षिण भारत के एक प्राचीन ग्रन्थ 'थोल-काप्पियम' (Tholkappiam) के द्वारा हमें विदित होता है कि मूर्तियों की पूजा खुले मैदान में हुआ करती थी।

दूसरी शती से छठी शती तक के संघ एवं उसके परवर्तीकाल के साहित्य में विभिन्न देवताओं को समर्पित मन्दिरों को कोट्टम, नगरम, मन्त्रम, कोइल, पल्ली तथा पीडिकै कहा गया है। संघ साहित्य के आरम्भिक ग्रन्थों में एक ग्रन्थ अगनुरू (Agnanuru) में एक ऐसे मन्दिर के भग्नावशेषों का वर्णन है जो ईंटों द्वारा बनाया गया था। संघ के एक अन्य ग्रन्थ में शिवजी के एक मन्दिर का उल्लेख किया गया है। पत्तिनाप्पलाई के अनुसार महान् सम्राट चोल ने अपने पूजन के लिए उरैउुर (Uraigeer) नामक नगर का निर्माण कराया था तथा इसमें देवताओं को प्रतिष्ठित करने के लिए एक मन्दिर बनवाया था। तमिल काव्य के प्रसिद्ध महाकाव्य, सिला पथिकरम्, में दक्षिण भारत के तिरुपति, श्रीरंगम, तथा त्रिवेन्द्रम के मन्दिरों का उल्लेख किया गया है। 'मणि में कलाई' नामक एक अन्य महाकाव्य में अनेकों पूजा स्थलों का वर्णन किया गया है। इसमें प्रभावशाली मीनार वाले दुर्गा देवी के मन्दिर का वर्णन है। चेर सम्राट चैनकुत्तुवन ने मन्दिर वास्तु के विशेषज्ञों की सहायता से कन्नागी के लिए एक मन्दिर बनवाया था तथा इसकी पूजा के लिए आवश्यक व्यवस्था की थी। सन् 600 ई० में अप्पर नामक एक शैव-समाचार्य ने उस समय में प्रचलित मन्दिरों के विभिन्न प्रकार एवं वास्तु का वर्णन किया है।

दक्षिण भारत के मन्दिर और राजे—पल्लव, चोल, चालुक्य, पाण्डय, विजयनगर के शासक, मदुराई के नायक तथा चेरे परम्परा के वेणद शासक दक्षिण भारत के मन्दिर वास्तु के विकास से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे थे। पल्लव दक्षिण भारत में आधुनिक मन्दिर वास्तु के अग्रदूत माने जाते हैं। उनके प्रसिद्ध मन्दिर उनकी राजधानी काँचीपुरम में तथा उसके आस-पास बने हुए हैं। राजा महेन्द्र ने 7वीं शताब्दी में पत्थरों को काटकर गुफाओं के रूप में मन्दिरों का निर्माण कराया। उनके पुत्र दामल्ल ने महाबलिपुरम् के पत्थरों को रथ के रूप में परिवर्तित कराया। सन् 700 ई० में पल्लव राजा राजसिंह ने काँचीपुरम् के 'काशीनाथ मन्दिर' का निर्माण किया जिसमें हमें आधुनिक मन्दिर-वास्तु की योजना उपलब्ध होती है। पल्लवों के बाद चोल राजाओं का शासन हुआ। उन्होंने भारत को दो दिव्य भवन प्रदान किये। एक है चोल सम्राट राजा द्वारा निर्मित 'तंजौर का मन्दिर' तथा दूसरा है उनके पुत्र राजेन्द्र प्रथम द्वारा निर्मित 'गंगेकोण्ड चोलपुरम् का मन्दिर।' चोल राजाओं ने मन्दिर के विमान के निर्माण पर ध्यान केन्द्रित किया जब कि पाण्ड्य राजाओं ने वृहदकार स्तम्भ तथा ईंट व गारे से निर्मित अनेक मन्जिलों वाले गोपुरों पर विशेष ध्यान दिया। मदुराई का प्रसिद्ध मन्दिर पाण्ड्यों के वास्तु का सुन्दर उदाहरण है। पाण्ड्य राजाओं के बाद विजयनगर के राचे और नायक शासक आये जिन्होंने हजार स्तम्भों के मण्डपों, कल्याण मण्डप, बसन्त मण्डप, उंजल मण्डप, आदि के द्वारा मंदिरों को सौन्दर्यशाली बनाया।

कर्नाटक के बीजापुर जिले क ऐहोल, बादामी तथा पत्तदकल के मन्दिरों का समूह चोल पद्धति के वास्तु का सुन्दर उदाहरण है। परन्तु चालुक्य पद्धति अधिक लोकप्रिय रही।

दक्षिण भारत के मन्दिर एक अनोखी सामाजिक संस्था—दक्षिण भारत के मन्दिर पूजा-स्थल होने के अतिरिक्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के महत्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं। इनके द्वारा समाज को कई प्रकार के लाभ प्राप्त होते रहे हैं।

एक मन्दिर के निर्माण में सामान्यतः कई वर्ष लग जाते थे। इस प्रकार इसके द्वारा सैकड़ों राज-मजदूरों एवं इंजीनियरों को रोजगार मिलता था। मन्दिर में होने वाली नित्य पूजा-विधियों के फलस्वरूप भी अनेकों पुजारियों, गवैयों, नर्तकियों, उपदेशकों, कथावाचकों आदि को रोटी-रोजी मिलती थी। इन मंदिरों में संगीतिज्ञों का विशेष स्थान था। उदाहरण के लिए एक चोल राजा ने संगीत एवं नृत्य के विशेषज्ञों को देश के विभिन्न भागों में आमन्त्रित किया था तथा इनमें से 440 कलाकारों को तंजौर के अपने प्रसिद्ध मन्दिर में नौकर रखा था। सुचिन्द्रय के मन्दिर में हमें ऐसे खम्भे देखने को मिलते हैं जिनसे विभिन्न वाद्य यन्त्रों की ध्वनि उत्पन्न होती है। 'कुडिमिथामलाइ' के मंदिर में संगीत के विभिन्न स्वर पत्थर में उत्कीर्ण हैं। 'चिदाम्बरम्' के मन्दिर की मीनारों पर प्रसिद्ध भरतनाट्य शास्त्र में वर्णित भारतीय शास्त्रीय नृत्य कला की 108 मुद्राओं का प्रतिनिधित्व सर्वांगपूर्ण स्थापत्य के द्वारा किया गया है।

इन मन्दिरों में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया गया और उन्हें सुरक्षित रखा गया। (चिदाम्बरम्, काँचीपुरम्, श्रीरंगम तथा गुरुवापुर में क्रमशः पेरियपुराण, स्कंद पुराण, कंब रामायण तथा नारायणीय का विमोचन किया गया था। चिदाम्बरम् के गुप्त कक्ष में ताम्रपत्र पर लिखित थेवरम की स्तुतियाँ तीन सौ वर्षों तक सुरक्षित रखी गई थीं और राजा राज प्रथम की सहायता से नम्बी अन्दार नम्बी के द्वारा प्रकाश मे लाई गई थी। श्री अन्नायाचार्य के पद्य वाली चाँदी की चाँदरें तिरुपति के मन्दिर में सुरक्षित रखी गई थीं।

इन मन्दिरों के द्वारा अनेक शिक्षा-संस्थाएँ चलाई जाती थीं जिनमें सैकड़ों छात्र पढ़ते थे। त्रिवेन्द्रम के मन्दिर के विद्यालय में 1008 छात्र पढ़ा करते थे। सन् 866 ई० की ताँबे की एक चादर के द्वारा विदित होता है कि अभे राजवंश के कोक्करूनन्ददक्कन ने कन्याकुमारी जिले के पार्थिव पोखरपुरम में धार्मिक कार्य हेतु एक मन्दिर की प्रतिष्ठा की थी और उसमें कन्दलपुर सलादू के समान वेदाध्ययन हेतु महाविद्यालय की स्थापना की थी। ताँबे की चादर के लेख में विश्वविद्यालय के विधि-नियम छात्रों को भर्ती करने के नियम, उद्दण्ड छात्रों को दण्ड देने के नियम आदि का उल्लेख किया गया है। रन्नाछयम में प्राप्त एक लेख के अनुसार राजेन्द्र चोल प्रथम ने चिगलेदर जिले में निरुमुकुदल में वेदाध्ययन हेतु निर्मित एक महाविद्यालय के लिए एक प्राभूत पंजीकृत किया था। अध्ययन के विभिन्न पाठ्यक्रमों की सूची तथा अध्यापकों एवं छात्रों की संख्या इसमें दी हुई है।

रामायण एवं महाभारत की तरह के इतिहासों का वर्णन दक्षिण-भारत के मन्दिरों के विस्तीर्ण मण्डपों में दिया गया है। कई मन्दिरों में विद्वानों के द्वारा वेद-पाठ्य एवं काव्य पाठ की स्थायी व्यवस्था थी।

मन्दिर का उपयोग अनाथालय एवं निर्धनजन को भोजन कराने के भण्डारे आदि के रूप में भी किया जाता था। निरुबबदुथुराह में ,प्राप्त एक लेख में एक ऐसी

दातव्य संस्था की चर्चा है जहाँ भक्तों, संन्यासियों एवं अनाश्रितों को भोजन प्रदान किया जाता था। केरल में नेरुकन्नम स्थित अन्नपूर्णेश्वरी का मन्दिर प्रतिदिन यह निश्चय करने के उपरान्त बन्द कर दिया जाता था कि कोई व्यक्ति भोजन किए बिना रह तो नहीं गया था।

कुछ मन्दिरों में चिकित्सालय भी चालू थे। काँचीपुरम् के निकट युक्कुदल में प्राप्त एक लेख में वीर चौलान के निकट नाम से चलाए जाने वाले 15 बिस्तरों वाले एक शल्य चिकित्सालय का उल्लेख है। एक काम चिकित्सक, एक शल्य चिकित्सक, दो दाइयाँ तथा कुछ सेवक इस अस्पताल में नौकर थे।

ये मन्दिर ग्रामवासियों को कम ब्याज पर ऋण देकर सहकारी संस्था के रूप में भी कार्य करते थे। रामनद जिले में तिरुप्पर का लेख बताता है कि मण्डप में ग्राम समिति की बैठक हुआ करती थी जहाँ रुपये-पैसे का लेन-देन होता था। वे मन्दिर क्रीड़ा-स्थली का भी काम देते थे। केरल के अरण्पुल में कृष्ण-मन्दिर के सामने ओन्य् के त्यौहार पर नदी में नावों की दौड़ संचालित की जाती थी।

मन्दिर अभिलेखों के कार्यालय का भी काम करते थे। इन्हीं अभिलेखों के आधार पर हम अपने इतिहास को जान सके हैं। उथरपेरूर मन्दिर में 10 शताब्दी के चोल राजा परम्यक प्रथम के दो लेखों में गाँव के स्वायत्त शासन ग्राम पंचायत के लिए होने वाले चुनाव प्रत्याशियों एवं मतदाताओं की अपेक्षित योग्यताओं का वर्णन दिया गया है। नगर कोइलट के पास वरसेरी में महादेव के मन्दिर में प्राप्त एक शिलालेख में यह उल्लेख है कि मन्जिनद के खेतिहरों ने सन् 1677 में इस आशय का एक प्रस्ताव पारित किया था कि वे कतिपय कर नहीं देंगे।

इस सन्दर्भ में हम यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि उत्तर भारत के अनेक मन्दिरों में भी विद्याध्ययनवेद-पाठ्य काव्य-पाठ् भजन-कीर्तन, चिकित्सक, ग्रन्थ प्रकाशन आदि की व्यवस्था थी और आज भी है। इन मन्दिरों में उपलब्ध होने वाली हजारों पाण्डुलिपियों पर अनेक विद्यार्थी आज भी शोधकार्य करते हुए देखे जा सकते है। संस्कृति एवं शिक्षा के केन्द्र के रूप में सदावर्त वितरित करने वाली दातव्य-संस्था के रूप में तथा कला के केन्द्र के रूप में समाज की सेवा करने में उत्तर भारत के मन्दिरों का योगदान समान रूप से महत्वपूर्ण रहा है।

दक्षिणी भारत के मन्दिरों की विभिन्न शैलियाँ—दक्षिण भारत की वास्तु-शैली का विकास वहाँ के शासकों की छत्र-छाया में विशेष रूप से हुआ। फलत: विभिन्न शैलियों का नाककरण भी उन शासकों के नाम पर ही किया गया। यथा-पल्लव शैली, चील शैली, पाण्डय् शैली, चालुक्य शैली, विजयनगर शैली तथा मथुरा शैली।

(1) **पल्लव शैली के मन्दिर** (600-900 ई०)—दक्षिण-भारत में सातवाहन वंश के उत्तराधिकारी पल्लव राजे सातवीं सदी से शासन करते रहे। दक्षिण भारत में पल्लव शासकमध्य युग में संक्रमण की अवधि है। इसी युग में द्राविण स्थापत्थकला का प्रारम्भ हुआ। पल्लव स्थापत्यकला का केन्द्र काँची के समीप में स्थित था। इन पल्लव नरेशों ने शक्तिशाली बनकर दक्षिण-भारत में तीन शताब्दियों तक वास्तु-

शिल्प को प्रोत्साहन किया। उनकी सम्पूर्ण कला दो भागों में बाँटी जा सकती है। खुदाई (Excavated) तथा (Structural)। यह बता देना आवश्यक है कि पल्लव युग में पर्वत खोद कर रथ से आरम्भ होकर द्राविण शैली के मन्दिरों का विकास हुआ जिसमें अनेक राजवंशों ने हाथ बँटाया।

पल्लव-शैली के प्रारम्भिक मन्दिर अपने विभिन्न रूपों में उत्तरी आर्काट त्रिचनापल्ली के जिलों में पल्लरम, दलवानुर, किलम बलगाई, महेन्द्रवाड़ी मंगल-राजपुरम्, भैरवकोण, श्यामलम्, त्रिचनापल्ली, महाबिल्ल पुरम में विशेषतः प्राप्त होते हैं। इन मन्दिरों में अधिकाँश के निर्माता रहे, महेन्द्रवर्मन प्रथम (900-625 ई०)। इन मन्दिरों की शैली इनके निर्माता के नाम पर महेन्द्र शैली कही गई। इस शैली में वर्गाकार गर्भगृह में लिंग स्थापित किया जाता है जिसके सामने एक बरामदा या बरसाती होती है, जिसमें स्थूल वर्गाकार स्तम्भ होते हैं। मध्य का स्तम्भ अठपहला होता है। टोडे सामान्य होते हैं, कुछ टोडे पहलदार भी पाये गये हैं। गर्भगृह के सम्मुख गदाधारी द्वारपालों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण होती हैं। इस शैली के मन्दिरों में गोल आच्छन्न कारनीस, सादी दीवाल, बीच-बीच में वरमण्डयुक्त ताख होते हैं कभी-कभी बौद्ध-शैली की बाढ़ (Railing) भी प्राप्त होती है।

महेन्द्र शैली के आरम्भ में जिस स्थापत्य कला का विकास हुआ वह प्रस्तर चट्टानों को खोदकर तैयार हुई। खोदी हुई इमारतों की दो रीतियाँ हुई मण्डप एवं रथ। आगे चलकर दोनों रीतियाँ मिल गयीं। महाबल्लिपुरम् (मद्रास के 60 किलोमीटर दूर) में इन दोनों शैलियों का प्रचलन रहा। महाबल्लिपुरम् से दस खुदे मण्डप हैं जिनमें धर्मराज, महिषासुर, पंच पाँडव, बराह उल्लेखनीय हैं। ये मुख्य पर्वत में खुदे हैं प्रायः सभी मण्डप सामने 25 फीट चौड़े और 20 फीट ऊँचे हैं। कोठरियों सहित मण्डप 25 फीट गहरे हैं जिनमें स्तम्भ की ऊँचाई 9 फीट हैं, कोठरियाँ चौकोर एवं 10×5 वर्ग फीट क्षेत्रफल में बनी हैं। मण्डपों की यह विशेषता है कि सभी शिल्प कला के सुन्दर अलंकरण से युक्त हैं। मण्डपों के स्तम्भ प्रचुर मात्रा में खुदे हुए भी हैं।

रथों को बालू के भीतर किस उद्देश्य से खोदा गया यह अभी तक रहस्य बना हुआ है। सभी रथ अकेले बिना लक्ष्य के खड़े हैं। इनकी अन्दरुनी खुदाई समान है। रथ की ऐसी बनावट इमारतों को रहस्यमय कल्पना थी। इनके द्वारा मन्दिर-निर्माण के प्रति प्रोत्साहन बहुत ही सीमित रहा होगा।

ये रथ 42 फीट लम्बे, 35 फीट चौड़े तथा 40 फीट ऊँचे हैं। उनकी संख्या 7 है और वे सात पैगोडा के नाम से विख्यात हैं। पर्सी ब्राउन के कथनानुसार ये मण्डप और रथ क्रमशः बौद्ध मठ तथा चैत्य मण्डप के अनुकरण पर तैयार हुए थे। ये सात पैगोडा इस प्रकार हैं—

(1) द्रौपदी रथ

(2) अर्जुन रथ

(3) धर्मराज रथ

(4) नकुल-सहदेव रथ

(5) भीम रथ

(6) गणेश रथ और

(7) किनारे का मन्दिर

द्रौपदी रथ सबसे छोटा तथा अलंकरण रहित है। डॉ० उपाध्याय ने लिखा है—"महाबल्लिपुरम् के वर्गाकार तथा चौकोर प्रकार के रथ साथ-साथ विद्यमान हैं। जिनकी स्वतन्त्र कल्पना ज्ञात होती है। विद्वानों का मत है कि द्राविड मन्दिरों के दो प्रमुख तत्वों का मूल मामल्लपुरम् के रथों में निहित है।" सातवीं शताब्दी में काँचीपुरम् पल्लवों की राजधानी रही। यहाँ पहले शैव, तत्पश्चात् वैष्णव मत का प्रचार रहा। पल्लव नरेश राजसिंह द्वारा निर्मित शिव मन्दिर कैलाश रथ-विशेष प्रसिद्ध हैं। वैष्णव मन्दिरों में बैकुण्ठ पैरुमल विशेष प्रसिद्ध हैं। काँचीपुरम में पल्लव स्थापत्य के सभी अंग विद्यमान हैं यथा—

(1) पतला शिखर (विमान के ऊपर)

(2) खम्भेदार सभा मण्डप

(3) अंतराल और

(4) आयताकार आँगन का ऊँचा परकोटा।

विद्वानों से मतानुसार काँचीपुरम के कैलाश नाथ मन्दिर में द्राविड़ शैली का वास्तविक रूप मिलता है। स्तूपी सहित विमान, स्तम्भ-युक्त मण्डप, गोपुरम तथा परकोटे से घिरे आँगन का निर्माण, सभी आवश्यक तत्व विराजमान हैं।

चोल शैली के मन्दिर (900-1150 ई०)—दक्षिण भारत में पल्लव शासन के ह्रास के उपरान्त चोल वंश का उदय हुआ। नवीं शताब्दी के पश्चात् चोल राजे दो सौ वर्षों से अधिक तक शासन करते रहे। चोल शासन का विस्तार दक्षिण भारत के अतिरिक्त उत्तरी भारत की गंगा घाटी, दक्षिण में लंका द्वीप, तथा भारत के पूर्वी समुद्र तट तक हुआ। इतना ही नहीं, चोल नरेशों ने बर्मा एवं मलाया के भू-भाग और एशिया के दक्षिणी-पूर्वी द्वीप समूह को भी प्रभावित किया। इस साम्राज्य की छत्र-छाया में द्रविड़ शैली का प्रचुर प्रचार एवं विकास हुआ। उस शक्तिशाली साम्राज्य में अनेक भव्य मन्दिर एवं विशाल भवन तैयार किए गये। पल्लव राज्य की स्थापत्य कला का विकसित रूप हम चोल मन्दिरों में देख सकते हैं। इस राज्यकाल में न केवल विमान ही गगनचुम्बी बने, वरन् मकर-तोरण में भी परिवर्तन हुआ तथा स्तम्भ अधिक पतले और सुडौल बने। देव प्रकोष्ठों के तोरण इन शैली की विशिष्ट देन है। इस काल में गोपुर का निर्माण हुआ और उसने क्रमशः बृहद आकार धारण कर लिया। अन्ततः उसने मुख्य मन्दिर के शिखर को भी ढक लिया। परवर्ती द्रविड़ शैली की यह एक बहुत बड़ी विशिष्ठता है।

चोल शैली के मन्दिरों में राजा राजदेव चोल निर्मित तंजौर में वृद्धेश्वर का मन्दिर (1000 ई० के लगभग), राजेन्द्र चोल द्वारा निर्मित गंगई कोंडा चोलपुरम के मन्दिर (1025 ई०) विशिष्ट है। चोलवंश के प्रायः सभी शासक स्थापत्य कार्य में दिलचस्पी लेते रहे। शैव मतावलंबी होने के कारण उन्होंने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया जो द्रविड़ शैली के उत्तम नमूने समझे जाते थे। इनमें तंजौरकाँची, मदुराई, चिदम्बरम तथा द्वार सुरम के मन्दिरों के नाम उल्लेखनीय हैं।

साराँश रूप में कह सकते हैं कि चोलवन्शी राजाओं द्वारा निर्मित मन्दिर

तीन स्थानों पर स्थित है, जिनकी अधोमुखी बनावट, आकार एवं सुन्दरता दर्शनीय है—यथा—

(1) तंजौर का वृहदेश्वर मन्दिर (राजराजा द्वारा निर्मित)

(2) गंगैकोंड लोलपुरम का वीर राजेन्द्र प्रथम द्वारा निर्मित तथा द्वितीय वृहदेश्वर मन्दिर।

(3) दारासुरम—राजराजा द्वितीय द्वारा निर्मित ऐरावतेश्वर।

दक्षिण भारत में आरकाट जिले में स्थित चिदंम्रम में नटराज मन्दिर अपनी स्थापत्य कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें कई इमारतें हैं जिनका निर्वाण भिन्न-भिन्न युगों में हुआ है। इसका निर्माण काल 16 वीं शदी तक चलता रहा है। उसकी रचना में एक अद्भुत एवं तादाम्य तारतय है। यह मंदिर अपने सहस्रों स्तम्भों वाले सभा मण्डप (राजसभा) के लिए विख्यात है। एक प्रचलित कथा के अनुसार इस मन्दिर का निर्माण चोल राजा परन्तक ने आरम्भ कराया था। कहते हैं कि 10वीं सदी के चोल राजा परन्तक ने भगवान शिव का दिव्य-दर्शन किया जो पार्वती-सहित डमरू लेकर नृत्य कर रहे थे। राजा ने शीघ्र ही कनक-सभा बनाकर इसकी स्मृति में मन्दिर-निर्माण किया। मुख्य गर्भ गृह में महेश की प्रतिभा स्थापित है।

चालुक्य अथवा होयसल शैली में मन्दिर—आर्य शैली उत्तर भारत में तथा द्रविड़ दक्षिण भारत में विकसित एवं प्रयुक्त हुई। इन्हीं के साथ मध्य भाग यानी विध्य एवं कृष्णा नदी के भूभाग में एक अंतवर्ती शैली विकसित हुई। जिसे बेसर रीति नाम दिया गया। चालुक्य वंश से सम्बद्ध होकर यह चालुक्य शैली कही गई। कुछ विद्वानों की राय में 'हम इस शैली को उत्तर-दक्षिण शैली का समन्वित या मिश्रण रूप कहें तो अधिक अच्छा होगा।''

दसवीं सदी के बाद ही चालुक्यों के स्थान को द्वार समुद्र के होयसल नरेशों ने ग्रहण कर लिया। इन्होंने अपने अदम्य उत्साह तथा पुरुषार्थ के कार्यों द्वारा 11वीं से 13वीं शताब्दी के मध्य अनेक मंदिर निर्मित किये जिसका कोई पूर्व उदाहरण उपलब्ध नहीं होता हैं। इस अवधि में ही चालुक्य शैली परिपक्व हो गई। स्थापत्य कार्य का विकास एक निश्चित दिशा में हुआ। अतएव बेसर या चालुक्य शैली को होयसल शैली भी कहा गया इसका उत्क्रष्ट उदाहरण नृसिंह तृतीय (1254-1291 ई०) के प्रधान मंत्री द्वारा बनवाया हुआ सोमनाथपुर का केशव मंदिर है। इसमें होयसल शैली का विकसित रूप देखने को मिलता है। इस शैली की अपनी विशेषताएँ हैं। यथा—(i) अपेक्षाकृत कम ऊँचाई किन्तु अधिक विस्तार, (ii) तारा सदृश-रूपक, (iii) मुख्य मण्डप की तीन दशाओं में गर्भगृह, (iv) स्तभ का मौलिक स्वरूप (v) शिखर गोल किन्तु ऊपर की ओर क्रमशः पतला तथा दक्षिण के मंदिरों की भाँति मंजिलों के स्पष्ट रूप का अभाव। परिणामस्वरूप रूपरेखा सुण्डाकार हो गई है। इस शैली के अधिकांश मंदिर धारवाड़ मैसूर और दक्षिण के पठार में बनाये गये। होयसल मंदिरों में स्थापत्य की जगह मूर्तिकला पर अधिक बल दिया गया। इन मंदिरों से सम्बद्ध मूर्तियों की विशेषता यह है कि सभी मुलायम प्रस्तरों में खुदी हैं। दक्षिण भारत के मंदिरों की अपेक्षा इसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि विमानों

में आड़े खम्भों की श्रेणियाँ बनती गईं, किन्तु उनका आकार छोटा होता गया। होयसल शिल्पकारों ने स्तम्भों, छतों, द्वारों, दीवारों तथा भित्ति स्तम्भों को प्रचुरता से अलंकृत किया और इन सबसे सम्बद्ध मूर्तियों को उत्कीर्ण किया।

(4) **पाण्ड्य शैली के मंदिर (गोपुरम्)**—भारत के सुदूर दक्षिण में तमिल देश में दो सौ वर्षों (1150-1350 ई०) तक पांड्य-वंशीय नरेशों ने शासन किया। दक्षिण भारत के अन्य राजवंशों की भाँति पाड्य नरेशों ने भी मंदिर-निर्माण की ओर ध्यान दिया और एक नवीन शैली का विकास किया। पाण्ड्य नरेशों ने सम्भवतः नये मंदिरों का निर्माण अनावश्यक समझा और वे विमान को अधिक सौंदर्यमय करने की नीति के प्रति उदासीन हो गये। उन्होंने नवीन मंदिरों का निर्माण न करके प्राचीन मंदिरों के समीप क्षेत्र को स्थापत्य की दृष्टि से अधिक सुन्दर बनवाने का प्रयत्न किया। अतः विद्यमान मंदिरों की संख्या में वृद्धि न करके उन्होंने उनकी सुन्दरता एवं भव्यता में वृद्धि की। गर्भगृह को स्पर्श न करके उन्होंने चारों तरफ परकोटे तथा विशाल शिखर सहित द्वार या गोपुरम का निर्माण करवाया।

गोपुरम या द्वार शिखर ईंट-गारे के बने थे और अनेक खण्डों की पर्वत शृङ्गाकार इमारत थे। पाँड्य-युग में मंदिरों के बड़े आयताकार द्वार से ऊपर पंक्ति पर पंक्ति की बनावट चौड़ाई में क्रमशः कम होती गई। उसी ने गोपुरम् का वास्तविक रूप धारण किया, जो विशाल आकार की डेढ़ सौ फीट ऊँचाई तक उठते गये। इस शिखर के समस्त शीर्ष पर बेलनाकार छत विद्यमान है, जिसके किनारों पर त्रिभुजाकार या गोलाकार छज्जे बने हैं। गोपुरम् की सादी सतह पर पौराणिक देवी-देवताओं, असुरों तथा गंधर्वों आदि की सजीव मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। तेरहवीं सदी में गोपुरम् का समष्टि रूप पूर्ण विकसित दशा में दिखाई पड़ता है। श्रीरंगम्, चिदम्बरम्, कुम्भ कोणम् और तिरुवलमलइ में इस शैली के गोपुरम् अधिक प्राप्त होते हैं। चिदंवरम पाण्ड्य शैली का प्रतिरूप है। इसे सुन्दर पाण्ड्य नरेश ने बनवाया था। पाण्ड्य काल और उसके पश्चात् की वास्तुकला में विशालता द्वारा प्रभावन्विति की ओर विशेष ध्यान दिया गया। पाण्ड्य काल में मंदिर-निर्माण का कार्य नहीं हुआ। पहले के दक्षिण भारतीय मंदिरों को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया।

(5) **विजयनगर शैली के मंदिर**—खिलजी सुल्तान अलाउद्दीन ने सुदूर दक्षिण तक हिन्दू राजाओं को परास्त करके इस्लाम की विजय दुन्दुभि भी बजाई। इस प्रकार 14 वीं शताब्दी का आरम्भ काल एक प्रकार से अभारतीय संस्कृति का काल बन गया। जनता को विशेषकर दक्षिण भारत की जनता को एक ऐसे नेता की आवश्यकता थी, जो उनके अंधकारमय जीवन में आशा-किरण का संचार कर सके। विजयनगर के शासकों (1350-1460 ई०) ने दक्षिण भारत में आशा का संचार किया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप आर्य-सभ्यता का सूर्य पुनः भारत भूमि पर देदीप्यमान हो उठा। इन राजाओं ने प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान श्रेयस्कर समझा। धार्मिक क्षेत्र में पूजा-पाठ यज्ञ एवं कर्मकाण्ड का प्रधानत्व हो गया। पूजा-विधि की वृद्धि के कारण द्रविड़ स्थापत्य में अनेक परिवर्तन एवं परिवर्धन हुये। विशाल प्रांगण में मुख्य देवालय के साथ-साथ अन्य देवी देवताओं के लिए भी छोटे-

छोटे देवालय बनाए जाने लगे। उनमें सबसे प्रमुख देवता की देवी का मंदिर होता था।

इस काल में नवीन मंदिरों के निर्माण की अपेक्षा जीर्णोद्धार और उससे भी अधिक अलंकरण की विशेष प्रवृत्ति परिलक्षित होती है दक्षिण के मंदिरों में उपलब्ध अधिकांश गोपुर इसी काल में निर्मित हुये थे। इस काल की अपनी विशेषता है कि मण्डपों के ऊपर स्तूपिकाओं का निर्माण हुआ जिसके कारण मंदिर के सौन्दर्य में वृद्धि हुई। अधोमुखी समाज के जागरण के लिए शक्ति-संचार की आवश्यकता थी। अतएव विजयनगर काल से यानी 14वीं शताब्दी से दक्षिण भारत में शक्ति के मंदिर है। दूसरा मंदिर कन्याकुमारी का है। इस युग में मन्दिरों में विशेष अनुष्ठान के लिए मंडप तथा खम्भेदार कक्ष बनाये गये, जिनसे मन्दिर की विशालता में वृद्धि होती गई। मन्दिरों में देवी-देवता की प्रधानता होने के कारण वैवाहिक मण्डप (कल्याण मण्डप) बनना जरूरी हो गया। वह खुली स्तम्भाबलि सहित अलंकृत मण्डप होता था उसमें एक वेदिका पर समयानुकूल देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ रखी जाती थीं। विजयनगर शैली के मन्दिरों के स्तम्भों में अलंकरण प्रचुर मात्रा में गहराई के साथ किया गया। विजयनगर शैली के मन्दिरों का स्थापत्य तत्कालीन सामाजिक जागरण का द्योतक है, इस शैली के मन्दिरों में स्तम्भों की बनावट को प्रमुखता प्रदान **की गई।**

विजयनगर शैली के मन्दिर प्रायः समस्त दक्षिण भारत में पाए जाते हैं। विजयनगर की राजधानी हम्पी में सर्वोत्कृष्ट मन्दिर हैं। विजयनगर शैली के स्थापत्य के गौरव के उदाहरण यहीं दृष्टिगत होते हैं। यह एक उजाड़ नगरी है। इस विध्वंस नगरी के सर्वोत्तम स्मारक विट्ठल तथा हजाराराम मन्दिर हैं। विट्ठल मन्दिर में विष्णु, पंढरपुर के प्रसिद्ध देवता की प्रतिमा की स्थापना की गई। इस मन्दिर का निर्माण 1553 ई० में विजयनगर के सम्राट कृष्णदेव राय ने कराया था। इस काल में उल्लेखनीय विशाल स्तम्भयुक्त मण्डपों में कांचीपुरम् (एकाग्रनाथ), विजयनगर (विट्ठल स्वामी) ओवाडियर कोविल और वैरु (कल्याण मण्डप) दर्शनीय है। कृष्णदेवराय के विट्ठल स्वामी के मन्दिर के अतिरिक्त कड़लाई कल्लका का भव्य गणेश मन्दिर भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस मन्दिर को गर्भगृह की दीवारों और सपाट छत तथा मण्डप के असाधारण ऊँचे स्तम्भ अत्यन्त प्रभावशाली हैं। इस काल की वास्तु शैली की विशेषता की दृष्टि से स्तंभों का मूर्तिरूप में निर्माण तथा पीछे देखते हुए सिंहों अथवा (गज सिंहों) का रूपांकन है।

(6) **मदुरा शैली**—विजयनगर के पतन के अनन्तर विजयनगर के नायक-सामन्तों ने अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की तथा इन नायक लोगों ने अपने पूर्ववर्ती वास्तुकला के आदर्श को भी सुरक्षित रखा। इस काल तथा शैली के मंदिर पूर्णतः द्रविड़ आदर्श के मन्दिर हैं।

मदुराई का प्रसिद्ध मीनाक्षी मन्दिर इसी काल की कलाकृति है। इसका निर्माण विश्वनाथ नायक ने 1599 ई० में कराया। कतिपय विद्वानों के मतानुसार इसका निर्माण विजयनगर के शासकों ने कराया था और विश्वनाथ नायक ने केवल उसका जीर्णोद्धार किया था। परन्तु फिर भी इस मन्दिर का सहस्र-स्तम्भ-मण्डप नायक-वस्तु की विशेषता को घोषित करता है। इसके अतिरिक्त मन्दिर के सम्मुख

तिरुमल्ल नायक (1622–59 ई०) द्वारा निर्मित पादु-मण्डप या बसंत-सपाट छतों वाला तीन भागों में विभक्त बरामदा अपने काल की वास्तु का प्रतिनिधित्व करता है।

नायक शासन में श्रीरंगम् का रंगनाथ मंदिर द्राविड़ शैली का सबसे विशाल मन्दिर माना जाता है। यह स्थान कावेरी नदी की दो शाखाओं के मध्य टापू में स्थित है जो नायकों की दूसरी राजधानी तिरुचिपल्ली से चार किलोमीटर दूर है। इस मन्दिर में भगवान विष्णु की शेषशायी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। श्रीरंगम के मन्दिर में सात परकोटे हैं, जिनमें समकेन्द्रित सात अहाते हैं। इस मन्दिर में 21 गोपुरम बने हैं। अहातों में आवासीय भवन, हाट तथा पूजा के लिए विविध केस भी तैयार किये गये। इस प्रकार इस मन्दिर के अहातों में नगर बसाया गया। बाहरी परकोटे की दीवार 2880 फीट लम्बी तथा 2475 फीट चौड़ी है।

श्रीरंगम् से दो किलोमीटर दूर जंबूकेश्वर नामक मन्दिर है। यह छोटे आकार का मन्दिर है, जिसमें चार परकोटे हैं। पूर्वी दिशा में मुख्य गोपुरम। सामने 120 स्तम्भों वाला गलियारा है। चारों तरफ के स्तम्भों के बीच केन्द्रीय आंगन है, जहाँ शैवमत के चारों प्रतीक-लिंगम, नंदी द्वारा स्तम्भ तथा पवित्रपात्र के लिये स्थान सुरक्षित है।

द्रविड़ शैली का एक अन्य मंदिर है रामेश्वरम् का विख्यात मन्दिर जिसे नायक शासन-काल में बनाया गया था। इस मन्दिर में भी दो देवालय हैं जो एक के भीतर एक तीन दीवारों से घिरे हैं। मन्दिर का सबसे महत्वपूर्ण वैभवपूर्ण एवं भव्य खण्ड चार हजार फीट का स्तम्भों वाला गलियारा है, जो मन्दिर को घेरे हुये हैं।

चिदंवरम् के गोपुरम् की भित्तियों पर नाट्यशास्त्र के तांडव लक्षण प्रकरण के 108 करण (हाथ एवं पैर का विन्यास) एक दूसरे के ऊपर क्रमशः बनाए गए हैं।

केरल तथा दक्षिण कन्नड़ के मन्दिर—दक्षिण भारत के विभिन्न भू-भागों में निर्मित उक्त मन्दिरों के अतिरिक्त दक्षिण-पश्चिमी तटवर्ती केरल राज्य में भी विभिन्न शैलियों के मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें प्रस्तुर, काष्ठ तथा खपरैल की सामग्रियों का प्रयोग किया गया है। ये मन्दिर द्राविण मन्दिरों से कुछ भिन्न हैं। ये त्रिकोणाकार एवं छाजन वाले हैं। केरल की राजधानी त्रिवेन्द्रम में भगवान विष्णु का पद्मनाथ स्वामी नामक मन्दिर द्राविड़ शैली का प्रसिद्ध मन्दिर है। त्रिवेन्द्रम से 80 किलोमीटर दूर पश्चिमी तट पर सबसे निचले भाग शचीन्द्रम् में एक अत्यन्त सुन्दर मन्दिर है। यह 16 वीं सदी की द्राविड़ शैली का सुन्दर उदाहरण है। दक्षिण भारत में तीन प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिरों में यह एक प्रसिद्ध मन्दिर है।

आधुनिक काल तक दक्षिण भारत में अनेक अनुपम मन्दिरों का निर्माण होता रहा। दक्षिण भारत की वास्तुकला की महत्त्वपूर्ण विशेषता मूर्तिरूपों के रूपायन की है। पुराणों की कथाएँ एवं दवी-देवताओं के चित्र दीवारों पर बड़ी ही बारीकी एवं कारीगरी के साथ अंकित किये गये हैं।

5

सिन्धु घाटी की मूर्ति-कला
(Sculpture of Indus Valley)

प्रश्न (1) सिन्धु घाटी की मूर्ति-कला पर संक्षेप में प्रकाश डालिए ।

सिन्धु घाटी की सभ्यता भारत की सबसे प्राचीन सभ्यता है । मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनसे इस काल की मूर्ति-कला पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि सिन्धु युग में स्थापत्य कला के जिस रूप के दर्शन होते हैं उसकी प्रतिच्छाया मूर्तिकला पर भी दिखाई पड़ती है ।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जिन मूर्तियों की प्राप्ति हुई है उन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) धार्मिक रूप में उपास्य मूर्तियाँ,

(2) सामान्य आकृतियों की मूर्तियाँ ।

मूर्तियों के सामान्य निरीक्षण से यह जानकारी प्राप्त होती है कि इनके निर्माण में चार प्रकार की शैलियाँ प्रचलित रही होंगी—

(1) प्रथम कोटि की मूर्तियाँ वे मूर्तियाँ हैं जिन्हें धातुओं को तपाकर उन्हें साँचे में डालकर बनाया गया है ।

(2) द्वितीय कोटि की मूर्तियाँ वे हैं जिन्हें ठप्पा लगाकर निर्मित किया गया ।

(3) तृतीय कोटि की मूर्तियाँ माटी की मूर्तियाँ हैं । इन मूर्तियों को मिट्टी से बनाकर उन्हें आग पर तपाया गया है ।

(4) चतुर्थ कोटि की मूर्तियाँ पत्थर की मूर्तियाँ हैं । इन मूर्तियों को छेनी द्वारा पत्थरों को काटकर बनाया गया है ।

सिन्धु युग की मूर्तियों में भावाभिव्यंजना और हाव-भाव का प्रदर्शन सुन्दर ढंग से हुआ है । शरीर के विभिन्न अंगों में संतुलन के दर्शन होते हैं । मोहनजोदड़ो से प्राप्त नर्तकियों की मूर्तियों में अतीव सुन्दरता के दर्शन होते हैं । खड़िया मिट्टी से बनी हुयी ध्यानमग्न योगी की मूर्ति में अंग-विन्यास, अलंकरण एवं चिंतन में यथार्थ रूप के दर्शन होते हैं । हड़प्पा से भी कुछ अत्यन्त सजीव मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं । इनमें से प्राप्त दो मूर्तियाँ इतनी उत्कृष्ट कोटि की हैं कि इनके सम्बन्ध में मार्शल महोदय ने लिखा है कि ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी का कोई भी यूनानी कलाकार इन मूर्तियों को अपने द्वारा निर्मित किया गया कहने में गौरव का अनुभव करेगा ।

सिन्धु सभ्यता के मूर्तिकारों को विभिन्न धातुओं के प्रयोग का पूरा-पूरा ज्ञान था । ये कलाकार सोने-चाँदी, काँसा, ताँबा, पीतल और शीशा के साथ ही हड्डियों,

घोंघों, सीपों और हाथी दाँत से भी परिचित थे। उनका धातु कला का ज्ञान इतना विकसित था कि वे विभिन्न धातुओं के मिश्रण के गुणों को भी जानते थे। विभिन्न धातुओं को गलाने, ढालने, मोड़ने और उन्हें चिकना करने तथा उनमें चमक पैदा करने की कला भी उन्हें भलीभाँति आती थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से पीतल की बनी हुई एक अत्यन्त सुन्दर बकरी प्राप्त हुई है। बत्तख का रूप भी देखते ही बनता है। अनेक नर्तकियों की नृत्य मुद्रा में भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ताँबे से बनी हुई कूबड़दार बैल भी अत्यन्त सजीव है। शीशे की तश्तरी भी प्राप्त हुई है। सोने-चाँदी, हाथी दाँत आदि के बने हुये आभूषण उस युग की कला के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

सिन्धु सभ्यता के कलाकार पाषाण मूर्तिकला से भी भलीभाँति परिचय थे। वे पत्थरों की उपयोगिता, आकार-प्रकार विविधता और रंगों से भी पूर्णरूप से परिचित थे। पत्थरों को काटने-छाँटने, तराशने में वे बहुत माहिर थे। पत्थरों को तराश कर भवनों का अंकन करने में भी वे पूर्णतया सिद्धहस्त थे। सिन्धु युग के कलाकारों को किसी ऐसे मिश्रित मसाले का भी ज्ञान था जो पत्थरों को जोड़ देता था।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से पर्याप्त मात्रा में सोने-चाँदी, हाथी दाँत और घोंघों द्वारा निर्मित गुरियाओं की प्राप्ति से यह जानकारी प्राप्त होती है कि यह कलाकार गुरिया निर्माण-कला में भी अत्यन्त प्रवीण थे। गुरियाओं के ऊपर विभिन्न रंगों की पालिश और पच्चीकारी की गयी है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में की गयी खुदाई में नर्तकियों की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। साथ ही पशु-पक्षियों की भी मूर्तियाँ मिली हैं ये सभी मूर्तियाँ इस बात की परिचायक हैं कि उस युग में मूर्ति-निर्माण-कला अत्यन्त सुन्दर रूप में व्याप्त थी।

6

मौर्ययुगीन मूर्तिकला

(Sculpture in Mauryan Era)

प्रश्न (1) मौर्य-युगीन मूर्ति-कला के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ? क्या इस कला पर विदेशी प्रभाव परिलक्षित होता है।

अथवा

मौर्य युग की विभिन्न मूर्तियों पर प्रकाश डालिए और मूर्ति-कला की विशेषताओं की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

मौर्य युग के पूर्व मूर्तिकला का पर्याप्त विकास नहीं हुआ था। मूर्ति-कला

का सबसे प्राचीन रूप सिन्धु घाटी की मूर्तियों में दिखलाई पड़ता है। इस मूर्तिकला में स्थूलता के दर्शन होते हैं।

मौर्य युग में कला अपनी स्थूलता को छोड़ कर सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो जाती है। मौर्य-युग की कला-सूक्ष्मता सचमुच विस्मयकारी है। अशोक काल की मूर्तियाँ संसार में श्रेष्ठतम मानी जाती हैं। अशोक के स्तम्भों के शीर्ष पशु-मण्डित हैं। सिंह, गज, वृषभ, अश्व आदि उन पर बने हैं। सारनाथ के स्तम्भ शीर्ष के सिंह भारत की मूर्तिकला में अनुपम एवं अद्वितीय हैं। पत्थर घर्षण और लेप को दर्पणवत चिकना बना देना अशोक कालीन-कला की विशेषता है।[1] पालिश अशोक काल की कला की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। वह पालिश तो मानों परवर्ती मूर्तिकला से सर्वदा के लिए विदा ही हो गई। किसी ने ठीक ही कहा है कि अशोककालीन मूर्तियों की यथार्थता, शालीनता, शाँत मुद्रा अशोक की राज-नीति के अनुरूप हैं। मौर्यकाल में निर्मित प्राप्त मूर्तियों के द्वारा एक बात स्पष्ट हो जाती है कि मौर्य युग में मनुष्याकार मूर्तियों की रचना होने लगी थी। साथ ही साथ यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि मौर्य काल में बौद्ध धर्म सम्बन्धी मूर्तियों का तथा जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों का भी निर्माण होने लगा था।

उपलब्ध मूर्तियाँ—मौर्य काल में निर्मित उपलब्ध मूर्तियों में विशेष रूप से उल्लेखनीय मूर्तियाँ निम्नलिखित प्रकार हैं।

मौर्यकाल की प्राप्त मूर्तियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मूर्ति वह है जो परखम ग्राम (आगरा-मथुरा के मध्य) में मिली है। इस मूर्ति का मुख तथा भुजाएँ भग्न हैं। यह मूर्ति सात फीट ऊँची है। यह मूर्ति बलुए पत्थर की बनी है। इसके ऊपर वज्रलेप है। इस मूर्ति के वस्त्र मौर्यकालीन वेशभूषा के परिचायक हैं। यह मूर्ति मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है।

इस काल की एक अन्य मूर्ति बेसनगर में मिली है। इसकी भी भुजाएँ एवं मुख भग्न है। यह स्त्री मूर्ति है और इसकी ऊँचाई 6 फीट 7 इंच है। पटना और दीदारगंज में दो अन्य मूर्तियाँ मिली हैं जो परखम की मूर्ति से बहुत साम्य रखती हैं। ये मूर्तियाँ आकार में विशाल हैं। इनके ऊपर जो चिह्न है उससे स्पष्ट हो जाता है किवे मौर्यकालीन हैं। परन्तु इन मूर्तियों के पैर लम्बे और भारी कम हैं। इनकी बेडौलता को देखकर इनके मौर्यकालीन होने में संदेह होने लगता है। इनके पैरों की उंगलियाँ भी अस्वाभाविक हैं। इन्हीं सब कारणों से यह विवादास्पद हो गया है कि ये मूर्तियाँ मौर्यकालीन हैं या नहीं। वैसे अधिकांश विद्वानों की राय में ये मूर्तियाँ मौर्यकालीन ही हैं, क्योंकि इनकी चमकदार पालिश इन्हें मौर्यकालीन घोषित करती हैं। राखाल दास बनर्जी तथा जायसवाल इन्हें भारतीय मूर्तिकला की प्रथम रचना तथा मौर्यकालीन कृति मानते हैं।

पटना में कुछ यक्ष मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है

1. अशोक के समय की एक पाषाण वेष्टनी सारनाथ से प्राप्त हुई है। वह सम्पूर्ण वेष्टनी एक ही पत्थर से बनी है, उसमें कहीं भी किसी प्रकार का जोड़ नहीं है। यह वेष्टनी अत्यन्त सुन्दर, एकदम चिकनी तथा भव्य है। उल्लेखनीय मूर्तियाँ निम्नलिखित प्रकार हैं।

कि भारत में यक्ष-यक्षिणी पूजा बुद्ध पूर्व युग से चली आ रही थी। उक्त यक्ष मूर्तियों की बनावट यक्षों की अमानवीय देवी शक्ति और उनके गौरव को प्रकट करती है।

पटना के दीदारगंज से प्राप्त नारी मूर्ति कालिदास के नारी सौन्दर्य के अनुरूप है—कलाई में चूड़ियाँ, गले में मुक्ताहार, अत्यन्त उन्नत स्तन, क्षीण कटि तथा भारी नितम्ब। मौर्यकालीन विशिष्ट चमक इसके सौन्दर्य और रूप में चार चाँद लगा देती है। मूर्ति-विज्ञान के पण्डितों के मतानुसार यह प्रस्तर प्रतिमा मौर्य कला की ही नहीं, भारतीय कला की अनुपम निधि है।[1] इस मूर्ति की चिकनाहट और गतिशीलता इसे प्राणमय-सजीव बना देती है।

मौर्य काल वस्तुतः धार्मिक सहिष्णुता का काल था। अशोक की धर्म-विषयक सहिष्णुता तो विश्व-विश्रुत है। इस काल में केवल बौद्ध धर्म सम्बन्धी मूर्तियों के अतिरिक्त जैन धर्म सम्बन्धी मूर्तियों का भी निर्माण हुआ। पटना से एक जैन तीर्थंकर की नग्न मूर्ति मिली है, जिसका हाथ नहीं है और पैर भी जाँघ के पास ध्वस्त है। मूर्ति पर मौर्यकालीन पालिश की चमक है। इनके अतिरिक्त भी कुम्हरार, पटना कमुरनीगंज, तक्षशिला, भीटा और काशी में अनेक मौर्यकालीन मूर्तियाँ मिली हैं। इन मूर्तियों की विशिष्ट चमक इनके मौर्यकालीन होने का प्रमाण है।

मौर्यकालीन अनेक मृण मूर्तियाँ—मथुरा, अहिछत्रा (रामनगर बरेली), कौशाम्बी, मसीन (गाजीपुर) पटना आदि, अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं। कला की दृष्टि से पटना (बिहार) में प्राप्त मृण मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मूर्तियों के साथ अनेक खिलौने भी उपलब्ध हुए हैं। बुलन्दीबाग, कुम्हरार, बसाढ़ और बक्सर में विशेष रूप से खिलौने प्राप्त हुए हैं। बुलन्दी बाग में मिट्टी के एक हँसते हुए बालक का सिर मिला है। उसकी भोली-भाली हँसी मनमोहक है। इसी प्रकार एक नारी मूर्ति बहुत ही आकर्षक है। उसके सिर का विचित्र टोप झालरदार घाघरा, क्षीभ कटि जो कसकर बंधी हुई है, दर्शनीय है। मौर्यकालीन मृण मूर्तियों के सम्बन्ध में श्री कृष्णदत्त बाजपेयी का यह कथन द्रष्टव्य है—"मौर्यकालीन मृणमूर्तियाँ बहुत कम स्थानों से मिली हैं तथाकथित मातृदेवी की कुछ मूर्तियों को छोड़कर शेष का सम्बन्ध साधारण जन-जीवन से है।.........पटना से मौर्यकाल की कुछ बड़ी मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें स्त्री-प्रतिमाओं की आकृति एवं वेश-भूषा बहुत आकर्षण है।"

पटना के निकट बक्सर नामक स्थान से प्राप्त कुछ असाधारण शैली की मृप मूर्तियों में भारी शिरोभूषा है। यह शिरोभूषा मिट्टी की बड़ी पट्टियों से बनी है। इन पट्टियों पर अलंकरण है। कई विद्वानों ने बक्सर की मूर्तियों को सहस्र वर्ष प्राचीन कल्पित किया है। परन्तु इनका काल ई० पू० 200 से 100 ई० के बीच का माना जाता है। पेशावर जिले (पाकिस्तान) के समीपवर्ती कुछ स्थानों से अद्वितीय शैली की कई मृणमूर्तियाँ मिली हैं। इनके विस्तारित हाथ ठूंठ (स्टंट) जैसे हैं। कमर के नीचे का भाग भी ठूंठ की तरह हैं। इन मूर्तियों की आँख तथा मुँह मिट्टी की पट्टियों द्वारा

1. (क) "यह मौर्य काल की सर्वोत्तम कृति है।" राखालदास बनर्जी,
(ख) "यह मूर्ति अशोककालीन मूर्तिकला का दर्शनीय अद्वितीय नमूना है।" रायकृष्णदास।

ही बनाई गई हैं। छारसड्डा की खुदाई के बाद यह तय हो गया है कि ये मूर्तियाँ ई० पू० तीसरी शती में बनी थीं।

मौर्यकालीन मृणमूर्तियों के बारे में एक बात समझ लेनी चाहिए। उन्हें कुम्हारों ने हाथ की चुटकी से बनाया है। मौर्य काल में साँचे प्रयुक्त न थे।

मौर्यकालीन कला की प्रमुख विशेषताएँ—मौर्यकालीन कला की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, यथा—

(1) मौर्य-कालीन कला में भाव-प्रकाश की अद्भुत क्षमता है।

(2) पाषाण के स्तम्भ शीर्षों पर कलापूर्ण पशु मूर्तियाँ एवं उल्टा कमल अत्यन्त मनमोहक है।

(3) पाषाण स्तम्भ एक ही प्रस्तर से निर्मित है। स्तम्भों के शीर्षों में अनुपात, सौन्दर्य एवं सूक्ष्मता का विशेष ध्यान रखा गया है।

(4) मौर्ययुगीन पालिश अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है। उसकी चमक इतने वर्षों बाद आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

(5) मौर्यकालीन कला में भारतीय एवं विदेशी (यूनानी-ईरानी) प्रभावों का अद्भुत सामंजस्य है।

(6) मौर्ययुगीन मूर्तियाँ सर्वथा अनुपम हैं, वे भारतीय कला की संग्रहणीय निधि हैं।

मौर्यगीन मूर्तिकला पर विदेशी प्रभाव—भारतीय कला के इतिहास में मौर्य-युग क्रान्तिकारी विशेषताओं का युग है। इन विशेषताओं के पीछे कुछ विद्वान विदेशी प्रभाव मानते हैं। डॉ० विन्सेण्ट स्मिथ के मतानुसार "वास्तुकला और मूर्तिकला में अचानक प्रस्तर का प्रयोग बहुत अंशों में विदेशी, सम्भवतः पर्सिया का परिणाम है।[1] पर्सी ब्राउन ने भी इसी आशय का मत व्यक्त किया है कि "अपने आरम्भिक काल में ही मौर्य राज्य अपनी पश्चिमी सीमा के बाहर अपने से अधिक विकसित एवं उन्नत सभ्यता की ओर दृष्टिपात कर रहा था और स्थापत्य के लिए प्रेरणा ग्रहण कर रहा था।"[2] वेन्जरमिन रोलैण्ड और नीहार रंजन राय ने भी इसी प्रकार की बात कही है। भगवत शरण उपाध्याय का मत अधिक स्पष्ट एवं मुखर है, यथा—ईरानी मिस्त्री संस्कृति का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर है, लेखन कला पर भी है किन्तु इससे भी अधिक महत्व का ईरानी प्रभाव भारतीय मूर्तिकला पर पड़ा।"[3] रामप्रसाद चंदा ने पाषाण के प्रयोग को ही विदेशी प्रभाव बताया है—पारस के पाषाण भवनों की प्रतिकृति में ही अशोक ने वास्तुकला में प्रस्तर का प्रयोग किया और इस कार्य में उसने विदेशी कलाकारों से सहायता ली।"[4]

विद्वानों ने उक्त फारसी प्रभाव के आधारों पर भी विचार किया है और कई ठोस आधार भी बताए हैं। उनमें तीन आधार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, यथा—(1) मौर्य

1. फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन—पृ. 16
2. इण्डियन आर्कीटेक्चर—पृ. 6
3. भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका पृ. 187
4. मेमोरीज आप आर्कोलोजीकल सर्वे आफ इण्डिया नं. 30, पृ, 8

भवनों का निर्माण डेरियस के पेरीमहल और सूसा के महलों की नकल पर हुआ है। फारस के बड़े-बड़े महलों के समान अशोक के भवनों की छतें भी पाषाणा-स्तम्भों पर आधारित हैं। (2) चमकदार पालिश फारस के कलाकारों की देन है तथा (3) अशोक के अभिलेखों की शैली सम्राट दरायुश के अभिलेखों की शैली के समान है, तथा उसके स्तम्भ के ऊपर घण्टे की आकृति का शीर्ष भी विदेशी है। डॉ० विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह ने इस प्रभाव का खुलासा कर दिया है। उन्होंने पाषाण का प्रयोग, विशाल भवनों का निर्माण तथा स्तम्भों का निर्माण, स्तम्भ शीर्ष पर पशु मूर्ति के निर्माण पर ईरानी प्रभाव माना है। ताड़ वृक्ष, मनके, ऐंठी रस्सी, पौधे और पत्तियों पर यूनानी प्रभाव बताया है। डॉ० विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह ने तो यहाँ तक लिखा है कि "उसने (अशोक ने) वहाँ (यूनान) के कुछ कलाकारों को अवश्य ही बुलाया होगा और उनके द्वारा भारतीय शिल्पकला के कलाकार प्रशिक्षित किए गए होंगे। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद इस कला का अचानक अन्त हो जाना भी युक्तिसंगत हैं क्योंकि यह कला भारतीय परम्परा पर नहीं वरन् विदेशी अनुकरण पर राजकीय प्रेरणा और निर्देश पर आधारित थी।"[1]

कतिपय भारतीय विद्वानों ने मौर्य कला और ईरानी एवं यूनानी कला की असमानताओं की चर्चा करते हुए उक्त मत का खण्डन किया है, परन्तु अधिकांश विद्वानों ने मौर्य कला पर ईरानी एवं यूनानी प्रभाव को स्वीकार किया है। इस विदेशी प्रभाव के संदर्भ में भी विद्वानों ने पर्याप्त ऊहा-पोह की है। एक-एक वस्तु को लेकर पक्ष-विपक्ष में तर्क प्रस्तुत किए हैं।[2]

समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि "मौर्य कला पर यूनानी-ईरानी प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है किन्तु यह प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर संस्कृतियों के सम्पर्क के माध्यम से है तथा सीधे ही यूनानी प्रभाव न होकर ईरानी या असीरिया के माध्यम से अधिक हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक बात और है कि ईरान का पड़ोसी भारत ईरानी कला से पूर्णतः परिचित था, किन्तु उसका परिचय असीरिया और सुमेर की प्राचीनतम कला परम्परा से भी अवश्य ही था। अतः यह कहना अधिक तर्कसंगत है कि पश्चिमी एशिया कीं संस्कृतियों का भारतीय कला पर प्रभाव पूर्व-मौर्य युगीन है, और वह विचारों के आदान-प्रदान का परिणाम है।"

●

1. देखें भारतीय कला को बिहार की देन।
2. देखें—(1) दि मिथ्स एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलजेशन एच. जिम्मर।
(2) भारतीय कला को विहार की देन—डॉ० विन्देश्वरी प्रसाद सिंह।

शुंग-युगीन मूर्ति कला

(Sculpture in Shung Era)

प्रश्न—शुंग युग की मूर्ति कला पर संक्षेप में प्रकाश डालिए ।

शुंग युग की कला वास्तव में प्रथम राष्ट्रीय कला है। इस काल की कला में प्रतीकों की प्रधानता है। इस काल में प्रत्येक तत्व के प्रतीक निर्धारित एवं निर्मित कर दिए गए थे।[1] इस काल की कला में अशोक-कालीन प्राकृतिक सौन्दर्य का परित्याग कर दिया गया, अर्थात् कला में सौन्दर्य अवयव का न रहकर भावगत हो गया। इस युग में कला का सौन्दर्य टंकन से मुक्त हो गया। एक विद्वान के शब्दों में "सर्वतोभद्र मूर्तियों की अपेक्षा मूर्तियाँ उभार कर छन्द परम्परा में, कला-प्रसंग में अर्द्धचित्र शैली में रूपांतरित होने लगीं, वैयक्तिकता सामाजिकता में रूपान्तरित हो गई। जातक आदि की कलाएँ पत्थरों पर अंकित की गईं। इस काल की मूर्तियों की विशेषता यह रही कि वे आकार में ठिगनी तथा सामने से चिपटी बनने लगीं।

शुंग कला के प्रमुख केन्द्र थे श्रावस्ती, भीटा, कौशाम्बी, मथुरा, बोधगया, पाटलिपुत्र, साँची एवं भरहुत। इन सभी स्थानों पर तत्कालीन मूर्तियाँ मिली हैं। यत्र-तत्र स्तम्भों पर जातक-कलाएँ उत्कीर्ण मिली हैं। मथुरा के एक स्तम्भ पर अंकित पक्षी का चित्र अनुपम है। हल मूसलधारी बलराम की प्रथम मूर्ति भी इसी युग की है। वह मथुरा में उपलब्ध हुई थी और आजकल लखनऊ के संग्रहालय में है।

शुंग काल की मूर्तियाँ भारत के मूर्ति कला इतिहास की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, यथा—मूर्तिकला के क्षेत्र में शुंग काल में प्रतीकों की वृद्धि हुई, भरहुत और साँची के स्तूपों की वेष्टनी (Railing) शुंग काल (150 ई० पू० से 73 ई० पू०) में ही बनी। अपनी नई रुचिरता, नई गतिमानता, नई आकृति-वृद्धि के साथ जो सम्पदा अशोक के बाद मूर्ति क्षेत्र में शुंग काल में रूपायित हुई, वह सदियों अप्रतिम रही। शुंक काल के कलावतों ने अशोक के भरहुत और साँची के स्तूपों के चतुर्दिक वेष्टनी दौड़ाई और तोरण द्वार खड़े किए। इस वेष्ठनी और तोरण पर जो मानव भाव सत्ता का स्रोत फूट पड़ा है वह सर्वथा अलौकिक है। उभरी आकृतियाँ सजीव हो उठी हैं, गज, अश्क, कपि, मृग, जैसे मानव की भाषा हैं, उसके भाव-सागर में डूबते-उतराते हैं। घुल्ले के भीतर प्रफुल्ल मानव मस्तक प्रसन्न अंकित है। सांची के तोरण पर उसके द्वार स्तम्भों पर भी, जीवन लहरा उठा है। स्तूप की सचेत गतिमान गजों द्वारा

1. इस काल तक बौद्धों में हीनयान की प्रधानता थी, परिणामतः बुद्ध की मूर्ति का निर्माण नहीं हुआ था तथागत की प्रतीति प्रतीकों द्वारा की जाती थी और उनके बोधक प्रतीक में बोधिवृक्ष, बुद्ध की पादुका, छत्र, स्तूप आदि।

मानवीय पूजा, उनकी आकृति आकुल परिवार, अशोक के जुलूस की जन-संकुलता और अनेक अन्य दृश्य अपने वेग और अंकन की मानुष तीव्रता से दर्शक को जड़ बना देते हैं।"[1] शुंग काल की मृण्मयी मूर्तियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं—इस कला के लिए शुंग काल अपूर्व है। कौशाम्बी में शुंग काल में निर्मित असंख्य मृण्मयी मूर्तियाँ मिली हैं। खड़ी नारी मूर्ति ऐतिहासिक कथाओं के चित्रों के अनेक भग्नावशेष एवं ठीकरे मिले हैं। इस काल के मृण्मय चित्रों में फूलों का प्रचुर पाया जाता है। मूर्तियों के टीकरे पीछे से सपाट होते हैं तथा मूर्ति को दीवार पर टाँगने, के लिए इनके पीछे एक छेद होता है। दीदारगंज में 2 चंवरधारिणी नारी की एक मूर्ति की पालिश देखकर ऐसा लगता है कि मौर्य-युगीन पालिश शुंग काल के आरम्भ तक छिटके-फुटके तौर पर प्रयुक्त होती रही थी।

शुंग काल की मृण्मयी मूर्तियों को टेराकोटा कहा गया है। ये खिलौने मनुष्य और पशुओं की आकृतियों के हैं। ये टेराकोटा भीटा, कुल्लू के गुण्डला, बाग,-वसाढ़ (वैशाली) तथा पटना में विशेष रूप से प्राप्त हुए हैं। पटना में एक गोलाकार मिट्टी के ठीकरे पर सूर्य मूर्ति उत्कीर्ण मिली है। यहीं पर एक फणयुक्त नाग देवी का सिर मिला है। एक दम्पत्ति की मिथुन मूर्ति भी प्राप्त हुई है जो विशेष सुन्दर एवं आकर्षक है। इसमें पुरुष का एक हाथ स्त्री के आलिंगन को आतुर दिखाया गया है। नारी के वक्षस्थल उभरे हुए कमर क्षीण और शरीर में लचक है।

शुंग काल में साँचे से स्त्रियों की अनेक विषयक ढारें निकाली गई हैं। इनमें कुछ को देवी माना जा सकता है,' और कुछ जीवित प्रतिलिपियाँ। पश्चिम बंगाल स्थित तामलुक नामक स्थान से नारी की एक दुर्लभ मृण्मूर्ति मिली है। यह मूर्ति शुंग काल की सर्वोत्तम कृति है। यह आक्सफोर्ड संग्रहालय में सुरक्षित है। कौशाम्बी से कुछ ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनके सिर पर ताड़ के पत्ते खोंसे हुए हैं। यहाँ से देवी लक्ष्मी की कई मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। संकिसा से गजलक्ष्मी का एक मृण्वक्ष प्राप्त हुआ है। इन मृण्मूर्तियों के सम्बन्ध में डॉ० सतीश चन्द्र काला ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय मृत्तिका कला' के अन्तर्गत इस मूर्तियों के बारे में विस्तार से लिखा है। इस सन्दर्भ में इनका यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है—"शुंग काल में मृण्मूर्ति-कला का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ। शुंग कालीन मृण्कला की सबसे अनुपम देन वे मृणाट्क हैं, जो विशेषकर भारत के उत्तर तथा पूर्वी क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। इन पर अंकित दृश्यों से तत्कालीन संस्कृति तथा समाज के विभिन्न अंगों पर प्रकाश पड़ता है। पाषाण के माध्यम, जिसको कि सदैव राजाश्रय प्राप्त रहा, ये भी मृण्मट्टकों के सादृश्य इतने विविध विषय नहीं दीख पड़ते।[2] ऐसे उदाहरणों से पता चलता है कि मध्य पूर्व से भारत तक किसी समय मछली से सम्बन्धित मातृदेवी की पूजा प्रचलित थी। एक मृण्मट्टक पर एक अन्य देवी अंकित है। इसके दाएँ हाथ पर बिच्छू चल

1. भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका—भगवतशरण उपाध्याय, पृ० 83-84।

2. संगीत, नृत्य, आयानक गोष्ठी, कुश्ती, दम्पत्ति, भोग-विलास शुंगल तथा लोक-संस्कृति के देवी-देवताओं का चित्रण मृण्मट्टकों पर दीख पड़ता है।" पृष्ठ सं० 17 भारतीय मृत्तिका कला,—डॉ० सतीश चन्द्र काला।

रहा है। मेखोपोटेमिया की देवी अस्टर का सम्बन्ध भी बिच्छू से था।[1] शुंग काल में हिन्दू-देवताओं का मृण्कला के माध्यम में बहुत कम चित्रण हुआ है। शुंग काल में अनेक प्रकार की कलात्मक गाड़ियाँ बनाई गईं। कुछ गाड़ियाँ तो किन्नरों की आकृति में हैं।[2]

"शुंग कालीन मिट्टी के टिकड़ों में सबसे सुन्दर वे हैं जिन पर मिथुन या दम्पत्ति मूर्तियाँ हैं। कौशाम्बी में शुंगकालीन मृण्मूर्तियों का जो कला सौष्ठव और दृश्यों की बहुलता पाई जाती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। उत्तर शुंग और आरम्भिक कुषाण काल की मूर्तियों का एक वर्ग ऐसा है जिस पर पहलव प्रभाव है जो बसाढ़; राजघाट, कोसल, मथुरा और अहिच्छत्रा से मिला है। इसी वर्ग की बसाढ़, कोसल और मथुरा से मिलीं कुछ मूर्तियों सपक्ष हैं"[3] शुंग काल की मृण्मूर्तियों में पकाई हुई काली मिट्टी से बने नमूने विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अहिच्छत्रा से प्राप्त काली मिट्टी का बना बैल का नमूना बहुत ही आकर्षक है।

सारांश यह है कि मृत्तिका कला की दृष्टि से शुंग काल स्वर्ण काल कहा जा सकता है।

8

गान्धार और मथुरा कला
(Gandhara and Mathura Art)

प्रश्न (1) मूर्तिकला की गान्धार और मथुरा शैलियों पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

मूर्ति-कला की गान्धार शैली मुख्य रूप से बौद्ध धर्म से सम्बन्धित रही है किन्तु मथुरा शैली बौद्ध और हिन्दू दोनों ही धर्मों से सम्बन्धित है। बौद्ध मूर्ति कला के प्रारम्भिक नमूने मौर्य युग में प्राप्त होते हैं। अशोक के स्तम्भों पर विभिन्न चित्रों का अंकन हुआ है किन्तु महात्मा बुद्ध की मूर्तियों के निर्माण की परम्परा कुषाण-युग से ही आरम्भ होती है।

बौद्ध मूर्तिकला का समुचित रूप हमें कुषाण-युग से देखने को मिलता है। साँची, भरहुत आदि में बुद्ध के पूर्व-जन्मों की घटनाओं के चित्र हैं। भरहुत में अनेक जातक-कथाओं के अतिरिक्त यक्ष-यक्षणियों, नाग-नागनियों आदि की मूर्तियाँ प्राप्त

1. भारतीय मृत्तिका कला पृ० सं० 20 वही।
2. पृ० सं० 29-30 वही।
3. पृ० सं० 377 व 382, भारतीय कला, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल।

हुई हैं। भरहुत में नारी के श्रीरूप को अभिव्यक्ति के साथ प्राकृतिक दृश्यों और विविध अलंकरणों के साथ सुन्दर रूप से चित्रित किये गये हैं और उनमें शिल्पकारी के दर्शन होते हैं। परन्तु इस समय तक बौद्ध मूर्तिकला का पृथक रूप से विकास दिखलाई नहीं देता। पहले बुद्ध की प्रतिमाओं को निर्मित नहीं किया जाता था और बुद्ध के अस्तित्वों को इनके घोड़े, छत्र, सिंहासन या चरण-पादुकाओं आदि से प्रदर्शित किया जाता था। अनेक विद्वानों का विचार है कि बौद्ध धर्म में मूर्तियों का प्रादुर्भाव यूनानी, रोमन और मध्य एशिया की जातियों के फलस्वरूप हुआ। परन्तु विद्वानों का दूसरा वर्ग यह मानता है कि इस धर्म में मूर्तियों की परम्परा के पीछे भारतीय प्रेरणा ही अधिक थी। मौर्य-काल की मथुरा के समीप मर्शम में मणिभद्र यक्ष की एक, और पटना के समीप दो मूर्तियाँ मिली हैं। ग्वालियर में भी महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उड़ीसा के धवलों में एक चट्टान को काटकर कोणाकार हाथी की मूर्ति बनाई गई है। मौर्यों के बाद शुंगों और कण्वों के शासन-काल में कला की जिस परम्परा का विकास हुआ उसके अवशेष सांची और भरहुत प्राप्त हुये हैं। यह कला भारतीय जन-जीवन के अत्यधिक निकट थी। तोरणों और प्राकारों पर तरह-तरह की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। भारतीय जनजीवन के विविध रूपों का चित्रण किया गया है। स्थान-स्थान पर गौतम के जीवन चरित्र, जातक-कथाओं और बौद्ध धर्म की महत्वपूर्ण घटनाओं का चित्रण है। अलंकरण के हेतु पशु-पक्षी, देवी-देवता, यक्ष-यक्षणियों, नाग, वृक्ष लता आदि की मूर्तियाँ हैं। दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कलाकृतियाँ बेगी प्रदेश में अमरावती जगरूयेन और नागार्जुनी कोण्डा आदि स्थानों पर प्राप्त हुई हैं। इनमें अमरावती अत्यन्त प्रतिष्ठित है। कालान्तर में अमरावती में बौद्ध मूर्तियों का भी निर्माण हुआ है।

कुषाण शासन-काल में महायान के अभ्युदय के फलस्वरूप बुद्ध को अलौकिक मानव के स्थान पर देवता माना गया है और उनकी पूजा होने लगी है। परिणामस्वरूप भारत के विभिन्न भागों में बुद्ध-प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। बौद्ध मूर्तियों के निर्माण की जो शैलियाँ देखने को मिलीं उनमें गान्धार-शैली, मथुरा-शैली और अमरावती-शैली विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

गान्धार-शैली

बुद्ध के नवीन सम्प्रदाय महायान ने मूर्तिकला के क्षेत्र में एक नवीन शैली को जन्म दिया जिसको हम गान्धार शैली के नाम से पुकारते हैं। कुषाण राजाओं के संरक्षण में इस शैली का विकास हुआ। कनिष्क के राज्यकाल में महायान सम्प्रदाय का केन्द्र गान्धार प्रान्त था। जहाँ भारत, रोमन, चीनी, ईरानी और सभी संस्कृतियाँ मिलती थीं। गान्धार-कला, यूनानी-कला अथवा रोमन-साम्राज्य और एशिया माइनर की हेलेनिस्टिक कला से उत्पन्न हुई। सर जार्ज मार्शल आदि विद्वानों का विचार है कि गान्धार शैली पर भारतीय मूर्ति-कला पर कोई प्रभाव नहीं है और बुद्ध-मूर्ति की कल्पना सबसे पहले इसी ने की। परन्तु डा० कुमार स्वामी और हेवेल आदि विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि गान्धार शैली के कलाकार की भावना के भारतीय कला की भावना में भारतीय कला का प्रभाव-दृष्टिगत होता है। निर्माण शैली, यूनानी थी पर कला की आत्मा भारतीय थी। बौद्ध-धार्मिक भावनाओं और विश्वासों की अभिव्यक्ति यूनानी ढंग से की गयी।

डा० वी० एस० स्मिथ के अनुसार गान्धार कला की शैली यूनानी रोमन है और यह ईसाई संवत् की पहली तीन शताब्दियों में प्रचलित एशिया माइनर और रोमन साम्राज्य की सार्वभौमिक कला पर आधारित थी। इस शैली का श्रेष्ठतम कार्य दूसरी शताब्दी ई० में कनिष्क तथा हुविष्क के राज्य-काल में किया गया।

पाल-मेसन आर्सेल तथा अन्य लेखकों के अनुसार गान्धार कला यूनानी अधिक है, भारतीय कम। यह सम्भवतः पहली शती ई० पू० के उत्तरार्ध से पाँचवीं शती तक प्रचलित रही।

गान्धार कला का सम्बन्ध यूनानी कला से प्रतीत होता है, अतएव इसका नाम "हिन्द यूनानी" या ग्रीसो रोमन कला दिया गया है। गान्धार देश में विकसित होने के कारण इसका नाम "गान्धार शैली" पड़ा। इसे "ग्रीक-बुद्धिस्ट" तथा "इण्डो हेलोनिक" कला भी कहा जाता है। धार्मिक विषयों के स्पष्टीकरण हेतु, यूनानी आकार और निर्माण-शैली का प्रयोग किया गया। बौद्ध विश्वासों तथा प्रथाओं को स्पष्ट करने के लिये इसका उपयोग हुआ। गान्धार शिल्प में यूनानी हाथों के द्वारा भारतीय हृदय की भावनाओं को व्यक्त किया गया। भारत के बाहर तुर्किस्तान, मंगोलिया, कोरिया, चीन और जापान में यह शैली अधिक व्याप्त हो गई।

गान्धार-शैली में महात्मा बुद्ध की अनेक प्रकार की मूर्तियों का निर्माण किया गया। मूर्तियों के निर्माण में पत्थर, प्लास्टर, चूना और मिट्टी आदि का प्रयोग किया गया। मूर्तियाँ काले स्लेटी पाषाण, पिसे हुये चूने से पकाई हुई मिट्टी की बनाई जाती थीं। पाषाण और चूने के मसाले की मूर्तियों को स्वर्णिम रंग से सुशोभित किया जाता था। तक्षशिला की खुदाई में भी गान्धार-शैली की कुछ मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। बौद्ध और बुद्धिसत्वों की कला-पूर्ण मूर्तियाँ ध्यान, धर्म-चक्र प्रवर्तन, अभय और वरद मात्राओं से प्राप्त हुई हैं। काले पाषाण खण्डों में भी बुद्ध के पिछले जन्म की कथाएँ संजीव रूप से उत्कीर्ण की गई हैं। लाहौर संग्रहालय में खड़ी बौद्धसत्व की मूर्ति अद-भुत एवं सुन्दर है। बर्लिन-संग्रहालय में खड़ी बौद्धसत्व की मूर्ति अदभुत एवं सुन्दर है। बर्लिन-संग्रहालय की ध्यान-नग्न बुद्ध की मूर्ति भी अपनी शान्त मुद्रा के लिये विशेष प्रसिद्ध है। इस प्रकार गान्धार शैली में अनेक प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने विभिन्न स्रोतों पर विचार करने के उपरान्त लिखा है कि स्वात्, काबुल और सिन्धु, इन तीन नदियों की द्रोड़ियों से किया हुआ प्रदेश गान्धार था। इस महा-जनपद का महत्व बड़े मार्ग के कारण था जो तक्षशिला, साकल, मथुरा, कौशाम्बी, प्रयाग को आपस में मिलाता था।

"एक मात्र बुद्ध एवं बोधिसत्वों का विभिन्न प्रकार से नितान्त यथार्थ चित्रण इसकी प्रमुख विशेषता है। इसके सौन्दर्यशास्त्रीय नियम भी कुछ अंशों तक ग्रीक सौन्दर्य शास्त्र से प्रभावित हैं। इस प्रकार गान्धार कला में यूनानियों या रोमन कला की छाप है, पर भाव एवं विषय भारतीय। दूसरे शब्दों में गान्धार के शिल्पियों के हृदय तो भारतीय थे, पर मस्तिष्क ग्रीक या रोमन। इस कला पर रोमन प्रभाव की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि इसका चरम विकास उस समय हुआ जब द्वितीय और तृतीय शताब्दी में भारत का रोमन संसार से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध हो गया था।

गान्धार कला के महत्वपूर्ण अवशेष सात स्थानों पर प्राप्त हुये हैं—(1) तक्षशिला, (2) पुष्कलावती, (3) नगरहार, (4) स्वात घाटी (5) कापिशी (6) बरमियों तथा (7) बहलीक या बैक्ट्रिया। अतः हम कह सकते हैं कि गान्धार कला के या सात केन्द्र थे। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये सातों स्थान उपर्युक्त महान द्रोणी के अन्तर्गत आते हैं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र कापिशी था। यहाँ की कला पर एक ओर भारतीय और दूसरी ओर यूनानी शैली का प्रभाव स्पष्ट है। शुद्ध भारतीय कला के रूपों में अशोक दोहद के दृश्य हैं जिनमें बाम पट्ट से अशोक पर प्रहार करती हुई स्त्रियों के सिर पर शुक्लांशुक-अट्टाल नामक वेषभूषा है।

गान्धार शैली की प्रमुख विशेषताएँ—प्रतिमा शास्त्र की दृष्टि से गान्धार कला की ये विशेषतायें हैं—

(1) इस शैली की समस्त मूर्तियाँ बौद्ध केन्द्रों से उपलब्ध हुई हैं।

(2) इनमें प्राप्त समस्त मूर्तियाँ बौद्ध प्रतीकों के साथ भारतीय हैं।

(3) इन मूर्तियों में बुद्ध के जीवन की घटनाएँ अंकित हैं। बुद्ध मूर्तियों का इनमें प्राधान्य है। शाक्य मुनि, गौतम, प्रव्रजित बुद्ध आदि के चित्र हैं। गांधार कला में बुद्ध के जीवन की घटनाओं के शिलापट्ट अत्यधिक हैं।

(4) इसमें जातक कथाएँ अंकित हैं। प्रमुख विषय बुद्ध का जीवन है।

(5) इनमें यूनानी देव-देवी हैं और गाथाओं के दृश्य हैं। इन्हीं के साथ इनमें भारतीय देवता और देवियों की मूर्तियाँ हैं।

(6) इनमें वास्तु-सम्बन्धी विदेशी विन्यास हैं।

(7) अलंकरण तीन प्रकार के हैं—भारतीय, यूनानी एवँ ईरानी।

(8) यह शैली भरहुत, सांची, बौद्धगया, की शैली से सर्वथा भिन्न है। इस शैली में बुद्ध की असंख्य मूर्तियाँ बनी हैं।

(9) गांधी शैली के प्रमुख उपकरणों में पत्थर का पलस्तर, चूना तथा मिट्टी है।

(10) गांधार कला यथार्थवादी न होकर पूर्णतः काल्पनिक या आदर्शवादी है। इस कला की आकृतियों की विशेषताएँ हमारे कथन की पुष्टि करती हैं, यथा (क) कुछ गान्धार बुद्ध मूर्तियों में केश छल्लेदार, छोटे एवं आवर्त युक्त दिखाएँ गये हैं। जिनका वास्तविक कला से कोई सम्बन्ध नहीं है (ख) प्रायः प्रत्येक मूर्ति में कान बहुत बड़े और लम्बे हैं। (ग) आँखें, अधखुली कटाक्षयुक्त तथा तिरछी हैं। पाश्चात्य कला की भाँति बड़ी, कटाक्षहीन तथा छोटी पलकों वाली नहीं हैं। (घ) हाथी की उँगलियों में स्वाभाविकता न होकर भावपूर्ण, लोक तथा वक्रता है। (ङ) पद्मासन में बैठे बुद्ध की कोहनी जंघाओं तक दिखाई गई है जबकि पसलियों तक आना चाहिये। (च) इसी प्रकार पद्मासन में चरण तलों को बिलकुल उर्ध्वमुख तथा एक सरल रेखा में बना दिया गया है जो सर्वथा काल्पनिक है।

(11) गांधार-शैली में महात्मा बुद्ध एक संन्यासी की अपेक्षा एक राजा लगते हैं। उन्हें स्वर्ण-जटिल वस्त्र पहने हुये दिखाया गया है। यह चित्रण भारतीय परम्परा के विपरीत है।

(12) बुद्ध को सोने के सिंहासन पर बैठे हुये दिखाया गया है परन्तु भारतीय शैली के अन्तर्गत वे पद्मासन लगाये हुये हैं।

(13) गांधार-शैली में निर्मित बुद्ध की मूर्तियों का दाहिना कन्धा नग्न रहता है। बुद्ध के दाढ़ी भी दिखाई गई है।

(14) प्रतिमाएँ लेटी पत्थर की बनाई गई हैं।

(15) गांधार शैली में मानव-शरीर को वास्तविक रूप से चित्रित किया गया है। अंग-प्रत्यंग, मांसपेशियों के साथ मूँछों आदि की सूक्ष्मता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

(16) मोटे वस्त्रों को दिखाते समय वस्त्रों की सलवटें सूक्ष्मता से दिखाई गई हैं। केशों का अंकन यूनानी ढंग का है।

(17) इस शैली में सुन्दर नक्काशी अलंकरण तथा प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। वाह्य भाव-भंगिमाओं के चित्रण में इस शैली के कलाकारों को विशेष सफलता मिली है।

(18) महात्मा बुद्ध के मुख के चारों ओर प्रभा-मण्डल बनाया गया है। तेज, चक्र, सज्जा से शून्य है।

(19) गांधार-शैली के अन्तर्गत नारी प्रतिमाओं का बहुत कम निर्माण हुआ है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त गांधार शैली के अलंकरणों में स्थान-स्थान पर भारतीय पदम और गोमूत्रिका विद्यमान है जो उसके भारतीय कला के ऋणी होने के प्रमाण हैं। गाँधार शैली की कतिपय महत्वपूर्ण मूर्तियों का परिचय यहाँ दिया जाता है—"लाहौर संग्रहालय की खड़ी बोधिसत्य की मूर्ति अद्भुत और सुन्दर है। शहरे बहलोभ में मिली कुबेर और हरीति की संयुक्त मूर्ति भी दर्शनीय है किसी की खड़ी हारीति दोनों कंधों पर एक-एक बालक धारण किये मातृ गौरव की असामान्य प्रतिमा है। इन्द्रशैल गुफा में समाधि रूप बुद्ध शान्ति की प्रतिमा है और प्रसिद्ध तपस्वी गौतम को कोशिश कुशला तप के फूल का मूतकरती है। बर्लिन संग्रहालय की ध्यानमग्न बुद्ध की मूर्ति भी अपनी शान्त मुद्रा के लिये विशेष ख्याति लब्ध हुई। लाहौर संग्रहालय की सिंहासनास्थ खडगधारी कुबेर की ऊँची मूर्ति भी इस यवन भारतीय-कला की अभिराम सन्धि प्रस्तुत करती है। इनके अर्ध-चित्रों (रिलीफ) के उभार और प्रगति से भी असाधारण बल है। एक पट्टिका पर चार कतारों में राक्षसों और साधारण मानव सैनिकों की सेना का मार्च दिखाया गया है। जो अत्यन्त प्रकृत लगता है।"

गाँधार शैली में ऐसी असंख्य मूर्तियाँ बनी हैं जो भगवान बुद्ध की जीवन गाथा के मनोहारी चित्र प्रस्तुत करती है। वह कला यहाँ अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इसने मथुरा की विशुद्ध भारतीय शैली को भी प्रभावित किया।

गान्धार शैली की उत्कृष्ठता के सम्बन्ध में विद्वानों में गम्भीर मतभेद है। अनेक विदेशी विद्वान इसको भारतीय कला की श्रेष्ठतम शैली मानते हैं जबकि कई भारतीय विद्वान इसकी अनुकृति की विडम्बना मात्र मानते हैं। डॉ० मोहर रंजन रे" अरेद कुमार स्वामी आदि विद्वान इसे मौलिकता से रहित एवं हेय कोटि की शैली

मानते हैं। पर्सी ब्राउन ने भारतीय विद्वानों के समान इसको भारतीय कला के क्षेत्र में गौरवपूर्ण स्थान प्रदान नहीं किया है। यथा—गान्धार शैली के मूर्तिकार सामान्य स्तर के कलाकार थे, कलात्मक रुचि का अभाव था इसीलिये भारतीय मथुरा शैली को यह कला प्रभावित न कर सकी, परिणामतः वह भारत की अपेक्षा अन्य देशों में पल्लवित तथा लोकप्रिय हुई। भारत इसका प्रधान क्षेत्र न बन सका।

गुप्तकालीन कलादन्तों ने गान्धार शैली का भारतीयकरण किया और अनेक श्रेष्ठ कला कृतियों का सृजन किया।

मथुरा शैली

मथुरा प्राचीन काल से भारत का एक प्रमुख नगर एवं सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। एक महातीर्थ एवं व्यापारिक केन्द्र तथा कुषाणों की राजधानी होने के कारण मथुरा ईसा की प्रथम शताब्दी से कला का एक महान केन्द्र बन गया था। शुंग काल में मथुरा भरहुत की लोक शैली तथा सांची की उन्नत शैलो विशिष्ट साथ-साथ चल रही थी। कुषाण काल में दोनों शैलियों का समन्वय हो गया और एक नवीन शैली का उद्‌भव हुआ। इस काल में निर्मित मथुरा से असंख्य मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ सफेद चित्ती वाले लाल रवादार पत्थर की बनी हैं। मथुरा शैली का अध्ययन दो भागों में किया जाता है—(क) पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध शैली की प्रतिमायें भरहुत की भाँति अनगढ़ हैं। उत्तरार्ध की प्रतिमाएँ परिष्कृत हैं। उत्तरार्ध की प्रतिमाओं में सादगी और जीवन है। इस शैली में गान्धार कला की भाँति भगवान बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ है। बुद्ध की इन मूर्तियों में इनके जीवन सम्बन्धी घटनाओं, धर्म-चक्र प्रवर्तन, निर्वाण आदि का अंकन हुआ है। इन मूर्तियों के निर्माण के साथ भारतीय कला में युगान्तकारी परिवर्तन हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्तरार्द्ध की मूर्ति शैली में वस्तुतः मथुरा शैली का विकास हुआ और उसी कारण उसकी प्रतिष्ठा हुई।

उदाहरणार्थ मथुरा में प्राप्त एक मूर्ति का परिचय प्रस्तुत किया जाता है। मथुरा कला में देवी श्री लक्ष्मी की अत्यन्त सुन्दर खड़ी हुई मूर्ति मिली है। देवी की मुद्रा बहुत ही आकर्षक है। वह अपने एक हाथ से दाहिने स्तर को दबा कर दूध की धारा बहा रही है। देवी कमनवन में पूर्ण घट पर खड़ी है। उसके पृष्ठ भाग में सनाल कमल पत्र है और कलिकायें ऊपर उठ रही हैं जिन पर हंसों के जोड़े बैठे हैं। मथुरा से प्राप्त सिर-रहित कनिष्क की मूर्ति भी दर्शनीय है।

मथुरा शैली की विशेषताएँ—मथुरा शैली कला में बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखने वाली हजारों मूर्तियों का निर्माण हुआ। मथुरा शैली की अपनी कुछ विशेषतायें हैं, यथा—

(1) मथुरा शैली में लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। यह पत्थर सफेद चित्ती वाला रवादार पत्थर है। यह भरतपुर फतेहपुर सीकरी में अधिकता से मिलता है।

(2) मथुरा शैली यथार्थ की अपेक्षा आदर्श, प्रतीक भावनावादी है।

(3) गान्धार शैली में बुद्ध पद्मासन तथा कमलासनासीन हैं, किन्तु मथुरा

शैली में वह सिंहासनसीन हैं। खड़ी मूर्तियों के पैरों के नीचे सिंह की आकृति बनी रहती है।

(4) मूर्ति के शरीर का धड़ भाग नग्न है, दक्षिण का वस्त्रहीन अभय मुद्रा में है। प्रतिमाओं के वस्त्र सलवटों से युक्त हैं।

(5) मथुरा शैली मुख मण्डल पर दैवीय भावना आभा का स्पष्ट दर्शन किया है। आध्यात्मिकता का अंकन सफलतापूर्वक किया गया है।

(6) मथुरा शैली की कुषाणकालीन बौद्ध मूर्तियों की विशालता प्रसिद्ध है।

(7) मूर्तियों की बनावट गोल तथा पृष्ठावलम्बन रहित है। प्रतिमाओं का मस्तक मण्डित है, गुप्तकाल की भाँति कुचित केश नहीं है। मूँछों का अभाव है।

मथुरा शैली एक स्वतन्त्र है अथवा वह गान्धार कला की आकृति मात्र है, इस विषय को लेकर विद्वानों ने बहुत गम्भीरता के साथ विचार किया है। राबिन्सन, क्रिस्टमस हम्फ्रीस तथा डॉ० नीहार रंजन रे, मथुरा शैली को स्वतन्त्र शैली मानते हैं, जबकि डॉ० कामटिश फ्रोगेल तथा नाहर शैली पर गान्धार शैली का व्यापक प्रभाव मानते हैं।

वास्तव में दोनों शैलियों में पर्याप्त अन्तर है। इन शैलियों में निर्मित बुद्ध की मूर्तियों में पर्याप्त अन्दर है। गान्धार शैली में अंग शौष्ठव की सूक्ष्मता और भौतिक सौन्दर्य को महत्व प्रदान किया गया है। जबकि मथुरा शैली में मूर्तियों पर दीप्ति और आध्यात्मिक अभिव्यंजना का महत्व स्पष्ट है प्रथम पर यूनानी शैली का प्रभाव मुखर है, द्वितीय में भारतीय शैली का कलागत भावनावाद अंकित है। इस सम्बन्ध में हम सत्यकेतु विद्यालंकार का समन्वयवादी दृष्टिकोण उद्धृत कर रहे हैं। मथुरा की कला पर गान्धार शैली का प्रभाव अवश्य है, परन्तु उसे पूर्णतया गांधार शैली की नकल नहीं कहा जा सकता इसमें सन्देह नहीं कि मथुरा के आर्य-शिल्पियों ने पेशावर की रचनाओं का दृष्टि में रखकर एक मौलिक शैली का विकास किया था, जो बाह्य और आभ्यन्तर दोनों दृष्टियों से शुद्ध आर्य-प्रतिमा की प्रतीक थी। भारतीय कल्पनायें एक परम योगी के मुख पर जो दैवी भावना होनी चाहिये, उसकी वृत्ति किसी प्रकार अन्तर्मुखी होनी चाहिये और उपासक के हृदय में अपने उपास्य देव का कैसा लोकोत्तर रूप होना चाहिये, इन सबको पत्थर की मूर्ति में उतार कर मथुरा के ये शिल्पी चिरयश के भागी हुये हैं।''

9

गुप्त-कालीन मूर्तिकला

(Sculpture in Gupta Age)

प्रश्न (1) "गुप्त काल भारतीय मूर्तिकला की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

अथवा

"शिल्पियों का हाथ इतना सध गया था कि वे जिस वस्तु या विषय को लेते थे उसमें जान डाल देते थे।" क्या यह कथन गुप्त-युग की मूर्तिकला के सम्बन्ध में पूर्णतया सत्य है।

अथवा

"गुप्तकाल के कलाकारों के कुशल करों से जो भी निर्मित हुआ वह पूर्णरूपेण स्वाभाविक प्रतीत होता है।" गुप्त-युग की मूर्तिकला को दृष्टि में रख कर इस कला की विवेचना कीजिये। गुप्तकाल की मूर्तिकला पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

अथवा

गुप्त-युग में शिल्पकला के प्रमुख केन्द्रों की विवेचना कीजिये।

गुप्तकाल भारतीय कला का स्वर्णयुग है। गुप्त-युग भारतीय यशस्वी राजाओं का युग था। उनके शासनकाल में देश ने सर्वतोमुखी उन्नति की। गुप्तकाल में शिल्पकला में कोई मौलिक उद्‌भावना नहीं हुई, बल्कि मथुरा और गान्धार जैसी अनवरत प्राचीन कला परम्पराओं की ही तर्कपूर्ण परिणति हुई। प्राचीन तत्वों के विकसित रूपों ने मिल कर एक ऐसी पूर्ण और परिष्कृत कला को जन्म दिया जिसमें पूर्ण समरूपता, सन्तुलन एवं गम्भीरता के साथ-साथ अत्यधिक सजीवता के भी दर्शन होते हैं। इस काल में पुराणों में देवताओं का पाठ अंकन किया गया। शिव और पार्वती, शेषशायी विष्णु और लक्ष्मी, मकरारूढ़, गंगा और कच्छपारूढ़ यमुना आदि सपरिवार मूर्तियों में अंकित हैं। इस काल में बुद्ध एवं उनके परिवार को भी कलाकृतियों में अंकित किया गया।

गुप्तकाल (पंचम शती) की प्रस्तर खण्ड पर खड़ी शिव पार्वती की एक मूर्ति कौशाम्बी में मिली है। यह मूर्ति एक असाधारण मूर्ति है। ललितपुर (झाँसी) में देवगढ़ की गुप्तकालीन मन्दिर प्रसिद्ध है उसमें यत्र-तत्र जड़ित मूर्तियाँ शोभित हैं। वह मूर्ति दर्शकों को आश्चर्य-चकित कर देती हैं। देवगढ़ में एक अन्य श्रेष्ठ मूर्ति शेषशायी विष्णु की है। उस मूर्ति में शांत पौरुष प्रतिफलित है। हाथ पर टिका हुआ सिर मनमोहक है। खोह की शिवमूर्ति भी इसी काल की है। उसी काल की उदयगिरि की वाराहमूर्ति है। वाराह पृथ्वी को धारण किये हैं। यह मूर्ति भी

अत्यन्त प्रभावशाली है। इस काल की बनी हुई अनेक बुद्ध मूर्तियाँ सारनाथ और मथुरा में मिली हैं। सारनाथ वाली मूर्ति धर्मचक्र प्रवर्तन की मुद्रा में है। मथुरा की मूर्ति $7\frac{1}{4}$ फीट ऊँची है। वह अभय मुद्रा में है। मूर्ति पर साम्यभाव मुखरित है। "मथुरा की यह खड़ी बुद्ध-मूर्ति सुरुचि, परिष्कार आवयवीय अनुपात, व्यंजना और सहानुभूति में अप्रतिम है, संसार के बुद्धों में बेजोड़ है।"[1]

"गुप्तकाल की कला में न तो शुंग काल का चटपटापन है और न कुषाण काल की गोलाकारिता। अपितु यह कला गान्धार शैली के समान अंडाकार (oval) है। इस काल की कला का उपजीव्य कल्पना की अपेक्षा समाज का जीवन था। बुद्ध का शरीर की माँस हो गया, पुरुष तथा नारी ने केश कलाप धारण कर लिया। आभूषण अल्प तथा सुरुचिपूर्ण है। आशय यह है कि इस काल की कला में नवीनता और स्वाभाविकता का समावेश हुआ।" गुप्त काल की कला में परम्परागतता तथा बाह्य प्रभाव की अपेक्षा एक सुन्दर समन्वयवादी दृष्टि दिखाई देती है। गुप्त कला अंग-सौन्दर्य और सजीव रचना के लिये सर्वत्र प्रशंसित होती है। एक विद्वान के शब्दों में "विवेक और सौन्दर्य से अनुप्राणित होने के कारण गुप्तकालीन शिल्प-कला भारतीय कला के इतिहास में सर्वोत्कृष्ट मानी गई है।" गुप्तकालीन कला की उत्कृष्ठता एवं समन्वयशीलता की प्रशंसा विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की है। वासुदेव उपाध्याय का यह कथन दृष्टव्य है—"गुप्तकाल की मूर्तियों में गम्भीरता, शांति और चमत्कार है। मूर्तियों की रचना बड़ी ही सुचारु और उनकी भावभंगी मनोबेधक है। जैसे इस युग की काव्य-कृतियों में पद-लालित्य के साथ-साथ अर्थ-गौरव पाया जाता है वैसे ही शिल्प-कला में रचना-सौन्दर्य के साथ विचित्र भाव-व्यंजना देखने में आती है। इस समय की कला रूप-प्रधान तथा भाव-प्रधान है। शिल्पकार वस्तु के रूप को सर्वांग बनाने में जितने प्रवीण थे, उतने ही अपने आन्तरिक तथा आध्यात्मिक भावों को सुन्दर कृतियों द्वारा दर्शाने में सिद्धहस्त थे। उनके हृदयगत भाव उनकी सुन्दर रचनाओं में स्पष्ट झलकते हैं। ऐसे विलक्षण गुण भारत की शिल्प-कला में इतने उत्तम रूप से अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलते।"[2]

कला के केन्द्र

गुप्तकाल में शिल्प-कला के तीन प्रधान केन्द्र थे—मथुरा, सारनाथ और पटना। इन तीनों स्थानों में ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध मूर्तियों का निर्माण होता था। मथुरा केन्द्र का विकास इसी काल में हुआ। सारनाथ मौर्यकाल में बौद्ध-कला का महत्व-पूर्ण केन्द्र रह चुका था।

(1) **मथुरा-केन्द्र**—मथुरा-कला की सर्वोत्कृष्ठता का काल कुषाण-काल था। उस काल में मथुरा-शैली समस्त देश पर छाई हुई थी। गुप्त काल में मथुरा में निर्मित मूर्तियों में ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों धर्मों से सम्बद्ध मूर्तियाँ थीं। इस काल में मथुरा में निर्मित बुद्ध मूर्तियाँ कलकत्ता, सारनाथ और मथुरा के संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रही हैं। इन मूर्तियों में कुषाण एवं गुप्तकालीन मूर्तिकला के संगम

---

1. पृ० 71-72, प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति—सिंह एवं यादव।

2. पृ० 270 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास'।

के लक्षण स्पष्ट हैं। मथुरा में निर्मित गुप्तयुगीन मूर्तियों की विशेषतायें निम्न-लिखित हैं :—[1]

(1) पहली विशेषता है चीवर की बनावट। चौथी शताब्दी से आगे की मथुरा बुद्ध मूर्तियों में प्राचीन कुषाण कालीन मूर्तियों से एक विशेष अन्तर यह है कि गुप्त काल की इन बुद्ध मूर्तियों को चीवर से पूर्णतया ढका हुआ दिखाया गया है। दोनों कंधे ही नहीं अधिकांश में दोनों हाथ भी ढके हुये दिखाये गये हैं। कुषाण-कालीन मथुरा की मूर्तियों के दाहिने कंधे पर सघाती नहीं दिखाई पड़ती।

(2) इनकी दूसरी विशेषता है बुद्ध के चीवर की बनावट, जो स्वयं कह देता है कि यह मूर्ति मथुरा में बनी है। इसके वस्त्र में कुषाण मूर्तियों की भाँति व्यावर्तन (Folds in dvapery) है, अन्तरवासक (अधोवस्त्र) कमर से बँधा है तथा सघाटी (ऊर्ध्व वस्त्र) दोनों कंधों को ढकती हुई घुटने के नीचे तक पहुँची है।

(3) प्रारम्भिक बुद्ध मूर्तियों में गान्धार प्रभाव के कारण चीवर की सिकुड़नें चौड़ी और समानान्तर थीं, परन्तु गुप्तकाल में आकर ये सिकुड़ने पतली-पतली रेखाओं की एक श्रेणी मात्र रह गई हैं जो ऊपर-नीचे दाहिने-बायें सभी ओर अयथार्थ रूप से व्याप्त होने के कारण केवल प्रतीकात्मक रूप से ही वस्त्र की सिकुड़नों को व्यक्त करती हैं और सम्पूर्ण शरीर को रेखाओं के एक जाल से आवृत्त कर देती है। यहाँ पर गांधार शैली की यह प्राचीन विशेषता एक नवीन रूप में एक अन्य उद्देश्य से अपना ली गई। स्तम्भ के समान दृढ़ और निश्छल बुद्ध मूर्ति से ये विरोध उत्पन्न करके थोड़ी सी हल्की गति का आभास उत्पन्न करती है।

(4) कुषाण-कालीन मूर्तियों का प्रभामण्डल सादा रहता था; परन्तु गुप्तकाल में अलंकारयुक्त प्रभामण्डल (Decorated halo) तैयार किया गया। इसमें कमल और विभिन्न आकार के प्रभामण्डल विभूषित किये गये हैं। इन प्रभामण्डलों को देख-कर ही तत्काल यह कहा जा सकता है कि यह मूर्ति गुप्तकाल में मथुरा में बनी है।

(5) इन मूर्तियों में गुप्त-तक्षण कला की विशेषतायें दिखाई देती हैं; जिसे गुप्त तक्षण कहते हैं। इनमें बालों का मुड़ाव तथा उष्णीष स्पष्ट प्रकट होते हैं।

(6) ये सभी मूर्तियाँ एक निश्चित अनुपात के अनुसार बनाई गई हैं। उनके मुख, उदर तथा पैरों की आनुपातिक लम्बाइयाँ तथा चौड़ाई निश्चित हैं। खड़ी मूर्ति के मुख, धड़ तथा पैरों में बहुधा 1:3:5 का अनुपात है। इस निश्चित अनुपात के कारण लगभग समस्त मूर्तियाँ (बैठी या खड़ी) प्रायः एक सी लगती हैं। अनुपात की इस निश्चितता के कारण मूर्तियों में प्रारम्भिक काल की बेडौलता लुप्त हो गई। यह अनुपात बुद्ध की प्रतिमा को आदर्श और अतिमानवीय रूप देने के लिए निश्चित किया गया था। प्रारम्भिक कुषाण बुद्धों की भारी भरकमता तथा विस्तार अब प्रभावपूर्ण लम्बाई या ऊँचाई से युक्त हो गये और यह लम्बी-चौड़ी ऊँची मूर्ति गुप्त काल में गरिमा और शक्ति से युक्त हो गई।

(7) हड़प्पा के मनुष्यधड़ की प्रवृत्ति के विरुद्ध इन आकृतियों की शारीरिक

1. देखें—क. गुप्त साम्राज्य का इतिहास—वासुदेव उपाध्याय।
ख. प्राचीन भारत की कला—डा० गयाचरण त्रिपाठी।

रचना में माँसपेशियों के उभार का कोई चिन्ह नहीं है। शरीर बिलकुल चिकना और समतल है जिससे बुद्ध की आकृतियाँ मनुष्य का शरीर न होकर करुणा, प्रेम, शांति आदि भावों का मूर्त स्वरूप जान पड़ती हैं। वे एक ऐसे व्यक्ति को सूचित करती हैं जो योग समाधि में स्थित हो और इसलिये उसका शारीरिक अस्तित्व महत्व-हीन होकर केवल भावसत्ता मात्र स्थिर हो।

(8) आकृति के विभिन्न अंग यथार्थ नहीं अपितु रूपकात्मक विधि से बनाये गये हैं। ये रूपक भारतीय सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं के अनुरूप हैं।

(9) बुद्ध की हथेलियों तथा चरणतलों में प्राचीन परम्परा के अनुसार मत्स्य, त्रिशूल, चक्र आदि शुभ लक्षण दिखाए गये हैं।

(10) मथुरा के इन बुद्ध मुखों की गोलाई एवं मुद्रा करुणा, प्रेम गम्भीरता, शांति आदि अनेक धार्मिक भावों को व्यक्त करती है।

(11) इन बुद्ध मूर्तियों की सर्वाधिक सुन्दर विशेषताओं में हैं उनके सिर के पीछे बने हुये अलंकृत तेजपुंज। इस तेजपुंज के बीच में एक फल्ल कमल है और उसके चारों ओर गोलाई में फूल पत्तियों के डिजायन हैं। इसके द्वारा बुद्ध का आध्यात्मिक गाम्भीर्य भली प्रकार व्यक्त किया गया है।

(12) गुप्तकाल की मूर्तियों में शारीरिक रचना एवं वाह्य अलंकरण में सदा एक सन्तुलन रहता है। आभूषण अलंकरण के साधन मात्र हैं, अलंकार्य नहीं। पाल सेन काल में जैसे बाह्य रत्नाभरण एवं साध्य हो जाते हैं, सुन्दरता बढ़ाने के साधन नहीं, और इस प्रकार आकृति को अपनी विशेषता के आगे महत्वहीन कर देते हैं।

(13) इस काल की विभिन्न धार्मिक मूर्तियाँ आपस में बहुत कम अन्तर रखती हैं। यदि वे पूर्णतः नग्न न हों तो तीर्थंकर की कोई भी मूर्ति ध्यान मुद्रा में बैठे हुये बुद्ध की मूर्ति समझी जा सकती है। शरीर का अनुपात तथा गढ़ने की शैली बिलकुल एक है।

उपरोक्त विशेषताओं से युक्त मूर्तियों के अतिरिक्त भी बुद्धकालीन कुछ मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें कभी-कभी कुषाण एवं गुप्त युगों की मिश्रित विशेषतायें दिखाई देती हैं, और कभी मौलिक विशेषतायें।

मथुरा की कला का एक अत्यन्त श्रेष्ठ उदाहरण बायें हाथ में एक पुस्तक धारण किये हुए खड़े हुये बुद्ध की मूर्ति है। इसका दहिना हाथ भार है। सम्भव है वह अभय मुद्रा में रहा हो। सिर, धड़ तथा पैरों में 2:4:7 का अनुपात है। पार-दर्शक वस्त्र से अन्दर के सम्पूर्ण अंग झलक रहे हैं। सलवटें, कलापूर्ण और कुछ समा-नान्तर हैं। इस मूर्ति के मुख मण्डल पर शांति करुणा, और आध्यात्मिकता का अपूर्व सम्मिश्रण है। गुप्त युग के इस मथुरा केन्द्र में लगभग 5वीं शती तक मूर्तियों का होता रहा। द्रष्टव्य यह है कि सारनाथ की कलाकृतियों के सम्मुख मथुरा केन्द्र की कलाकृतियों की लोकप्रियता बहुत कुछ कम हो गई थी।

(2) **सारनाथ केन्द्र**—गुप्तकाल में मौर्यकाल से चले आ रहे इस कला केन्द्र की शिल्पकला की अत्यधिक उन्नति हुई। गुप्त युग में सर्वाधिक मूर्तियाँ सारनाथ में निर्मित हुईं—यहाँ तक कि इनके सम्मुख मथुरा की कलाकृतियों का महत्व कम हो गया। सारनाथ बौद्ध केन्द्र था। अतः यहाँ स्वभावतः बुद्ध की मूर्तियाँ अधिक मिली

हैं। साथ ही यहाँ पर ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी काफी मूर्तियाँ मिली हैं। इसका कारण यह है कि गुप्त नरेश परम भागवत थे और ब्राह्मण धर्म इस काल में राजकीय धर्म था।

सारनाथ के शिल्पियों ने बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनाने के लिये चुनार के उसी बलुय पत्थर का उपयोग किया जो मौर्य युग में प्रयुक्त किया जाता था। ये मूर्तियाँ मुख्यतः स्तूपों तथा विहारों को अलंकृत करने के लिये बनाई गईं।

सारनाथ की बुद्ध मूर्तियों की विशेषताएँ—सारनाथ की खड़ी बुद्ध मूर्तियों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो उन्हें गान्धार और मथुरा शैली की मूर्तियों से पृथक करती हैं। ये विशेषताएँ प्रायः व्यावर्त सम्बन्धी हैं, यथा—

(1) चीवर में सलवटों या रेखाओं का सर्वथा अभाव है।

(2) शरीर एक हलके झीने पारदर्शक वस्त्र में ढका है। वह नीचे के शरीर को पूर्णतः प्रदर्शित करता है।

(3) सारनाथ की मूर्तियाँ कुछ मुड़ी हुई हैं। यह विशेषता सारनाथ की बुद्ध मूर्तियों को सजीवता एवं गति प्रदान करती हैं।

यह तत्व भारतीय नृत्य के त्रिभंग का कुछ परिवर्तित रूप है। बुद्ध की मूर्ति को भक्त की ओर आती हुई सी प्रदर्शित करने के लिये अपनाया गया है।

(4) मथुरा की मूर्तियों की भाँति सारनाथ की मूर्तियाँ भी एक निश्चित अनुपात में बनायी गई हैं।

(5) सारनाथ की बुद्ध मूर्तियों में बाह्य मांसपेशियों का कोई चिन्ह नहीं है। यह विशेषता मथुरा के समान है। ऊपर की सतह अधिक से अधिक सरल कर दी गई है। शरीर पर कोई अलंकरण नहीं है।

(6) मूर्तियों में आध्यात्मिक शक्ति की मार्मिक अभिव्यक्ति की गई है।

(7) सारनाथ का उभार शिल्प विशेष महत्वपूर्ण है। इस उभार-शिल्प में गान्धार और प्राचीन भारतीय प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है सभी आकृतियाँ बहुत ही गहरी खोदी गई हैं—इतनी गहरी कि उनमें खोदी गई आकृतियों का आभास होने लगता है। यह तत्व साँची की कला का विकास है। फलकों पर उभरी ये आकृतियाँ सारनाथ की सर्वश्रेष्ठ बुद्ध मूर्तियों की संश्लिष्ट आकृतियाँ प्रतीत होती हैं।

(3) **पाटलिपुत्र (पटना) केन्द्र**—गुप्त काल में पाटलिपुत्र भी मूर्ति कला का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। इस केन्द्र के शिल्प पर सारनाथ की कला का गहरा प्रभाव पड़ा था। पाटलिपुत्र केन्द्र में प्रस्तर के अतिरिक्त धातु मूर्तियाँ भी बनाई गई हैं। कालन्दी एवं सुलतानगंज में प्राप्त धातु मूर्तियाँ सारनाथ की प्रतिमाओं के समान हैं। इन मूर्तियों में कुटिल केश, सीधी भौंह और उष्णीष का अंकन स्पष्ट है।

गुप्तकाल की मूर्तिकला की विशेषताएँ

(1) **बलुआ पत्थर का प्रयोग**—भारत के कलाकारों ने भाँति-भाँति के प्रस्तर का प्रयोग किया है। गान्धार शैली में भूरा प्रस्तर, मथुरा शैली में सफेद चित्तीदार

लाल प्रस्तर का प्रयोग किया गया एवं गुप्त काल में चुनार (मिर्जापुर) के सफेद बलुए प्रस्तर का प्रयोग हुआ।

(2) **बुद्ध की मूर्ति का प्राधान्य**—गुप्त काल में बुद्ध की मूर्तियों का अधिक निर्माण हुआ। इस काल की बुद्ध-प्रतिमाएँ प्रायः पाँच मुद्राओं में मिलती हैं—(क) ध्यान मुद्रा, (ख) भूमि स्पर्श मुद्रा, (ग) अभय मुद्रा, (घ) वरद-मुद्रा और (ङ) धर्म-चक्र मुद्रा।

(3) **सजीव शरीरांकन**—गुप्त काल की मूर्तियों में शरीर के अवयव सिर, धड़ और पैर एक विशेष अनुपात में बनाई गई। उनके वक्षस्थल में पूर्ण उभार दिखाया गया है। स्कन्धों की अपनी एक निजी विशेषता है जिसके कारण मूर्ति सजीव और शक्तिमान लगती है।

(4) **वस्त्रांकन**—गुप्तकालीन प्रत्येक मूर्ति महीन वस्त्र से आच्छादित है, पार-दर्शक वस्त्र में शरीर का अंग-प्रत्यंग उभार आदि को स्पष्ट दिखाया गया है। गुप्त-काल में मथुरा केन्द्र में निर्मित मूर्तियों में सलवटें हैं। अधोवस्त्र कटि से बँधा है। संघाटी दोनों स्कन्धों को ढक कर घुटनों तक लटकी हुई मिलती हैं।

(5) **कुंचित केशराशि**—गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियों में दक्षिणावर्त कुंचित केश और उष्णीष की अपनी विशेषता है।

(6) **स्वाभाविकता**—गुप्तकाल की कला सर्वथा स्वाभाविक है। इसी कारण विशेष लोकप्रिय है। उसकी तक्षण-कला में भावाभिव्यंजना के साथ-साथ सौन्दर्य वृद्धि एवं समानुपात का पूरा ध्यान रखा गया है। इस सन्दर्भ में श्री लूनिया ने लिखा है कि "इस युग की मूर्तियों की विशेषता है कि उनके मुख और नेत्रों की मुद्रा शांत है जो उनके ध्यानस्थल शान्त मन का आत्मिक अभिव्यक्तिकरण है। उनके उत्फल्ल मुख मण्डल पर अपूर्व-प्रभा, कोमलता, गम्भीरता, शान्ति और स्वाभाविकता है।"[1]

(7) **विदेशी प्रभाव का अभाव**—कद, चेहरे की बनावट, मांसपेशियाँ, केश-राशि, मुद्रा, प्रभामण्डल आदि तत्वों पर विचार करके गुप्तकालीन मूर्तियों का निर्माण किया गया था। इस प्रकार इस काल में मूर्ति-निर्माण की एक विशिष्ट शैली ही बन गई थी। कई विद्वानों ने उसे राष्ट्रीय शैली कहा है। डॉ० विन्देश्वरी प्रसाद सिंह के शब्दों में, "गुप्त कला राष्ट्रीय कला है, जिसमें भारत की आत्मा और ऐति-हासिक परम्परा प्रतिष्ठित है।"[2] वह विदेशी प्रभाव से सर्वथा मुक्त है।

(8) **अलंकरण**—गुप्तकालीन कला अलंकृत कला है। गुप्त पूर्वकला अलंकरण रहित थी। गुप्तकाल में मूर्तियों को अलंकृत किया गया। ये अलंकरण थे—व्याल (Leograph) कीर्ति, मुख, गंगा और यमुना तथा अनेक प्रकार के बेल-बूटे।

(9) **अलंकृत प्रभामण्डल**—गुप्तकालीन मूर्तियों में सिर के पीछे एक प्रस्तर लगा रहता है। इसे प्रभामण्डल कहते हैं। यद्यपि गान्धार तथा मथुरा शैलियों में भी इस प्रभामण्डल को स्थान प्राप्त था, तथापि गुप्त काल में इसे सुन्दर, भव्य एवं मन-मोहक अलंकारों से अलंकृत किया गया।

---

1. पृ० 210; भारतीय कला तथा संस्कृति का विकास।
2. पृ० 112-113 भारतीय कला को बिहार की देन।

(10) आदर्श और सौन्दर्य का समन्वयः—देशी-विदेशी अनेक तत्वों को आत्मसात् करके गुप्तकालीन कला का विकास किया गया था। इस काल की मूर्तियों में आदर्श एवं सौन्दर्य का सुखद समन्वय है। डा० आर० सी० मजूमदार के शब्दों में "संक्षेप में ताल, गीत और सौन्दर्य की उच्च भावना से परिपूर्ण उच्च आदर्श गुप्तकालीन मूर्तियों की विशेषता है। उनकी कला और निर्माण में ओज और सुरुचि टपकती है। गुप्तकालीन कला में बौद्धिकता की प्रधानता है, जिसके कारण उच्च विकसित भावना और अत्यधिक अलंकरण को नियन्त्रित रख सकने में वह समर्थ हो सकी है।"[1]

(11) आध्यात्मिक भावों का प्रदर्शन—गुप्तकालीन कला में बाह्य सौन्दर्य के साथ आन्तरिक सौन्दर्य का भी अंकन किया गया है। इस काल के कलाकारों ने मानव हृदय का अंकन करने में विशेष सफलता प्राप्त की है। श्री सत्यकेतु विद्यालंकार ले लिखा है कि, "वे विशुद्ध भारतीय हैं। भौतिक सौन्दर्य की अपेक्षा उनमें आन्तरिक शांति ओज आर आध्यात्मिक आनन्द की जो फलक है, वह वर्णनातीत है। वस्तुतः गुप्तकाल की शिल्प-कला आध्यात्मिकता से पूर्ण है। इस कला का आधार-भूत विषय निस्सन्देह सदा धार्मिक है, किन्तु इस विषय के प्रतिपादन में आध्यात्मिक भावना और जीवन के अनुभव तथा तथ्यपूर्ण बातें सब एक सुसंगतपाठी के अन्तर्गत है।[2]

गुप्तकाल की प्रमुख मूर्तियाँ

गुप्तकाल में पाषाण, धातु और पकी हुई मिट्टी, तीनों की ही मूर्तियाँ बनाई गईं। इन मूर्तियों को निम्न कोटियों में विभाजित किया जा सकता है :—

(अ) बौद्ध धर्म की मूर्तियाँ,
(ब) पौराणिक मूर्तियाँ,
(स) जैन मूर्तियाँ,
(द) अन्य मूर्तियाँ।

(अ) बौद्ध धर्म की मूर्तियाँ :—(1) सारनाथ की बुद्ध मूर्ति :—इस मूर्ति में महात्मा बुद्ध पद्मासन लगाये हुये धर्म-चक्र प्रवर्तन मुद्रा में विराजमान हैं। इनके घुंघराले बाल हैं और शीर्ष के चारों और अलंकृत प्रभामण्डल है। अंग-प्रत्यंग, सुकुमारता एवं सौन्दर्य से युक्त है। दोनों कन्धे बारीक वस्त्र से ढके हैं। यह वस्त्र पैरों तक दिखाये गये हैं। डा० स्मिथ के अनुसार इस मूर्ति पर गाँधार कला का प्रभाव नहीं है।

(2) **सुल्तानगंज की बुद्ध मूर्ति** :—यह ताँबे की बनी हुई साढ़े सात फीट-ऊँची मूर्ति है। इसमें महात्मा बुद्ध खड़े हुये दिखलाये गये हैं और उनके हाथ अभयमुद्रा में हैं। बाल घुंधराले हैं और मुखमण्डल पर करुणा और दिव्यता के दर्शन होते हैं।

(3) **मथुरा की खड़ी मूर्ति** :—यह मूर्ति सात फीट ढाई इंच लम्बी है। मूर्ति में भगवान बुद्ध खड़े हुये दिखलाये गये हैं। इसमें वस्त्रांकन अत्यन्त महीन है और शरीर का अंग-प्रत्यंग झलकता है। चेहरे पर शांति, करुणा, गौरव और आध्या-

1. एन्शिएण्ट इण्डिया, अध्याय 20।
2. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास पृ० 259।

त्मिकता के दर्शन होते हैं। इस मूर्ति के विषय में नाहर ने लिखा है: "मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित एक सजीवाकृति बुद्ध-प्रतिमा गुप्त काल की आध्यात्मिक कला-मयी मूर्तिकला का भव्य नमूना प्रस्तुत करती है। इस मूर्ति में जिस मानसिक सन्तुलन और आध्यात्मिक सन्तुष्टि की अभिव्यक्ति दिखलाई पड़ती है वह यह सिद्ध करती है कि इसके निर्माण का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था और वह शरीर पर आत्मा को विजय प्रदर्शित करना चाहता था। मथुरा की मूर्ति में यह स्पष्ट हो जाता है कि मूर्ति-कला विदेशी प्रभाव से सर्वथा मुक्त थी।"

उपर्युक्त मूर्तियों के अतिरिक्त अनेक बौद्ध देवी देवताओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। गुप्तकाल में अवलोकितेश्वर और मैत्रेय आदि की अनेक मूर्तियाँ गढ़ी गईं।

(4) **प्रस्तर फलक**—गुप्तकाल के अनेक फलक प्राप्त हुये हैं जिसमें बुद्ध की जीवनी को चित्रित किया गया। सारनाथ में अनेक प्रस्तर खण्ड मिलते हैं। पत्थरों में उत्कीर्ण घटनाओं से गुप्तकाल की कला मुखरित हो उठी है।

(ब) **पौराणिक मूर्ति**—(1) **देवगढ़ की विष्णु मूर्ति**—झाँसी जिले में देवगढ़ नामक स्थान में शेषशायी विष्णु की बहुत सुन्दर मूर्ति प्राप्त हुई है। विष्णु की नाभि से कमल निकल रहा है जिस पर ब्रह्मा विराजमान हैं। आकाश में अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अंकित हैं।

(2) **उदयगिरि की वाराहावतार की मूर्ति**—उदयगिरि पहाड़ी पर उत्कीर्ण भगवान विष्णु की वाराहावतार की मूर्ति अत्यन्त सुन्दर है। इस मूर्ति में विष्णु पृथ्वी को पाताल से ऊपर उठाते हुये चित्रित किये गये हैं।

(3) **मथुरा की विष्णु की मूर्ति**—मथुरा की विष्णु मूर्ति अपनी कलात्मकता के कारण सारनाथ की बुद्ध मूर्ति की समता रखती है। इसमें भगवान विष्णु रत्नों से जड़ा मुकुट धारण किये हैं। उनके कानों में आभूषण हैं। शरीर ढँका हुआ है और मुख पर आध्यात्मिक आभा है। इस काल की प्रशंसा में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है :—

"Perhaps the best quality of the Gupta plastic art finds expression in the superb example of Vishnu from Mathura with its face revealing a celestial contentment and serene spiritual contempla-tive similar to that of the Buddha image in the Sarnath museum."

(4) **काशी की कार्तिकेय की मूर्ति**—मोर पर बैठे हुए कार्तिकेय की मूर्ति भी बड़ी रमणीय है। कार्तिकेय के दोनों पैर मोर के गले में पड़े हुये हैं। सिर के ऊपर मुकुट कानों में कुण्डल, गले में हार और चेहरे पर गम्भीरता है।

(5) **कौशाम्बी की सूर्य मूर्ति**—कौशाम्बी की विशालकाय सूर्य मूर्ति भी गुप्त-कालीन मूर्तियों में प्रसिद्ध है।

(6) **शिव मूर्तियाँ तथा शिवलिंग**—गुप्त काल में अनेक शिवमूर्तियाँ और शिवलिंगों का निर्माण हुआ। सारनाथ के संग्रहालय में शिव का एक शीर्ष रखा है। यह शीर्ष जटाओं से युक्त है। नागौर में एक शिवलिंग मिला है जिसके ऊपरी भाग पर शिव का सिर बना है और मस्तक पर तृतीय नेत्र झलक रहा है। शिव की एक अर्ध-नारीश्वर मूर्ति भी प्राप्त हुई।

(स) **जैन मूर्तियाँ**—गुप्त काल में कुछ जैन मूर्तियाँ भी निर्मित हुई थीं। मथुरा में पद्मासन लगाये हुये महावीर स्वामी की मूर्ति प्राप्त हुई है। कुछ मूर्तियाँ गोरखपुर जिले में भी मिली हैं।

(द) अन्य मूर्तियाँ धार्मिक मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। अनेक स्त्री, पुरुष और पशु-पक्षियों की मूर्तियों गुप्तकाल में बनाई जाती थीं। यह मूर्तियाँ पत्थर और धातु के अतिरिक्त मिट्टी से भी बनती थीं। अहिच्छत्र और राजघाट में कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिलती हैं।

गुप्तकालीन अलंकरण के कुछ उपकरण

गुप्तकाल से पहले स्थापत्य और मूर्ति-कला को अलंकरण-युक्त करने का प्रयास नहीं किया गया था। इस काल में ही इस दिशा में प्रयास किया गया। अलंकरण पद्धति में अनेक उपकरणों का प्रयोग किया गया है, जिसमें निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(1) **गंगा-यमुना**—गुप्तकाल में दरवाजे की चौखट के दोनों ओर द्वारपालों की जगह गंगा-यमुना की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। गंगा की मूर्ति दाहिनी ओर और यमुना की मूर्ति बाईं ओर है। गंगा को मकर पर बैठी हुई तथा यमुना को कूर्म पर बैठी हुई चित्रित किया गया है। भूमरा के शिव मन्दिर के दरवाजे पर गंगा-यमुना की सुन्दर मूर्तियाँ मिलती हैं।

(2) **सर्प**—गुप्त मूर्तियों और स्थापत्य में व्याल की अनेक आकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। उसे पंखा, पूँछ और सींग से चित्रित किया गया है। इस प्रकार के अनेक सर्प सारनाथ के संग्रहालय में देखे जा सकते हैं।

(3) **सिंह-मुख**—भवनों और मन्दिरों के दरवाजों पर सिंह-मुख की उत्कीर्ण किये गये हैं। कभी-कभी झरोखों और तालों पर भी उन्हें उत्कीर्ण किया जाता था। इन सिंह-मुखों को कीर्ति-मुख कहा जाता था। देवगढ़ और भूमरा के मन्दिरों में यह प्राप्त हुये हैं।

(4) **पुष्प-पत्र**—गुप्त काल के कलाकारों ने अलंकरण के लिये पुष्पों, पत्तियों, लताओं आदि का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से किया है। साँची और भरहुत के स्तूपों के अलंकरण दर्शनीय हैं। गुप्त काल का यह कला का चित्रण मानव जगत के साथ ही वनस्पति जगत को भी विशेष महत्व प्रदान करता है।

(5) **झरोखे**—गुप्त काल में घोड़े के पैर के आकार के झरोखे बड़ी सुन्दरता से बनाये गये हैं। कहीं-कहीं इन झरोखों में पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ भी स्थापित की गई हैं।

(6) **टेरा-कोटा**—मिट्टी की कला भारत में अति प्राचीन काल से प्रचलित थी। गुप्त-काल में इस कला का अत्यधिक विकास हुआ और उसके अन्तर्गत सौन्दर्य प्रधान और उपयोगिता प्रधान दोनों ही प्रकार की मूर्तियों का निर्माण किया गया। सौन्दर्य-प्रधान मृण्मूर्तियों के द्वारा घरों, स्तूपों और मन्दिरों को सजाया जाता था। इस प्रकार टेराकोटा गुप्त काल की कला की एक मुख्य शाखा थी। यह कला निर्धनों की कला थी और इसके फलस्वरूप ही गुप्त कला साधारण जनता में लोकप्रिय हो गई।

टेराकोटा मूर्तियों के तीन रूप प्राप्त होते हैं—(1) देवता देवियों की आकृतियाँ, (2) पुलिंग और स्त्रीलिंग आकृतियाँ, और (3) पशुओं की छोटी-मोटी आकृतियाँ। देवी तथा देवताओं में दुर्गा, गंगा, यमुना और सूर्य की आकृतियाँ बहुत अधिक मात्रा में बनाई गई हैं। ईरान और मध्य एशिया के निवासियों को भी यह आकृतियाँ प्राप्त हुई। द्वितीय कोटि की कला में हाथी सवारों, वानरों, बौनों; विदूषकों की अनेक आकृतियाँ मिली हैं। मिट्टी की बनी हुई इन आकृतियों को फूलों और पत्तियों से सजाया भी गया है। राजघाट में प्राप्त हुई टेरा-कोटा की मूर्तियों की तुलना मिट्टी में वर्णित गीतों में की गई है। डॉ० अग्रवाल का मत है कि गुप्त-काल की आत्मा इन टेरा-कोटा आकृतियों में निवास करती है। राजघाट और अहिच्छत्र में प्राप्त आकृतियों की सुन्दरता के विषय में उन्होंने लिखा है—

"The Terracotta figures for the recent excavations at Rajghat and Ahichhatra present a feast of beauty to the eyes and the best female heads, skillfully finished, appear like lyric expsersed in clay."

अतः गुप्त काल के कलाकारों के लिये यह कहा जा सकता है कि उन्होंने जिस वस्तु को भी छू लिया उसे सुन्दर बना दिया।

●

10

अजन्ता की चित्रकला

(Ajanta Paintings)

प्रश्न (1) अजन्ता की चित्रकला की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए इस चित्रकला का मूल्यांकन कीजिए।

अथवा

अजन्ता की चित्रकला पर संक्षेप में प्रकाश डालिए और कुछ प्रमुख चित्रों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

भारतीय चित्रकला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भारत की चित्रकला के विश्वविख्यात एवं सर्वोत्कृष्ट रूप के दर्शन अजन्ता की गुफाओं के चित्रों में होते हैं। अजन्ता के चित्रों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम जानकारी 1819 ई० में एक अँग्रेज सर अलेकजेण्डर को प्राप्त हुयी। अजन्ता की गुफाएँ बड़े-बड़े पहाड़ों को काटकर एक मील के वर्गाकार घेरे में नालाकृति एक सिरे से दूसरे सिरे तक बनी हुयी है। अजन्ता में छोटी बड़ी कुल 29 गुफायें हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि प्रारम्भ में अजन्ता की प्रत्येक गुफा में चित्र थे परन्तु आज केवल 1, 2, 9, 10, 16 और 17 नम्बर

की गुफाओं में ही चित्र प्राप्त हो रहे हैं। अजन्ता की चित्रकला किसी एक व्यक्ति या एक काल की नहीं हैं। उदाहरण के हेतु 9 व 10 नम्बर की गुफाओं के चित्र ई० पू० शताब्दी के हैं। इनमें से कुछ चित्र बड़े विकसित हैं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि यह विभिन्न कालों में बने हुये हैं। कुछ चित्र शुंगकालीन और कुषाण-कालीन भी हैं। परन्तु गुप्त काल में जो चित्र बने वे सर्वोत्कृष्ट हैं और अपनी सुन्दरता के लिए विश्वविख्यात हैं।

भारत के प्राचीनतम चित्रों में एक ही रंग का प्रयोग देखने को मिलता है। एक ही रंग से लाइट और शेड दिया जाता था। शायद पौधों के रेशों से शलाकाएँ बनायी जाती थीं और रंगों को पीसने के लिए पाषाण खण्डों का प्रयोग किया जाता था। चित्र बनाते समय पूर्व सतह पर ही प्लास्टर की प्रणाली प्रचलित नहीं थी। सीधी चट्टान पर ही चित्र बनाये जाते थे। जोगीमारा की गुफाओं में इसी प्रकार की चित्रकारी है।

अजन्ता की गुफाओं में सबसे पहले प्लास्टर करने के अच्छे उदाहरण प्राप्त होते हैं। चित्र बनाने के पूर्व चट्टान पर प्लास्टर किया जाता था। प्लास्टर मिट्टी गोबर और टूटी हुई चट्टानों के टुकड़ों को पीसकर बनाया जाता था। सबसे पहले दीवाल को करनी से चिकना किया जाता था जिससे गुफा बनाते समय होने वाले छेनी के गड्ढे पूरी तरह भर जाये तथा रंगने में सुगमता हो। पहले लेप 1/8 इंच से 3/4 इंच तक मोटा होता था। पहले लेप करनी से चौकस किया जाता था और फिर हल्के चूने का लेप किया जाता था।

अजन्ता की चित्रण प्रणाली के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार इसमें विशुद्ध फ्रेस्कों कीप्रणाली को अपनाया गया है और कुछ के अनुसार विशुद्ध टेम्पेरा अथवा फ्रेस्को टेम्पेरा को। कुछ विद्वानों का मत है कि भारतीयों ने फ्रेस्को प्रणाली को अपने ढंग से अपनाया था। फ्रेस्को प्रणाली में चित्र हल्के रहते हैं और टेम्पेरा प्रणाली के चित्र भारी और स्थायी होते हैं। अजन्ता में इन दोनों शैलियों का मिश्रण देखने को मिलता है।

जब उपर्युक्त वर्णित रीति द्वारा रंगने के लिये धरातल तैयार हो जाता था तब गेरू से चित्र की प्राथमिक रूपरेखा बनायी जाती थी। कभी-कभी गेरू के रंग पर गहरे काले अथवा भूरे रंग से सुधार किया जाता था। कदाचित यह कार्य कला-कारों के विशेषज्ञ करते थे। इन चित्रों में बहुत सीमित रंगों का प्रयोग किया गया है। रंग इस प्रकार के होते थे कि चूने पर लगाने में उनमें परिवर्तन न हो। अजन्ता में सफेद, पीले, बादामी, हरे तथा नीले रंगों का प्रयोग किया गया है। श्वेत रंग चूने से बनता था। लाल, बादामी लोहे व सांख्यिा से बनाये जाते थे। बहुमूल्य पत्थरों से नीला रंग बनता था। यह पत्थर बदख्सां एवं फारस से आता था। इन गुफाओं में लाइट और डार्क शेड का प्रयोग हुआ है। इसको प्रदर्शित करने के लिए परस्पर विरोधी रंगों का प्रयोग किया जाता था और अधिक गहरे और हल्के रंगों का प्रयोग किया जाता था।

रूपरेखा तैयार करने के पश्चात् रंगों का प्रयोग इस प्रकार किया जाता था कि दो विरोधी रंग एक साथ न आवें। कभी-कभी रूपरेखा के लाल रेखा के ऊपर पारदर्शक हरे रंग का प्रयोग किया जाता था। एक रंग भरने के उपरान्त उसे सूखने

के लिए छोड़ दिया जाता था और तत्पश्चात दूसरे रंग का प्रयोग किया जाता था। अजन्ता की चित्रकला तीन भागों में बाँटी गयी है :

(1) आलेखन,

(2) वर्णन,

(3) अलंकरण।

आलेखन में महात्मा बुद्ध के चित्र आते हैं। वर्णन में जातक कथाओं के चित्र हैं। अलंकार हेतु पशु-पक्षी, लता, यक्ष एवं गन्धर्व आदि के चित्र चित्रित किये गये हैं।

चित्रों का विभाजन एक अन्य रीति से भी किया गया है—

(1) **बौद्ध धर्म से सम्बन्धित चित्र**—इस प्रकार के चित्रों में प्रथम गुफा का भारत विजय चित्र, अवलोकितेश्वर का विशाल चित्र, 16वीं गुफा में बुद्ध देव के गृह त्याग का चित्र, माता-पिता का प्रसिद्ध चित्र, छदछंत जातक तथा गज जातक के विभिन्न चित्र, बेस्सन्तर जातक का वानप्रस्थी राजकुमार का चित्र आदि उल्लेखनीय है।

(2) **बौद्ध धर्म से सम्बन्ध न रखने वाले चित्र**—गुफा नं० 1 में कुछ विदेशी पुलकेशिन द्वितीय को भेंट देते हुये चित्रित किये गये हैं। इसी गुफा की छत पर बने चित्र में विदेशी सम्राट अपनी रानी के साथ मदिरा पान करते हुए दिखायी गया है। स्त्रियों के विभिन्न मुद्राओं में चित्र मिलते हैं जो अपनी स्वाभाविकता से दर्शकों के मन को मोहित कर लेते हैं।

(3) **सौन्दर्य बढ़ाने के लिए बनाये गये चित्र**—इन चित्रों में पशु, पक्षियों, वृक्षों, लताओं, पक्षों, गन्धर्वों, पशुओं आदि के चित्र आते हैं।

अजन्ता के ये चित्र जीवन की विभिन्न दशाओं का चित्रण करते हैं। एक विद्वान के अनुसार इन चित्रों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई नाटक देखा जा रहा हो।

विशेषताएँ

अजन्ता की चित्रकला के अपूर्व सौन्दर्य और उसकी असाधारण कला-कुशलता का द्योतन करने वाली महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित प्रकार हैं :—

(1) **भावप्रवणता**—भगवान तथागत की अहिंसा, मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदि भावनाओं का दर्शन इन चित्रों से होता है।

(2) **रेखा सौष्ठव**—अजन्ता के चित्रों में रेखाओं का बहुत महत्व दिखाई देता है। चित्रों की रूपरेखाएँ एकदम स्पष्ट हैं।

(3) **रंगों का संयोजन**—अजन्ता के चित्रों में यद्यपि कुछ विशेष रंगों का ही प्रयोग हुआ है तथापि उनका संयोजन बड़ी ही निपुणता के साथ किया गया है। रंग गहरे होने पर भी भारीपन से मुक्त हैं।

(4) **रूढ़िहीनता**—अजन्ता के चित्रकार परम्परा के पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त हैं—यानी चित्रों से सर्वत्र मौलिकता के दर्शन होते हैं। चित्रावली में यथार्थ विषयों की पुनरावृत्ति हुई है, तथापि प्रत्येक स्थान पर चित्रकार का निजी स्वतन्त्र कौशल

विद्यमान है। वाचस्पति गैरोला के शब्दों में, "अजन्ता की चित्रकला एक साँचे में बँधी हुई एक अनुकृति न होकर कलाकार की वास्तविक एवं उदात्त कलावृत्ति की परिचायक है। भाव-विधान उनकी आन्तरिक प्रेरणा का जीवन्त रूप है। रूढ़िवादिता इन चित्रों में यदि कहीं दिखाई देती है तो अलंकारिक चित्रों में, किन्तु उनके मूल में भी मौलिकता है।"[1]

(5) **जीवन की विविधता**—अजन्ता के चित्रों में तत्कालीन रहन-सहन, वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद और सौन्दर्य-सज्जा की सुन्दर झाँकियाँ प्रस्तुत करके भारतीय संस्कृति का विशेषकर गुप्तकालीन संस्कृति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है।

(6) **हस्तमुद्राओं द्वारा भावप्रदर्शन**—भावनाओं, विचारों या विषय की अभिव्यक्ति के लिए अजन्ता की चित्रकला में जिन उपादानों का आश्रय लिया गया है, उनमें हस्तमुद्राओं का विशेष स्थान है। प्रत्येक मुद्रा में कलाकार की शास्त्रीय दृष्टि है। उनमें गति, स्थिरता, मन्थरता, चापल्य आदि का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। हस्तमुद्राओं का ऐसा प्रांजल प्रदर्शन अभूतपूर्व—न भूतो न भविष्यति—है।

(7) **नारी आदर्श रूप**—अजन्ता के चित्रों में नारी को बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया गया है। चित्रों में नारी सार्वभौमिक सौन्दर्य के प्रतीक के रूप में चित्रित की गई है। "अजन्ता के चित्रों में जो सीमाहीन सौन्दर्य व्याप्त है इसकी व्यंजना का साधन नारी है, जो ऐन्द्रिय आकर्षण का केन्द्र-विन्दु न होकर आध्यात्मिकता की परिचायिका है। वह गौरव और गरिमा की विभूति है।"[2]

अजन्ता के चित्रों का संक्षिप्त परिचय—अजन्ता की गुफाओं में प्राप्त चित्रों का वर्णन अनेक विद्वानों ने विस्तारपूर्वक किया है।[3]

गुफा—1	बाईं ओर	शिविजातक	उत्तर गुप्त काल
		विरहिणी	गुप्त काल का अन्त
	बाईं भीत	नागराज सभा	,,
		शंखपाल जातक	गुप्त काल
		महाजनक जातक	,,
		पद्मपाणि बोधिसत्व	,,
		मार विजय	,,
	दाहिनी ओर	पुलकेशिन सभा	उत्तर गुप्त काल
	बाहरी बरामदा	मिथुन	गुप्त काल
		बोधिसत्व चित्रों की पृष्ठिकाएँ (दिव्य गायक अप्सराएँ)	गुप्त काल
		वडरव चक्र	,,

1. भारतीय चित्रकला
2. भारतीय चित्रकला—वाचस्पति गैरोला।
1. देखें—भारतीय चित्रकला (वाचस्पति गैरोला, भारतीय चित्रकला का इतिहास अविनाश बहादुर वर्मा, फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, विसेन्ट स्मिथ।

	बाईं भीत	नलगिरि प्रकरण	गुप्तकाल
		वेस्सन्तर जातक	,,
		सिंहल अवदान	,,
		राहुल समर्पण	,,
		छन्दत जातक	,,
		महाकपि जातक	,,
		हस्ति जातक	,,
	दाहिनी भीत	हंस जातक	,,
		श्रीवस्ती का चमत्कार	,,
	पहली भीत	सिंहल	,,
		श्याम जातक	,,
		महर्षि जातक	,,
गुफा—2	दाहिनी ओर	अजात सभा	गुप्त काल
		महाहंस जातक	,,
	बाईं भीत	माया स्वप्न, तृषित स्वर्ग	,,
		बुद्ध जन्म	,,
	बाँया गर्भ-गृह	पूजार्थी स्त्रियाँ	गुप्त काल का अन्त
	बाईं भीत	विदुर पण्डित जातक	गुप्त काल
	दाहिनी भीत	पूर्णावदान	,,
	दाहिनी ओर	क्षान्तिवादेन जातक	,,
गुफा—6		स्फुट चित्र	,,
गुफा—9		स्तूप पूजा	आन्ध्र काल
		स्फुट चित्र	गुप्त काल
		श्वान जातक	आन्ध्र काल
गुफा—10	खम्भों पर	बुद्ध चित्र	गान्धार शैली
		छन्दत जातक	आन्ध्र काल
गुफा—16		हस्ति जातक	गुप्त काल का अन्त
		नन्द की कक्ष	,,
		बुद्ध का उपदेश	गुप्त काल
	दाहिनी भीत	सुजाता प्रकरण	,,
	बाईं भीत	चार दृश्य	,,
		माया का स्वप्न	,,
		बुद्ध जन्म का दृश्य	,,
		पाठशाला के दृश्य	,,

अजन्ता के कुछ प्रसिद्ध चित्र

(1) **मरणासन्न राजकुमारी का चित्र**—इस चित्र में एक राजकुमारी को मृत्यु शैय्या पर दिखाया गया है। मृत्यु नेत्र बन्ध करना चाहती है। उसके सम्बन्धी उसके चारों ओर खड़े हैं। राजकुमारी कातर नजरों से उनकी ओर देख रही है। चित्र

को देखते ही कला तथा निर्वेद की भावना घर कर लेती है। मृत्यु का शोकाकुल दृश्य देखते ही बनता है। गिफिथ के शब्दों में भावों के प्रदर्शन करुणा की भावना और केवल भावनाओं द्वारा ही कहानी कहने की कला के इतिहास में यह चित्र बेजोड़ है। फ्लोरेन्स कलाकार अपने चित्रों में अजन्ता की अपेक्षा अधिक सुन्दर रूप दिखा सकता है, वेनिस का कलाकार अपने चित्रों में अधिक रंग भर देता है पर अजन्ता के चित्रों के समान भाव प्रकाशन विश्व का कोई कलाकार नहीं कर सकता है।

(2) **महात्मा बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण**—17वीं गुफा काल का यह चित्र बड़ा ही स्वाभाविक है। गौतम शान्त भाव से गृह-त्याग कर रहे हैं। यशोधरा और राहुल सोये हुए हैं। सिस्टर निवेदिता के इस चित्र की प्रशंसा करते हुये इसे अद्वितीय कल्पना का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बताया है। उन्होंने लिखा है कि "यह चित्र सम्भवतः भगवान बुद्ध का सबसे बड़ा कल्पनात्मक प्रदर्शन है जैसा कि संसार ने कभी देखा है। ऐसी अद्वितीय कल्पना कठिनाई से दूसरी बार उत्पन्न हो सकती है।"

(3) **राजा तथा स्वर्ण हंस का चित्र**—17वीं गुफा में गुप्त काल का एक अन्य चित्र है कि जिसमें एक राजा एक स्वर्ण हंस से बातें कर रहा है। इस चित्र की प्रशंसा करते हुये, सिस्टर निवेदिता ने इसे विश्व का सुन्दरतम चित्र बताया है। उन्होंने स्पष्ट किया है—"अजन्ता की गुफा नं० 17वीं में अंकित चित्र से बढ़कर, जिसमें एक राजा स्वर्ण हंस की बात को सुन रहा है—विश्व में कोई दूसरा चित्र नहीं हो सकता।"

(4) **हाथियों के जलूस का चित्र**—इस चित्र में बहुत से हाथी अंकित किये गये हैं। प्रधान हाथी पर राजा बैठा हुआ है। वह अनेक सुन्दर आभूषण धारण किये हैं। दूसरे हाथियों पर स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण धारण किये बैठी हैं। हाथियों की झूल भी अत्यन्त सुन्दर है और रंगीन वस्त्रों की बनी हुई है।

(5) **राजकीय जलूस का चित्र**—इस चित्र में बहुत से स्त्री-पुरुष सुन्दर वस्त्रों एवं आभूषणों को धारण किये हुये चल रहे हैं। कुछ पुरुष के हाथों में छाता है और कुछ के हाथ में बाजा। कुछ स्त्रियाँ फूलों की माला धारण किये हुये हैं।

(6) **माता-पुत्र का चित्र**—गुफा नं० 17 में माता और पुत्र का चित्र बड़ा मनमोहक है। माता महात्मा बुद्ध को भिक्षा दे रही है। बालक के हाथ में एक तथा माता के हाथ में अनेक कंकड़ हैं। माता ने एक महीन वस्त्र पहन रखा है तथा बालक नंगा है। सादगी तथा निर्धनता का यह मूर्तिमान रूप है। रायकृष्णदास के अनुसार यह चित्र यशोधरा तथा राहुल का है। अन्य विद्वान् यह विचार नहीं मानते हैं। यह चित्र बड़ा सजीव, स्वाभाविक तथा सुन्दर है। माता के चेहरे पर गम्भीरता तथा पुत्र के मुख पर सरलता का भाव अंकित किया गया है। देवल आदि विद्वानों ने इस चित्र की अत्यधिक प्रशंसा की।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अजन्ता की चित्रकला अत्यन्त उच्चकोटि की है। विश्व के किसी स्थान पर इससे सुन्दर चित्र मिलना दुर्लभ है। एक विद्वान ने इन चित्रों की प्रशंसा करते हुये लिखा है, अजन्ता के चित्रों में मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, हर्ष, लज्जा, उत्साह, चिन्ता ग्रहण, आदि सभी भाव, पद्मपाणि अवलोकितेश्वर प्रशान्त, तपस्वी, और देवोपम राज-परिवार से लेकर क्रूर व्याघ, निर्दय, वधिक, साधु, वेशधारी धर्त, बान, अनिता आदि सभी तरह के मानव भेद समाधि मग्न बुद्ध

से लेकर प्रणय क्रीड़ा में रत दम्पति और श्रृंगार में लगी नारियों तक सकल मानव व्यापार अंकित है।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं, "लाइनों की लावण्यता, रंगों का चमकीलापन और भावों के प्रकाशन की श्रेष्ठता चित्रों को सदैव अमर रखेगी।" बाशम महोदव इन चित्रों की विविधता के सम्बन्ध में लिखते हैं, "यद्यपि अजन्ता के चित्र धार्मिक दृष्टि से बनाये गये थे; फिर भी वे धर्म-निरपेक्ष भावना के प्रतीक हैं।" उनमें प्राचीन भारत की समस्त सभ्यता का अभ्यास मिलता है।" एक अन्य विद्वान लिखता है, "अजन्ता की कला भारत कला की उच्च कोटि की कला है। यह चित्र-कला आश्चर्यजनक है। यह भारतीय चित्रकला की पराकाष्ठा है।" अजन्ता के चित्रों में मानव की काल्पनिक भावनाओं को विशेष भंगिमा तथा सौन्दर्य के साथ चित्रित किया गया है। कल्पना तथा सौन्दर्य के समन्वय के साथ, धार्मिक शब्दों में, "अजन्ता की कला भारतीय कला का उत्तम शिखर है।"

धर्म
(Religion)

11

सिन्धु-सभ्यता के युग में धर्म

(Religion in Indus Civilization)

प्रश्न (1) सिन्धु-घाटी की सभ्यता के धर्म पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।

सिन्धु-सभ्यता के काल के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं । विभिन्न इतिहासकार उसका समय 2500 ई० पू० से 5000 ई० पू० तक निश्चित करते हैं । सर जान मार्शल इसे 500 वर्ष ई० पू० की सभ्यता मानते हैं । हरिदत्त वेदालंकार इसका समय 3000 ई० पू० निर्धारित करते हैं । डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी और श्री अर्नेस्ट मैके इस सभ्यता का समय 3250 ई० पू० से 3750 ई० पू० ठहराते हैं । सिन्धु-सभ्यता आर्य-सभ्यता नहीं है परन्तु उसकी धार्मिक मान्यतायें आर्यों से कुछ मिलती-जुलती अवश्य हैं ।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त होने वाली मुहरें तथा अन्य चित्र यहाँ के लोगों के धार्मिक विश्वासों का भी परिचय देते हैं । खुदाई में अनेक ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं जिनसे इनके धार्मिक विश्वास एवं जीवन का भली-भाँति पता चलता है । उनके धर्म और धार्मिक विश्वासों के विषय में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं:—

(1) **बहुदेववाद**—यहाँ के लोग अनेक देवी-देवताओं की आराधना करते थे । विद्वानों के अनुसार दो मुख्य शक्तियों की पूजा की जाती थीं—परम पुरुष और परम नारी ।

(2) **मातृ-पूजा**—सिन्धु-सभ्यता के लोग मातृ-देवी की भी पूजा करते थे । कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें एक नारी का चित्र है जो अर्ध-नग्न है । उसकी कमर के चारों ओर एक मेखला है और सिर पर एक विशेष वस्त्र है । इसे देखकर यह आभास होता है कि इसी को परम नारी में रूप में मानकर पूजा की जाती थी । मार्शल ने इसे महादेवी के रूप में माना है । यह सत्य है क्योंकि भारत में माता की आराधना बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है । हड़प्पा से एक लम्बी मुहर प्राप्त हुई है जिसमें पृथ्वी या मातृ पूजा का चित्र है, जिसकी योपनि में एक अंकुर निकल रहा है और पास में छुरी लिए एक पुरुष और एक हाथ ऊपर हटाए हुये एक स्त्री खड़ी है जो सम्भवतः देवी को बलि चढ़ाने के लिये लाई गई थी । उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ के लोग सृष्टि का आरम्भ नारी शक्ति द्वारा मानते थे ।

(3) **मूर्ति-पूजा**—यद्यपि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में किसी भी मन्दिर का भग्नावशेष नहीं मिला है परन्तु यह अनुमान लगाया जाता है कि सिन्ध-

सभ्यता के लोग मूर्ति-पूजक थे। उत्खनन में अनेक लिंग-मूर्तियाँ और योनि-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। विद्वानों के मतानुसार सिन्धु-घाटी के लोग सृष्टिकारिणी शक्ति के रूप में इनकी पूजा करते थे।

(4) **देवी-देवताओं का मानवीकरण**—विश्व की अन्य जातियों की भाँति इन लोगों ने भी अपने देवी-देवताओं को मनुष्य के रूप में देखा। मुहरों और मूर्तियों में मनुष्य की आकृति चित्रित है। इस बात का प्रमाण है कि ये लोग मनुष्य के गुणों को देवी-देवताओं पर आरोपित कर उनकी पूजा करते थे। इस प्रकार इन लोगों ने देवताओं और मनुष्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया था।

(5) **शिवोपासना**—हड़प्पा की खुदाई में एक मुहर प्राप्त हुई है जिस पर बने हुए चित्र में शिव की मूर्ति का आभास होता है। यह एक सिंहासन पर विराजमान है और योग-मुद्रा में भी दिखाई गयी है। इसके दायीं ओर एक हाथी और व्याघ्र, तथा बाईं ओर एक बारहसिंगा और भैंसा है। सिंहासन के नीचे दो हिरन हैं। इस मूर्ति के सिर पर दो सींग प्रदर्शित किए गए हैं। सर जान मार्शल ने कुछ ऐसे तथ्य प्रस्तुत किए हैं जिनसे यह पता चलता है कि यह मूर्ति शिव जी की है। उसके अतिरिक्त कुछ विद्वान इसे चतुर्भुजी देवता का प्रतिरूप मानते हैं।

(6) **पशु-पूजा**—मुहरों पर पशुओं के चित्र मिले हैं। पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों से यह कल्पना की गई है कि ये लोग पशुओं की भी पूजा करते थे। पूजित पशुओं को विद्वानों ने तीन भागों में बांटा है—

(अ) पौराणिक पशु जिनके मानवीय और पाशविक दोनों ही रूप दिखाई देते हैं।

(ब) विलक्षण पशु, जो यद्यपि पौराणिक नहीं हैं। परन्तु फिर भी असाधारण हैं, जैसे एक श्रृंगी पशु।

(स) **साधारण पशु**—जैसे हाथी, बारहसिंगा, व्याघ्र, हरिण, भैंस आदि।

(7) **जल-पूजा**—नदियों को अति प्राचीन काल से पवित्र माना गया है। सिन्धु प्रदेश उत्खनन में जो जलकुण्ड मिला है उसी से यह अनुमान लगाया गया है कि सिन्धु प्रदेश के लोग जल-पूजा भी करते होंगे।

(8) **पादप-पूजा**—वृक्षों के चित्रों से यह पता चलता है कि ये लोग वृक्षों की भी पूजा करते थे। पीपल, नीम आदि वृक्षों को बहुत पवित्र माना जाता था। एक चित्र में एक देवता वृक्षों के मध्य में खड़ा है और उसके सन्निकट ही एक उपासक विनीत भाव से खड़ा है। शायद वह पीपल का ही वृक्ष है। पीपल के वृक्ष की पूजा हिन्दुओं में अब भी होती है।

(9) **सूर्य व अग्नि की पूजा**—सिन्धु प्रदेश के लोग अग्नि की भी पूजा करते थे। कुछ ऐसी वस्तुएँ मिली हैं जिनसे यह पता चलता है कि उस युग में अग्निशालायें भी थीं। वहाँ अग्नि देवता को भी बलि दी जाती थी। कुछ मुहरों पर स्वस्तिका तथा चक्र बना हुआ है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि यहाँ के लोग सूर्य के उपासक थे।

(10) **प्रजनन-शक्ति की आराधना**—शिव की उपासना में योनि तथा लिंग-पूजा का विशेष महत्व माना गया है जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि यहाँ के लोग योनि तथा लिंग की प्रतिमा बनाकर प्रकृति की प्रजनन शक्ति की भी पूजा करते थे। कुछ ऐसे पत्थर प्राप्त हुये हैं जो योनि तथा शिव लिंग के प्रतीक हैं। इस प्रकार ये लोग प्रजनन-शक्ति के भी उपासक थे। यह बात भी हिन्दू धर्म से काफी मिलती-जुलती है।

(11) **अनुष्ठान**—कुछ विद्वानों ने सिन्धु घाटी के लोगों को धर्मानुष्ठानुमूलक भी बताया है। उनका कथन है कि विशाल स्नानागार और उनके समीप के अन्य स्नानागारों से यह प्रकट होता है कि सिन्धु प्रदेश में समय-समय पर धार्मिक समारोह व विशाल पर्व आदि होते होंगे और लोग इन बड़े पर्वों पर स्नान करने के लिये यहाँ आते होंगे। कुछ विद्वानों के अनुसार वृत्ताकार पाषाण-खण्ड शायह वेदी स्तम्भ या यज्ञ स्तम्भ थे। जिनके समीप सिन्धु के निवासी किसी प्रकार की धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करते थे। इस प्रकार की धार्मिक रूढ़ियों और अनुष्ठानों का पर्याप्त विकास इस काल में हुआ था। रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार, "सिन्धु घाटी सभ्यता के निवासियों के धर्म एवं आर्यों के बाद के हिन्दू धर्म में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था।"

(12) **अन्ध-विश्वास**—सिन्धु प्रदेश में कुछ मुहरें तथा ताबीज भी मिले हैं जिनसे यह अनुमान लगाया गया है कि इनके धर्म में अन्धविश्वास भी था। ये ताबीज वे लोग अनिष्ट-निवारण व कल्याण के लिये प्रयोग में लाते थे।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सिन्धु सभ्यता में उच्चकोटि की धार्मिक मान्यतायें थीं। इस सभ्यता का सम्बन्ध चाहे कुछ भी रहा हो परन्तु इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं कि इस काल में धर्म का अत्यन्त व्यवस्थित रूप विद्यमान था।

●

12

वैदिक धर्म

(Vedic Religion)

प्रश्न—वैदिक देवताओं एवं स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डालिए तथा उनकी उपासना पद्धति का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

अथवा

वैदिक देव-मण्डल के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं? इसकी उपासना के लिये किन देवताओं को अपनाया जाता है।

भारत में वैदिक युग की धार्मिक स्थिति का अनुमान वैदिक साहित्य से लगाया जा सकता है। वेद आर्य-धर्म के सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनकी संख्या चार है—(1) ऋग्वेद, (2) यजुर्वेद, (3) सामवेद और (4) अथर्ववेद। वेदों से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थ भी उपलब्ध हो रहे हैं जिनसे वैदिक कर्म के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है। साथ ही उपनिषद्, आरण्यक भी वैदिक धर्म के अन्य प्रमुख स्रोत हैं।

वैदिक देव-मण्डल

वैदिक देव-मण्डल के देवताओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(1) आकशीय देवता, (2) अन्तरिक्षवासी देवता, और (3) पृथ्वीवासी देवता। आकाशवासी देवताओं में सूर्य, सविता, विष्णु, वरुण, मित्र, अश्विन तथा उषा प्रमुख हैं। अन्तरिक्षवासी देवताओं में इन्द्र, वर्जन्य, अपानपात उल्लेखनीय हैं। पृथ्वी वासी देवताओं में अग्नि, बृहस्पति और सोम प्रसिद्ध है। यहाँ हम प्रसिद्ध देवताओं के सम्बन्ध में जो उल्लेख किया गया है उसकी चर्चा संक्षेप में कर रहे हैं—

(1) **इन्द्र**—वैदिक युग में इन्द्र को अत्यन्त पराक्रमी देवता माना जाता था। वह दानवों का संहार करने वाले थे। वह अत्यन्त पराक्रमी थे, युद्धस्थल में विजय प्राप्त करने वाले और शत्रुओं को पर्वत की गुफाओं में खदेड़ने वाले थे। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश से भी वह विशाल थे। वह पृथ्वी से 10 गुना बड़ा था। आकाश और पृथ्वी मिलाकर भी इन्द्र के आधे के बराबर नहीं थे। उसकी मुट्ठी में दोनों लोक समा सकते थे। उसका मुख-मण्डल सूर्य के समान था। अपनी इच्छानुसार वह कोई भी रूप धारण कर सकते थे। सूर्य, सोम या मनु किसी भी समय प्रकट हो सकते थे। उसकी शक्ति अत्यन्त महान् थी। अपने शस्त्रास्त्रों से वह शत्रुओं पर भीषण प्रहार करता था। उसने शराब, वृत्र और अन्य दानवों को खदेड़ दिया। शत्रुओं के दुर्गबुद्ध पुरों को उसने छिन्न-भिन्न कर दिया था। इसी कारण उसका नाम पुरन्दर पड़ा था। उसकी सबसे महत्वपूर्ण विजय वृत्त (अकाल दुर्भिक्ष का दानव) पर थी जिसे उसने अपने व्रज से मुक्त करके जल को मुक्त कर दिया क्योंकि वृत्त के फलस्वरूप ही सप्तसिन्धु की नदियों की धारायें अवरुद्ध हो गई थीं। ऋग्वेद में उसके लिये कहा गया है, "हे इन्द्र, तुमने ही शुष्य (दैन्य) के युद्धों से कुल की रक्षा की, तुमने शंवर (दैत्य) को मारा, तुमने बड़े अर्बुद (दैत्य को इसलिये पैर से मसल दिया, कि तुम अतिथि सम्भवतः किसी दल का नाम) के साथियों की रक्षा कर सको। तुम हमारे शत्रुओं (दस्युओं) को बड़े बलपूर्वक मार रहे हो।" इन्द्र आकाश लोक का प्रमुख देवता था। इसका उल्लेख देवताओं के सम्राट के रूप में भी किया गया है। यज्ञों में भी इन्द्र को प्रमुखता दी जाती थी। वह वीरता के प्रतीक थे।

(2) **वरुण**—वरुण भी एक आकाशवासी देवता हैं। वैदिक युग में वरुण का बहुत अधिक महत्व था। वह संसार के नियन्ता और रति के अधिपति माने जाते थे उन्हें आकाश, पृथ्वी और सूर्य का निर्माता कहा गया है और यह मान्यता थी कि वह माया के रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। इसीलिये उन्हें विश्वतश्चक्षुः (सर्वत्र दृष्टि रखनेवाला) सुक्रतु (अच्छे कार्यों को करनेवाला) धृतव्रत (नियम को धारण करने

वाला) और सम्राट (समान रूप से प्रकाशनशील शासक) कहा गया है तथा पक्षियों और नावों के मार्ग को जानने वाला सर्वज्ञ माना गया है।

वरुण अपने स्पर्शों और सूर्य की किरण एवं गुप्तरों से सदैव घिरे रहते हैं। ये गुप्तचर उन्हें जीवों के हृदय में सोचे गये कार्यों की सूचना तुरन्त देते हैं। इसीलिये यह मान्यता है कि वरुण मानव के सभी शुभ और अशुभ कर्मों का ज्ञाता है और उनके अनुसार ही मानव को फल देता है। वरुण का सम्बन्ध जल से भी स्थापित किया गया है और यही कारण है कि कालान्तर में वरुण जल-देवता ही रह गये। ऋग्वेद युग में वरुण को जो महत्व प्राप्त था, कालान्तर में वह प्राप्त न रहा। उसे जल के देवता के रूप में ही मान्यता प्राप्त रही। वह जल का अधिपति था। अथर्ववेद में कहा गया है कि वह जल का अधिपति था और उसका निवास जल में ही था। 'वाजनसेयी संहिता' में भी इस बात का उल्लेख है कि मातृत्व की भावना से वशीभूत होकर वरुण ने जल को अपना आवास बनाया था।

(3) **सूर्य**—आकाश के देवताओं में सूर्य का अपना विशेष महत्व है। ऋग्वैदिक युग में सूर्य के प्रति आर्यों की स्वाभाविक भक्ति थी क्योंकि वह अपने प्रकाश से समस्त संसार को आलोकित करता है। सूर्य की उपासना पाँच रूपों में की गई है—(1) सूर्य, (2) सवितृ, (3) मित्र, (4) पूषन् और (5) विष्णु। सूर्य का पूजन स्वाभाविक एवं प्राकृतिक रूप में होता था। सवित सूर्य की प्रेरकशक्ति का सूचक था और उसकी प्रार्थना हेतु गायत्री मन्त्र का उच्चारण किया जाता था। मित्र, सूर्य का ही एक अंश था जिसकी आराधना ईरान में अत्यधिक होती थी। वहाँ इसका उल्लेख वरुण के साथ किया गया है। पूषन् भी सूर्य की शक्ति का परिचायक था। वह औषधि और जगत् के संवर्धन में योगदान देता था उसके हाथ में चाबुक था। वह मृतकों को पितरों के समीप ले जाता था। पशुओं का रक्षक था एवं गायों को सकुशल घर पहुँचाता था। ऋग्वैदिक युग में विष्णु विचरण करने वाले सूर्य का ही एक रूप थे। विशाल डगों को भरने के फलस्वरूप उनके लिये 'उपक्रम' 'अरुणाय' शब्दों का प्रयोग किया गया है। विष्णु ने अपने 3 डगों में समस्त संसार को नाप डाला था। इन 3 डगों का अभिप्राय: सम्भवत: 3 लोकों से है 'उत्तरवैदिक' युग में विष्णु का एक स्वतन्त्र और शक्तिशाली बन गये और पुराणों में उन्हें वामन अवतार के रूप में स्वीकार किया गया।

(4) **रुद्र**—रुद्र अन्तरिक्ष के देवता है। वह एक अत्यन्त उग्र देवता थे और झंझावात के साथ आने वाले विद्युत्धारी काले बादलों में उनकी कल्पना की गई थी। रुद्र उग्र रूप में रुद्र थे और सौम्य रूप में शिव। ऋग्वेद में रुद्र और सूर्य की अभिन्नता का उल्लेख हुआ है। संसार का मंगल करने के कारण वह शिव थे। उसकी उपासना उग्र और सौम्य दोनों ही रूपों में होती थी। उग्र रूप में वह अपने विषधर सर्पों से व्याधियों को फैलाने वाला तथा ज्वर के विष से लोगों को त्रस्त करने वाला था। वह आतंक करने वाले देवता भी थे। इसे रुद्र को प्रसन्न करने के लिये प्राणियों की आहुति दी जाती थी। कभी-कभी मनुष्यों की आहुति भी दी जाती थी। अथर्ववेद में रुद्र को भूतपति भी कहा गया है। व्रात्य देवता से भी उसका सम्बन्ध स्थापित किया गया है। कालान्तर में उसे त्र्यम्बक भी कहा गया।

(5) **अग्नि**—पृथ्वीवासी देवता अग्नि का महत्व भी बहुत अधिक था। लौकिक एवं अलौकिक कार्यों के लिये अग्नि की आवश्यकता होती थी तथा यांत्रिक कार्य भी अग्नि के द्वारा ही सम्पन्न किये जाते थे। यह मान्यता थी कि अग्नि की कृपा से मनुष्यों को अभीप्सित वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। अग्नि का शरीर सूर्य की भाँति ही प्रकाशमान था यद्यपि सूर्य भी अग्नि का रूप माना जाता था। ऋग्वेद में लिखा है कि आकाश और पृथ्वी अग्नि की युक्ति से ही आलोकित हैं। भौतिक जीवन में भी अग्नि का महत्व है। अग्नि के बिना यज्ञ सम्पन्न नहीं होते इसलिये उसे पुरोहित, होता, यज्ञिय भी कहे गये हैं। अग्नि आहुतियों का स्वामी और ब्राह्मणों का प्रधान है। देवताओं तक उसके माध्यम से आहुति पहुँचती है। दाह कर्म में भी अग्नि की आवश्यकता होती है। अग्नि का महत्व हव्यों को यज्ञ के माध्यम से देवताओं तक पहुँचाना और शव को दाह करना दोनों ही है। चर, अचर के ज्ञाता होने के फलस्वरूप अग्नि को 'जात-वेदम' भी पुकारा गया है। उसे 'भवन चक्षु' और 'ऋतु-गोपाल' भी कहा गया है। अग्नि का कार्य अत्यन्त नियोजित ढंग से होता है। रोग, शीत, अन्धकार, हिंसक पशु आदि उससे दूर भागते हैं। इस कारण अग्नि मनुष्य जाति का रक्षक है। वह प्राणियों का सहायक एवं उनका सहयोगी है। इसलिये ऋग्वेद में उसे पिता, बन्धु और मित्र के रूप में भी माना गया है।

(6) **सोम**—वास्तव में सोम आर्यों का प्रिय पदार्थ था जिसे कालान्तर में देवता की संज्ञा प्रदान की गई। सोम आर्यों के आनन्द का देवता बना। सोमरस के फलस्वरूप स्फूर्ति, शक्ति और प्रेरणा और आनन्द की प्राप्ति होती है और इसी कारण सोम को आनन्द का देवता माना गया है। ईरान में उसे 'डियानिसस' के रूप में पूजा जाता था। ऋग्वेद के अनुसार सोम की उत्पत्ति सूर्य और बिजली से हुई है। वह सूर्य के साथ प्रकाशित होकर अन्धकार का विनाश करता है। उसे चन्द्रमा भी कहा गया है। सोमरस का सेवन करने वाले आर्य यह कहते थे कि हमने सोमरस का पान कर लिया है, हम अमर हो गये हैं। हम प्रकाशवान हो गये हैं। हमने देवताओं को पहचान लिया है।

(7) **अन्य देवता**—उपर्युक्त देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्य देवताओं का भी उल्लेख किया गया है। अश्विन, वायु, मारुस्त, पर्यजन्य, यम, आदि देवताओं का भी उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। आश्विन को 'द्यो' का पुत्र बताया गया है जो अत्यन्त सुन्दर थे। मरुस्त, रुद्र का पुत्र था और उसी की भाँति भयंकर था। उसे झंझावात का देवता कहा गया है। वायु को कल्याणकारी देवता बताया गया है। पर्यजन्य वर्षा, जल और नदियों का देवता था।

(8) **देवियाँ**—वैदिक युग में देवताओं के अतिरिक्त देवियाँ को भी मान्यता प्रदान की गई थी। ऋग्वेद में ऊषा को प्रधान देवी माना गया है। वहाँ प्रातः कालीन अधिष्ठात्री देवी प्रतिष्ठापित की गई है। सूर्योदय के पूर्व का समय "ऊषा" के नाम से पुकारा जाता है। इसका वर्णन ऋग्वेद में अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है। वह पूर्व क्षितिज में रजनी के घोर अन्धकारमय वस्त्रों को फेंककर जब उदित होती है तो चमकीले वस्त्र से सुसज्जित होकर अलौकित होती है। एक मन्त्र में कहा गया है, "हे देवकन्ये, उषा, मेरे लिये प्रभात करो। विभावरी ऊषा, काल

देवता प्रभूत अन्न देकर प्रभात करो। देवी, दानशील होकर पशु रूपी-धन, के साथ प्रभात करो।

ऊषा को लावण्यमयी रमणी के रूप में भी प्रदर्शित किया गया है जिसकी पूजा सूर्य करता है। ऋग्वेद का यह मन्त्र कवियों की शृंगारिक भावना का द्योतक है। एक मन्त्र में उषा के लिये यह कहा गया है कि उषा समस्त प्रयत्नशील व्यक्तियों को कार्य में संलग्न करती है, भिक्षुओं में उत्साह पैदा करती है और निहारवर्षा होने के फलस्वरूप विलम्ब तक नहीं ठहरती। उषा के आगमन की जानकारी से पक्षी अपने घोंसलों में नहीं बैठते। उषा को हिरण्यवर्षा के रूप में भी चित्रित किया गया है, जिसके सुनहरे रथ को रक्त वर्ण के शक्तिशाली अश्व (किरणें) खींचकर आकाश में लाते हैं।

अदिति को भी एक देवता के रूप में चित्रित किया गया है। वह प्रकृति के निस्सीम का देवीकरण है। अदिति आदमियों की सार्वभौम भावना की देवी है। उन्हें माता-पिता, देवता, आकाश सभी कुछ माना गया है और उनमें भूत और भविष्य की भी कल्पना की गई है। अदिति सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त हैं और उसका प्रभाव सर्वत्र है।

वैदिक साहित्य में सिन्धु नदी को भी देवी के रूप में स्वीकार करने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। उनके द्वारा वन-देवी की प्रतिष्ठा की गई है जिन्हें "आख्यायिनी' कहा गया है। मनुष्य की बुद्धि को देवी का रूप देकर उन्हें सरस्वती का रूप प्रदान किया गया है। कालान्तर में श्रद्धा, मनु आदि अमूर्त गुणों को प्रतीक रूप में देवत्व प्रदान किया गया है।

वैदिक देवताओं का स्वरूप

वैदिक देवताओं का विकास वाह्य और अन्तिम दो स्वरूपों में हुआ है। प्राकृतिक शक्तियों से अत्यधिक प्रभावित थे। आकाश, पृथ्वी, प्रकाश, अन्धकार वर्षा आदि ने उन्हें आश्चर्यचकित कर दिया था। आर्यों ने इन प्राकृतिक शक्तियों को देवता के रूप में स्वीकार किया और फलस्वरूप द्यावा पृथ्वी, इन्द्र, आप, उषा, सूर्य, वरुण आदि शक्तियाँ देवता के रूप में पूज्य रही हैं। आर्यों ने उन्हें मानवोचित गुणों से विभूषित करके उनका स्तवन और पूजन किया। उनकी यह मान्यता थी कि देवताओं की कुदृष्टि से बचने के हेतु उनकी निरन्तर स्तुति की जानी चाहिए। देवताओं से वरदान प्राप्त करने के हेतु आर्य निरन्तर उपासना, अर्चना करते रहते थे।

वाह्य शक्तियों के अतिरिक्त आन्तरिक शक्तियाँ भी मनुष्य को प्रभावित करती हैं। ये शक्तियाँ उसे उचित-अनुचित गुण और अवगुण का ज्ञान प्रदान करती हैं। उसे सद्‌मार्गों पर लगाती हैं, इसलिये वह सरस्वती के रूप में पूजित हैं। श्रद्धा भी अन्तस की ऐसी शक्ति थी जिसके फलस्वरूप मनुष्य दूसरों के प्रति नत होता था तथा देवताओं एवं दूसरों के प्रति विनम्र बनता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक देवताओं का स्वरूप बाह्य और अन्तिम दोनों जगत से सम्बन्धित था और इन्होंने समय-समय पर मनुष्य को प्रभावित किया।'

आर्यों ने देवताओं का मानवीकरण किया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं

कि उन्होंने देवताओं की कल्पना मानवीय आधार पर की थी। मनुष्य में जो भी गुण दिखलाई पड़ते हैं, उनका दर्शन आर्यों ने देवताओं में भी किया था। देवता नैतिकता की प्रतिमूर्ति माने गये हैं। साधारणतः देवता और मानव में यही अन्तर है। मानव मानवोचित दुर्बलताओं, दुष्प्रवृत्तियों से युक्त होता है जबकि देवताओं में यह बातें नहीं होतीं। उनमें अपार शक्ति, नैतिकता और सदाशयता की भावना विद्यमान रहती है। देवताओं का मानवीकरण करके आर्यों ने उन्हें जन सुलभ बना दिया। देवता अत्यन्त उदार, स्नेहयुक्त और मानव को बल प्रदान करने वाले हैं। 'ऋतु' (नैतिक अवस्था) उनका नियामक है, जिसे वह दुच्चरित्र और दुष्चारी को प्रदान नहीं करते। मनुष्य देवता की कृपा का अभिलाषी होता है। उपासक के रूप में वह उपास्य देवता की आराधना करता है जो उसे समाज में आदि मानव, के रूप में प्रतिष्ठित करती है। मानव की देवताओं में सहज लीनता होती है और देवता अपने उपासकों की मनो-भावना को पूरा करते हैं।

वैदिक देवताओं की श्रेष्ठता

देवताओं की संख्या पर्याप्त मात्रा में हो जाने के पश्चात यह विवाद भी उठा कि कौन देवता श्रेष्ठ है? ऋग्वेद के अन्तर्गत सभी देवताओं की श्रेष्ठता का गुणगान किया गया है। कालान्तर में यह सोचा जाने लगा कि कौन देवता किससे श्रेष्ठ है? और सबसे पहले जन्म लेने वाले को किसने देखा है? वायु का उद्गम कहाँ है और वह कहाँ से आती है? किस देवता को हवन देना है? इस सब प्रश्नों के साथ ही देवताओं की श्रेष्ठता के सम्बन्धों में विचार किया जाने लगा। इससे देवता कई कोटियों में बँट गये। पृथ्वी और आकाश के देवताओं को 'द्यावा पृथ्वी' के अन्तर्गत एक कोटि में गृहित किया गया। इसी तरह मित्र, वरण, उषा और रुद्र को भी एक कोटि में रखा गया। मरुतों, आदित्यों और 2 अश्विनों की अलग श्रेणी बनी। अलग-अलग वर्गों में रख देने के फलस्वरूप देवताओं की संख्या में कमी हुई। कुछ एक देवता एक दूसरे से सम्बन्धित बतलाए गये। इन्द्र का पिता द्योष और उसके भाई अग्नि था। मरूती उसका सहगामी था। उससे वृत्र से आप, उषा और सूर्य को मुक्ति दिलाई थी अतः उसे स्वाभाविक रूप से देवताओं में श्रेष्ठ और शक्तिशाली माना गया। सूर्य, अग्नि का रूप था और सोम की बहनें आप थीं। सूर्य मरूतों का पिता था और उसकी प्रिय उषा एवं बहन रात्रि थी। सूर्य-पुत्री सूर्या के पति अश्विन और अदिति के पुत्र आदित्य थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक समाज के अन्तर्गत देवताओं की अलग-अलग श्रेणियाँ बन गई थीं और उनकी संख्या इन श्रेणियों के अनुसार घटती गई। जहाँ तक श्रेष्ठता का प्रश्न है, कभी अग्नि को सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता माना गया तो कभी सोम को। द्यावा-पृथ्वी को भी सम्पूर्ण देवताओं एवं मनुष्यों का जनक माना गया। कालान्तर में वरुण की भी प्रतिष्ठा स्थापित हुई जिससे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र सभी डरते थे। सरितायें उसके आदेश का पालन करती थीं और उसकी माया से संसार का निर्माण और संचालन होता था। परन्तु उसकी प्रभुता भी अधिक समय तक नहीं रही। इन्द्र के उदय के साथ वरुण का महत्व भी घट गया। आर्यों को अनार्यों से युद्ध करने के हेतु एक वीर, कुशल-योद्धा की आवश्यकता थी। वह कुशल और वीर योद्धा इन्द्र ही हो सकते थे। फलस्वरूप, समाज में इन्द्र की श्रेष्ठता स्थापित हो गई और उसे सभी देवताओं में विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया।

वैदिक आर्यों की पूजन-विधि

आर्य अपने देवताओं का पूजन विभिन्न प्रकार से करते थे। उनकी पूजनविधि उनकी जीवन के प्रति आस्था और अनुराग को व्यक्त करती है। आर्य कालान्तर में जीवन के प्रति जागरूक थे और वे अपने देवताओं से 100 वर्षों की आयु, पुत्र, धन-धान्य और विजय की प्रार्थना करते थे। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण वैराग्य का नहीं था बल्कि वे जीवन का पूरा उपयोग करना चाहते थे। प्रवृत्तिमार्गी होने के कारण वे अपने देवता की उपासना में वृद्धावस्था तक मंगलमय जीवन की कामना करते थे।

वैदिक युग में मन्दिर और मूर्ति-पूजा नहीं थी। प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों को प्रसन्न करने की कामना ही थी। आर्य अन्तस में देवताओं का स्मरण करते थे और आध्यात्मिक उपासना के समर्थक थे। देवताओं के पूजन की प्रायः दो विधियाँ प्रचलित थीं—(1) स्तुति या प्रार्थना और (2) यज्ञ।

(1) **स्तुति अथवा प्रार्थना**—देवताओं की पूजा में स्तुति या प्रार्थना का विशेष महत्व था। यह पूजन का सबसे सरल और सुविधाजनक ढंग था। वेदों की ऋचायें एवं सूक्त प्रायः स्तुति ही हैं जिनमें देवताओं को प्रसन्न करने के हेतु उनकी प्रार्थना की गई है। सूक्ति, स्तुति, स्तवन और प्रशंसा आदि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता है और उनसे लौकिक सुखों की प्राप्ति की अभिलाषा की जाती थी। स्तुति की पद्धति अत्यन्त सरल थी। प्रत्येक देवता की स्तुतिपरक रुचियाँ होती थीं जिनका उच्चारण स्तवन के साथ देवताओं को प्रसन्न करने के लिये किया जाता था। ऋग्वेद में केवल इन्द्र से सम्बन्धित ही 250 ऋचायें हैं। समाज का एक वर्ग ऐसा भी था जिसका विश्वास केवल मात्र स्तुति में ही था।

(2) **यज्ञ**—वैदिक आर्यों की पूजन-विधि में यज्ञों का विशेष महत्व था। आर्यों की मान्यता थी कि यज्ञों से देवता प्रसन्न होते हैं। वे भाँति-भाँति के यज्ञ करते थे और हर देवता के हेतु उनकी अलग-अलग ऋचायें थीं। इन ऋचाओं से ही देवता का स्तवन होता था। ऋग्वेद की प्रारम्भिक अवस्था में वाह्य विधानों की जगह मंत्री की सहायता से यज्ञ होते थे, परन्तु कालान्तर में हव्यों की सहायता से यज्ञ की प्रथा चल पड़ी। अब ये यजन यज्ञों में घी, दूध, धान्य और माँस की आहुति देकर किये जाते थे। आर्यों की यह मान्यता थी कि यज्ञ अपनी उत्तुंग ज्वाला, उत्तुंग धूम-राशि के फलस्वरूप हव्य को देवताओं तक अवश्य पहुँचा देंगे। वायु उनके इस कार्य में विशेष सहायक होगी।

आर्य देव ऋण, पितृ-ऋण आदि से उन्मुक्त होने के लिये यज्ञ करते थे। आरम्भ में यज्ञों का उद्देश्य जीवन के सुखों की प्राप्ति ही थी। कालान्तर में उसमें मोक्ष तत्व का समावेश भी हो गया। प्रत्येक गृहस्थ आर्य को पाँच याज्ञिक अनुष्ठान अवश्य करना होता था। ये थे—(1) देव यज्ञ, (2) पितृ-यज्ञ, (3) नृ-यज्ञ, (4) ऋषि यज्ञ, और (5) भूत यज्ञ।

(1) **देव-यज्ञ**--देव यज्ञ प्रत्येक गृहस्थ द्वारा प्रातः काल और सन्ध्याकाल दोनों समय किये जाते थे। इस यज्ञ में अग्नि का ध्यान करके हवन किये जाते थे। इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता था।

(2) **पितृ-ऋण**—पिता और पूज्यनीय व्यक्तियों के हेतु किये गये तर्पण को पितृ-यज्ञ की संज्ञा दी जाती थी।

(3) **नृ-यज्ञ**—अतिथियों को सेवा-सत्कार और उनके पूजा-उपासना को नृ-यज्ञ के नाम से पुकारा जाता था।

(4) **ऋषि-यज्ञ या ब्रह्मयज्ञ**—पुराने ऋषियों द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों एवं तत्वों का नियमपूर्वक अनुशीलन और उनके ग्रन्थों के स्वाध्याय को ऋषि-यज्ञ कहा जाता था।

(5) **भूत यज्ञ**—विभिन्न प्राणियों को बलि प्रदान करके उन्हें सन्तुष्ट रखने को भूत यज्ञ की संज्ञा दी गई। प्रत्येक गृहस्थ का यह कर्तव्य था कि वह कुत्ते, कौवे आदि सभी प्राणियों का पालन-पोषण करे। यही कारण था कि घर में जो भोजन बनता था उसका एक भाग विभिन्न प्राणियों के हेतु अलग कर दिया जाता था।

उपर्युक्त यज्ञों के अतिरिक्त विशेष प्रकार के अवसरों पर विशेष प्रकार के यज्ञों का आयोजन किया जाता था। अमावस्या को 'दृश्य-यज्ञ' पूर्णमासी को 'पूर्णमास-यज्ञ' होते थे। माघ में कृष्ण पक्ष की अष्ठमी को अग्रहायण मास में अग्रहारिणी यज्ञ की व्यवस्था थी। चैत्र मास की पूर्णिमा को "चैत्रीय यज्ञ" किया जाता था। कुछ यज्ञ इस प्रकार के थे कि उनमें धन की काफी आवश्यकता पड़ती थी और उन्हें हर व्यक्ति सम्पादित नहीं कर सकता था। जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि सोम यज्ञ इसी प्रकार का यज्ञ था। अग्निष्टोम यज्ञ निरन्तर पाँच दिन तक होता था। चातुर्मास्य यज्ञ चार महीने में समाप्त होता था। जब किसी राजकुमार को राजपद पर बैठाया जाता था तो राजसूय यज्ञ किया जाता था। इस यज्ञ को किये बिना कोई राजपीठि पर नहीं बैठ सकता था। सार्वभौम और चक्रवर्ती पद प्राप्त करने हेतु राजाओं द्वारा राजसूय यज्ञ किये जाते थे। इस प्रकार के यज्ञ में सुसज्जित 'घोड़ों को कुछ व्यक्तियों की देख-रेख में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने हेतु छोड़ दिया जाता था। ये घोड़े जब सभी दिशाओं से बिना किसी बाधा के वापस आ जाते थे तो अश्वमेध यज्ञ की विधि सम्पन्न की जाती थी। इस प्रकार के यज्ञ अनेक राजाओं द्वारा किये गये। इस यज्ञ का प्रयोजन यह प्रदर्शित करना भी था कि अन्य प्रदेशों के राजाओं ने यज्ञ कराने वाले राजा के प्रभाव को स्वीकार कर लिया है।

ऋग्वैदिक युग के बाद यज्ञ अत्यन्त जटिल होते गये। यज्ञों की योजना के हेतु विशेषज्ञ पुरोहितों की आवश्यकता पड़ने लगी। पहले अधिक से अधिक सात पुरोहित ही भाग लेते थे परन्तु अब 17 पुरोहितों का होना आवश्यक हो गया। कुछ यज्ञ इस प्रकार भी होते थे जो वर्ष भर चलते रहते थे। फलस्वरूप समाज में पुरोहितों का महत्व बढ़ता गया। एक समय तो ऐसा आया कि उनके निर्देश के बिना कोई कार्य हो ही नहीं सकता था। इन्हीं की प्रेरणा से देवताओं का स्वरूप बदलता गया और इसके साथ ही यज्ञों के विधि-विधान में भी परिवर्तन आता गया।

बौद्ध धर्म
(Buddhism)

प्रश्न (1) महात्मा बुद्ध के जीवन-चरित्र का संक्षिप्त परिचय दीजिए और बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए ।

महात्मा बुद्ध की जीवनी

बौद्ध धर्म संसार के विभिन्न धर्मों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है । इस धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध थे । महात्मा बुद्ध के विषय में बौद्ध साहित्य से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है । यद्यपि यह ठीक है कि महात्मा बुद्ध के अनुयायिगों ने अनेक मनगढ़न्त कहानियाँ बाद में गढ़ लीं, परन्तु सही तथ्यों का भी अभाव नहीं है ।

प्रारम्भिक जीवन—महात्मा बुद्ध कई नामों से प्रसिद्ध हैं । उनको बुद्ध और शाक्यमुनि भी कहा जाता है । उनके पिता शाक्य वंश के राजा शुद्धोधन थे, जिनकी राजधानी कपिलवस्तु थी । महात्मा बुद्ध का जन्म 563 ई० पूर्व में लुम्बनी नामक स्थान पर माया देवी (महामाया) के गर्भ से हुआ था । कहा जाता है कि प्रसव काल में जब माया देवी अपनी बहन प्रभावती, जो राजा की दूसरी रानी थी, के साथ अपने पिता के घर जा रही थी उसी समय ही मार्ग में लुम्बिनी नामक स्थान पर गौतम बुद्ध का जन्म हुआ । गौतम के जन्म के कुछ ही दिनों पश्चात् उनकी माता का स्वर्गवास हो गया और उनके पालन-पोषण का भार उनकी सौतेली माता प्रभावती पर पड़ा । उनके जन्म के समय ही कालदेवल नामक एक तपस्वी ने यह भविष्यवाणी की थी कि यह बालक आगे चलकर 'बुद्ध' होगा । गौतम के समस्त कार्य भविष्य में सिद्ध हो, इसी कारण इनका नाम सिद्धार्थ रखा गया ।

सिद्धार्थ बचपन से ही अत्यन्त गम्भीर प्रकृति के थे और वह घंटों एकान्त में बैठकर चिन्तन किया करते थे । प्रायः वन में जाकर किसी वृक्ष की छाया में विचारमग्न हो जाते थे । राजा शुद्धोधन ने उनका पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार से किया । उनके लिये आमोद-प्रमोद की सभी वस्तुयें एकत्रित की गईं, परन्तु गौतम का मन किसी में भी नहीं लगा ।

राजा शुद्धोधन की यह प्रबल इच्छा थी कि गौतम राजकीय वैभव में लिप्त रहे और उनका मन सांसारिक क्रिया-कलापों में लगा रहे । इसी कारण उन्होंने गौतम का विवाह यशोधरा नाम की एक सुन्दरी राजकुमारी से कर दिया । यशोधरा का नाम गोपा भद्दकच्छा और बिम्बा भी था । वह अत्यन्त सुन्दरी थी । परन्तु इस विवाह के पश्चात् भी गौतम के विचारों में कोई अन्तर नहीं आया । कुछ समय पश्चात् गौतम के एक पुत्र भी हुआ जिसका नाम राहुल रखा गया । पुत्र जन्म पर गौतम को कोई प्रसन्नता नहीं हुई और उनके मुँह से 'राहु (बन्धन) उत्पन्न हुआ'

शब्द निकला । गौतम दिन प्रतिदिन सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए चिन्तित रहने लगे ।

चार बड़े संकेत और गृह त्याग—गौतम की दशा को देखकर महाराज शुद्धोधन अत्यन्त दुखी हुए । उन्होंने गौतम को सांसारिकता में लिप्त रखने के अनेक प्रयत्न किये परन्तु वह सफल नहीं हुये । इन्हीं दिनों गौतम ने चार ऐसे दृश्य देखे जिनसे उनका जीवन पूर्ण रूप रूप से पलट गया । एक दिन जब वह अपने रथ पर सवार होकर सैर के लिए जा रहे थे उन्होंने एक वृद्ध को देखा जिसकी कमर झुकी हुई थी, दाँत किटकिटा रहे थे और जो एक लकड़ी के सहारे घिसटता हुआ सा चल रहा था । उसको देख कर गौतम ने सोचा···मनुष्य कितना मूर्ख है कि अपनी युवावस्था पर इतना गर्व करता है ।'' दूसरे अवसर पर उन्होंने एक रोगी को देखा जिसका शरीर ज्वर से जल रहा था । जिसका न कोई घर था और न मित्र । काल उसे अपने में समेटने का प्रयत्न कर रहा था । रोगी की इस अवस्था को देख-कर गौतम ने सोचा, धिक्कार है ऐसे स्वास्थ्य को जिसका विनाश रोग द्वारा होता है । तीसरे अवसर पर उन्होंने एक अर्थी देखी जिसके पीछे मृत व्यक्ति के सम्बंधी रोते हुए चले जा रहे थे । उसको देखकर गौतम ने विचार किया, ऐसे जीवन का क्या आकर्षण जिसका अन्त इतना दुखमय हो । अन्तिम बार उन्होंने एक संन्यासी देखा जो सांसारिक बन्धनों को तोड़ कर मोक्ष के लिए प्रयत्नशील था । गौतम संन्यासी के जीवन से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने संन्यासी होने का दृढ़ निश्चय किया । एक रात्रि अपनी पत्नी और बच्चे को सोता हुआ छोड़कर घर से निकल पड़े । उनके साथ केवल छन्दक नाम का सारथी था । समस्त रात्रि वह अश्व-परिचालन करते हुए प्रातः काल अनोमा नदी के किनारे पहुँचे । वहाँ उन्होंने अपने राजसी वस्त्र और हीरे जवाहरात छन्दक को दे दिये और संन्यासी रूप धारण कर लिया ।

ज्ञान की खोज में—गृह-त्याग के पश्चात् गौतम ने सात दिन अनुपोय नामक आम के बाग में व्यतीत किये । तत्पश्चात् वह गुरु की प्राप्ति के लिये मगध की राजधानी राजगृह पहुँचे । वहाँ के राजा ने गौतम को पर्याप्त ऐश्वर्य प्रदान करना चाहा परन्तु गौतम ने इन्कार कर दिया । तत्पश्चात् वह अलारकालाम नामक एक तपस्वी के पास गये । यह किसी सीमा तक साँख्योपदेशक थे । कुछ दिन वह अलार-कलाम के पास रहे परन्तु यह जानकर कि अलारकलाम का यह धर्म न निर्वेद के लिए, न वैराग्य के लिए न विरोध के लिये, न अभिन्न के लिये, न सम्बोध के लिये और न निर्माण के लिये, गौतम ने अलारकालाम का साथ छोड़ दिया ।

इसके बाद गौतम रामपुत्र नामक एक आचार्य के पास गये । यह 'नव संज्ञानासंज्ञायतन' नामक योग पर उपदेश देते थे । ये भी गौतम को सन्तोष प्रदान न कर सके । गौतम पुनः ज्ञान की प्राप्ति की दिशा में बढ़ते गये । वे उरूबेला नामक स्थान में पहुँचे जहाँ उनको कौण्डिन्य आदि 5 साधक मिले ।

जब गौतम को कहीं भी सन्तोष की प्राप्ति नहीं हुई तो उन्होंने स्वयं तप करना आरम्भ कर दिया । कठोर तप करने के कारण उनका शरीर अत्यन्त जर्जर हो गया परन्तु उन्हें ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई । गौतम ने तपस्या को व्यर्थ जानकर

उसका परित्याग कर दिया और पुनः भोजन करना प्रारम्भ कर दिया। उनके साथी 5 ब्राह्मण तपस्वियों ने समझा कि गौतम अपने मार्ग से विलग हो गये हैं अतः उन्होंने गौतम का साथ जोड़ दिया।

ज्ञान की प्राप्ति—इसके बाद गौतम गया पहुँचे और वहाँ एक बट-वृक्ष के नीचे समाधि में लीन हो गये। उन्होंने समाधि तब तक न त्यागने का निश्चय किया जब तक ज्ञान की प्राप्ति न हो जाय। सात दिन और रात वे समाधि में स्थिर रहे। आठवें दिन बैसाख पूर्णिमा पर गौतम को ज्ञान प्राप्त हुआ और इस प्रकार उनकी जीवन-साधना पूर्ण हुई। उसी दिन से वे तथागत हो गये। उनके बोध प्राप्ति के कारण गया 'बोधगया' और 'बट-वृक्ष' के नाम से प्रख्यात हुआ। यह घटना महान बोध (Great Enlightment) के नाम से प्रसिद्ध है और इसके बाद वह महात्मा बुद्ध कहलाने लगे।

धर्म-प्रचार—एक दिन गौतम बुद्ध बोधगया में जब एक वृक्ष के नीचे बैठे थे तो उनके समक्ष तपस्तु और मल्लिक नाम के दो बन्जारे उपस्थित हुए। महात्मा बुद्ध ने उन्हें उपदेश देकर अपना शिष्य बना लिया। यही दो व्यक्ति बौद्ध के सर्व प्रथम अनुयायी थे। तत्पश्चात् महात्मा बुद्ध ने सोचा कि पीड़ित मानवता के कल्याण के लिए धर्म-प्रचार आवश्यक है। गौतम बुद्ध इस निश्चय पर पहुँचे कि उनके ज्ञान द्वारा मानव-मात्र का कल्याण होना चाहिये। सर्वप्रथम वह काशी के निकट सारनाथ स्थान पर पहुँचे। वहाँ पर उनको वे पाँचों साथी मिले जिन्होंने उनका साथ छोड़ दिया था। गोतम बुद्ध के इन शिष्यों को 'पंचवर्गीय' कहते हैं। सर्वप्रथम उन्होंने इनको अपने धर्म का उपदेश दिवा। इन घटना को 'धर्मचक्र प्रवर्तन' कहते हैं। इसके पश्चात् बुद्ध जो की कीर्ति चारों दिशाओ में फैलने लगी और उनके अनुयायियों और शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। अब बुद्ध जी ने अपने शिष्यों का एक संघ बनाकर उन्हें धर्म प्रचार करने का उपदेश दिया, भिक्षुओ जाओ और इस सर्वोत्तम धर्म का प्रचार करो। तुम लोगों के हित के लिए लोगों के कल्याण के लिए, देवी और मानवों के कल्यण के लिए घूमो। इस धर्म का प्रचार करो, जिसका आदि युगल है, मध्य युगल है और अन्त में भी कल्याणकारी है।" इस संघ ने बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य आरम्भ किया। उन्होंने स्वयं अपने जीवन के अन्तिम 45 वर्ष भ्रमण करके धर्मप्रचार में व्यतीत किये। उन्होंने बिहार, अवध; अयोध्या, श्रावस्ती, राजगृह में बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

महात्मा बुद्ध का पुनः कपिलवस्तु आना—प्रचार करते हुये गौतम बुद्ध अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु पहुँचे, जहाँ लोगों ने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। यहाँ पर उनका पुत्र राहुल और उनका भाई नन्द उनके शिष्य हो गये। उनकी पत्नी यशोधरा उनकी शिष्या बन गई कुछ समय यहाँ रुककर गौतम ने अपने धर्म का प्रचार किया।

परिनिर्वाण—अपने धर्म का प्रचार करते हुये अस्सी वर्ष की आयु में वह कुशीनगर पहुँचे। यहाँ उन्हें अतिसार रोग ने घेर लिया। मृत्यु शैया पर लेटे हुये उन्होंने अपने एक शिष्य को धैर्य देते हुये कहा, "मेरे विदा होने पर मत रोओ और धीरज धारण करो और अपना निर्वाण अपने प्रयत्नों द्वारा पूरा करो।" इसके

पश्चात् उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी। इस घटना को उनके अनुयायी 'महा-निर्वाण कहते हैं।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त

धर्म की विशेषताएँ—महात्मा बुद्ध मुख्य रूप से समाज-सुधारक थे और गौण रूप में धर्म संस्थापक। सत्य यो यह है कि महात्मा बुद्ध ने एक नवीन धर्म की स्थापना करने के बजाय प्राचीन धर्म में चली आती हुई अनावश्यक रूढ़ियों को समाप्त करने का प्रयत्न किया। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते समय उन्होंने बार-बार कहा। एष धम्मो सनातनः "अर्थात् वे किसी नवीन धर्म का प्रतिपादन नहीं चाहते वरन् जो धर्म सनातन काल से चला आ रहा है उसी की पुनर्स्थापना करना चाहते हैं। उन्होंने वाद-विवाद के पचड़े में फँसना उचित नहीं समझा उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा था, "भिक्षुओं इसे कहते हैं मतों में जा पड़ना, मतों की गहनता, मतों का कान्तार; मतों का दिखाना मतों का फन्दा और मतों का बन्धन। इन मतों के बन्धन में बंधा हुआ आदमी जिसने सदैव धर्म को नहीं सुना वह जन्म, बुढ़ापा तथा मृत्यु से मुक्त नहीं होता, शोक से रोने-पीटने से, पीड़ित होने से, चिन्तित होने से भी मुक्त नहीं होता। मैं कहता हूँ कि वह दुख से पार नहीं होता।"

इस प्रकार बौद्ध धर्म को अध्यात्मशास्त्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें महात्मा बुद्ध ने अपने विचार नहीं व्यक्त किये हैं। वह सृष्टि का निर्माण, उसके विभिन्न तत्वों और परम तत्व के पचड़े में पड़ना मानवीय उत्कर्ष के लिये व्यर्थ समझते थे अतः उन्होंने कभी भी अपने अनुयायियों को इन सूक्ष्म तत्वों के विवेचन में पड़ने के लिये प्रोत्साहित नहीं किया। महात्मा बुद्ध का धर्म अत्यन्त व्यावहारिक था। वह धर्म को मानव के उत्कर्ष का साधन मानते थे। उनकी दृष्टि में "धर्म ही मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, इस जन्म में और पर जन्म में भी। वह जीवन का विषय है मृत्यु का नहीं। अन्य धर्मों के प्रतिकूल वह इसी जीवन में निर्वाण दिलाता है।" महात्मा बुद्ध सदैव धर्म के यथार्थ रूप को महत्व देते थे। उनका धर्म किसी यान्त्रिक कर्मकाण्ड पर आधारित नहीं था। उसमें विरागवृत्ति, असंग्रह सन्तोष आदि भावनाओं का कर्म के साथ सामन्जस्य है। गौतम का धर्म विश्व के लिये है, उसमें 'बहुजन हिताय' की भावना है। उसमें चरित्र की पवित्रता, सत्य, प्रेम और बड़े का सत्कार आदि पर बल दिया गया है।

(1) **दुख और दुख निरोध**—सारनाथ में दिये गये अपने पहले उपदेश धर्म चक्र प्रवर्तन में महात्मा बुद्ध ने अपनी समस्त शिक्षाओं का निचोड़ रख दिया है। उन्होंने यह बतलाया है कि मनुष्य के जीवन में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक दुख ही दुख है। इस सम्बन्ध में उन्होंने चार आर्य सत्यों पर बल दिया है :—

(अ) **संसार में दुख ही दुख है**—महात्मा बुद्ध ने जीवन को बहुत निकट से देखा था और यह अनुभव किया था कि संसार दुखमय है। मनुष्य को पग-पग पर कठिनाइयों का सामना करना होता है। जीवन का कोई क्षेत्र भी ऐसा नहीं है जिसमें दुख न हो। जन्म, वृद्धावस्था, मरण, प्रिय का वियोग, अप्रिय का मिलन आदि सभी में दुख व्याप्त है।

(ब) **दुख का कारण तृष्णा है**—संसार के दुखमय रूप को स्पष्ट करने के

पश्चात् महात्मा बुद्ध ने बतलाया कि दुख का कारण तृष्णा में फँसे हुये मनुष्य को दुख से छुटकारा नहीं प्राप्त होता।

(स) दुख का नाश तृष्णा के नाश से सम्भव है—महात्मा बुद्ध का कथन था कि यदि दुख का अन्त करना है तो तृष्णा का परित्याग करना चाहिये। तृष्णा के समाप्त होने पर दुख की समाप्ति होती है। उनका कहना था "संसार में जो कुछ भी प्रिय लगता है, संसार में जितने रस मिलते हैं, उसे……जो भी श्रवण, ब्राह्मण, दुख-रूप समझेगा, रोग-रूप समझेगा, उससे डरेगा वही तृष्णा को छोड़ सकेगा।"

(द) दुख का निरोध का उपाय—तृष्णा एवं अन्याय दूषित मनोवृत्तियों एवं संस्कारों के निरोध के लिये महात्मा बुद्ध ने 'अष्टांगिक मार्ग' का प्रतिपादन किया। इस अष्ठांगिक मार्ग का ही 'दुख निरोधगामिनी प्रतिपदा' कहा जाता है। इस मार्ग के अंग निम्नलिखित हैं :—

(1) सम्यक् दृष्टि विश्वास)
(2) सम्यक् संकल्प (विचार)
(3) सम्यक् वाक् (वचन)
(4) सम्यक् कर्मन्त (कर्म)
(5) सम्यक् आजीविका (वृत्ति)
(6) सम्यक् व्यायाम (श्रम)
(7) सम्यक् स्मृति
(8) सम्यक् समाधि।

(1) **सम्यक् दृष्टि**—सम्यक् दृष्टि को ग्रहण कर मनुष्य पाप-पुण्य, सदाचार बुराई में भेद कर सकता है। चार आर्य सत्यों को सम्यक् दृष्टि से जान सकते हैं।

(2) **सम्यक् संकल्प**—कामना और हिंसा से मुक्त होना सम्यक् संकल्प है।

(3) **सम्यक् वाणी**—धर्म में प्रयुक्त सत्य, नम्र, मृदु वाणी सम्यक् वाणी है।

(4) **सम्यक् क्रमान्त**—सत्कर्म करना सम्यक् कर्मान्त है।

(5) **सम्यक् आजीविका**—शुद्ध ढंग से रहना सम्यक् आजीविका है।

(6) **सम्यक् व्यायाम**—शुद्धज्ञान युक्त प्रयत्न जिससे धर्म की दृष्टि उत्पन्न हो, सम्यक् व्यायाम है।

(7) **सम्यक् स्मृति**—समस्त कार्यों को विवेकपूर्वक करना स्मृति है।

(8) **सम्यक् समाधि**—चित्त को एकाग्र करना ही सम्यक् समाधि है।

(2) **मध्य मार्ग**—गौतम ने अपने धर्म को मध्यमार्गीय बतलाया है। ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि गौतम ने जिस मार्ग को प्रशस्त किया उसमें शारीरिक कष्टों पर बल नहीं दिया गया है उसमें न तो अत्यन्त शारीरिक सुख और कष्ट के लिये अवकाश था। वास्तव में दोनों कोटियों के बीच का मार्ग था। महात्मा बुद्ध स्वयं कहा करते थे, "भिक्षुओं को दोनों चर्म कोटियों की सेवा नहीं करना चाहिये। भोगविलास में लिप्त रहना और शरीर को कष्ट देना।" इसी से गौतम के मार्ग को मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) कहा जाता है।

(3) **सदाचार का जीवन**—महात्मा बुद्ध ने सदाचार पर अत्यधिक बल

दिया। उन्होंने बतलाया कि अष्टाँगिक मार्ग का पालन तभी सम्भव है जब मनुष्य का आचरण अच्छा हो। अन्तःशुद्धि पर उन्होंने विशेष बल दिया। सदाचार के लिये उन्होंने 10 नियम बतलाये, (1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) ब्रह्मचर्य (4) कोमल शय्या का त्याग, (5) नृत्य, गान एवं मादक वस्तुओं का त्याग, (6) सुगन्धित वस्तुओं का त्याग, (7) वासना वस्तुओं का भी संग्रहीत करना, (8) असमय भोजन न करना, (9) धन का त्याग और (10) बुरे विचारों का त्याग।

(4) **कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त**—महात्मा बुद्ध ने कर्म के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया है। उनका मत था कि व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसी प्रकार उसे फल मिलता है। अच्छे कर्मों द्वारा पापों से छुटकारा मिल सकता है। गौतम के अनुसार संसार में जो असमानता है, वह अच्छे बुरे कर्मों का फल है। कर्मों को करता हुआ व्यक्ति अच्छा या बुरा जन्म पाता है। गौतम के अनुसार तृष्णा और अहंकार के कारण मनुष्य पुनर्जन्म ग्रहण करता है।

(5) **अहिंसा**—महात्मा बुद्ध ने अहिंसा के सिद्धान्त पर भी अत्यधिक बल दिया। वह हिंसा के विरोधी थे। उन्होंने जीव हत्या और माँस खाने का निषेध किया।

(6) **ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास**—अधिकांश विद्वान् बौद्ध धर्म को अनीश्वरवादी मानते हैं और उनका मत है कि महात्मा बुद्ध ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक पचड़ों में नहीं पड़े। ईश्वर है या नहीं, यदि है तो उसका रूप क्या है और वह कहाँ रहता है। गूढ़ समस्याओं का विवेचन गौतम ने नहीं किया।

(7) **वेदों में अविश्वास**—महात्मा बुद्ध और उपनिषदों आदि में विश्वास नहीं करते थे। उनका कथन था कि वेद आदि ग्रन्थ जिनका विषय इतना जटिल और रहस्यमय है कि वह आसानी से समझ में नहीं आ सकते, जनता के लिए लाभदायक नहीं है।

(8) **अनात्मवाद**—महात्मा बुद्ध आत्मा में भी विश्वास नहीं करते थे। उनका मत था कि शरीर अनेक तत्वों से बना है। मृत्यु के पश्चात् यह समस्त तत्व अलग हो जाते हैं। मैक्समूलर ने लिखा है कि गौतम, जो संसार का कल्याण करना चाहते थे, आत्मा के सम्बन्ध में कोई दार्शनिक विचार नहीं रखते थे। वह केवल जन-कल्याण की भावना से प्रभावित थे।

(9) **निर्वाण सर्वोच्च उद्देश्य**—महात्मा बुद्ध के अनुसार जीवन का लक्ष्य निर्वाण है। निर्वाण किसी अन्य लोक की वस्तु नहीं है, न ही उसकी प्राप्ति मृत्यु के बात होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि बुद्ध के निर्माण का अर्थ "स्वयं का शून्य हो जाना।" वास्तव में महात्मा बुद्ध के अनुसार निर्वाण उस अवस्था का नाम है जिससे अज्ञान और अविद्या रूपी अन्धकार दूर हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति इसी लोक में हो सकती है। महात्मा बुद्ध ने एक स्थान पर कहा था कि जो किसी की हिंसा नहीं करता, शरीर की वृत्तियों का संयम द्वारा पापों से बचाए रहता है वह अच्युत निर्वाण पद को प्राप्त करता है जिसमें शोक और संताप का नाम भी होता है।

प्रश्न (2) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखो—(1) बौद्ध संघ

(2) बौद्ध साहित्य (3) बौद्ध धर्म की चार संगीतियाँ (सभायें) तथा (4) महायान और हीनयान ।

(1) बौद्ध संघ

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म प्रचार के हेतु संघ की स्थापना की । इस संघ का संगठन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया था । पन्द्रह वर्ष की आयु के ऊपर के प्रत्येक स्त्री-पुरुष संघ का सदस्य हो सकता था । संघ में किसी प्रकार का जातिगत भेदभाव नहीं होता था ।

संघ में प्रवेश पाने के इच्छुक व्यक्ति को कुछ समय तक एक भिक्षु के पास रहना होता था जो इसे प्रारम्भिक शिक्षा देता था । प्रारम्भिक शिक्षा को प्राप्त करने के पश्चात् ही कोई व्यक्ति संघ में सम्मिलित हो सकता था । प्रत्येक भिक्षु को संघ के नियमों का पालन करना होता था और भिक्षु बनते समय उसे तीन प्रतिज्ञायें लेनी पड़ती थीं । उसे बुद्ध, धर्म और संघ के शरण में आने का वचन होता था । संघ में रहकर भिक्षु को अत्यन्त कठोर एवं संयमित जीवन बिताना होता था । उसे त्याग एवं पवित्रता की भावना से युक्त होना होता था ।

धार्मिक संघों की स्थापना में महात्मा बुद्ध ने संघ-राज्य की कार्य-विधि को अपनाया । सब जगह भिक्षुओं का अलग-अलग संघ होता था और प्रत्येक संघ का अपने-आप में पृथक् एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता था । समस्त भिक्षु बैठकर किसी बात का निर्णय लेते थे । प्रत्येक प्रस्ताव तीन बार दुहराया जाता था । फिर उस पर बहस होती थी और तत्पश्चात् मतों के आधार पर निर्णय लिया जाता था । संघ के लिए कोरम का प्राविधान था । कोरम के बिना कोई सभा नहीं हो सकती थी ।

बौद्ध धर्म के प्रसार में इन संघों ने महान् योगदान दिया ।

(2) बौद्ध साहित्य

बौद्ध साहित्य में तीन पिटक (त्रिटिपक) हैं । यह त्रिटिपक निम्नलिखित हैं—

(1) विनय पिटक, (2) सुत्त पिटक, (3) अभिधम्म पिटक ।

(1) **विनय पिटक**—विनय पिटक के आचार सम्बन्धी नियमों की चर्चा है । इन नियमों का पालन प्रत्येक भिक्षु के लिए आवश्यक है । इसके तीन भाग हैं—(1) सुत्त विभंग (2) खन्धक (3) परिवार ।

विनय पिटक का सार परिवार में है, और इसमें प्रश्नोत्तर के रूप में बौद्ध भिक्षुकों को निर्देश दिया गया ।

(2) **सुत्त पिटक**—इसके अन्तर्गत पाँच निकाय हैं—दीर्घ निकाय, (2) मज्भिम निकाय, (3) अंगुत्तर निकाय, (4) संयुक्त निकाय, (5) खुद्दक निकाय ।

दीर्घ निकाय में महात्मा बुद्ध के संवाद संकलित किए गए हैं । मज्भिम निकाय का विषय भी वही है । अंगुत्तर निकाय में 2309 सुत्त हैं और संयुक्त निकाय में 56 सुत्त हैं । खुद्दक निकाय की 15 पुस्तकें हैं जिनमें 'फम्मपद' विशेष प्रसिद्ध है । यह बौद्ध गीता है ।

जातक कथाओं का भी विशेष महत्व है । लगभग 500 कथायें महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बन्धित हैं ।

(3) अभिधम्म पिटक—इस पिटक में दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तन किया गया है। इसमें सात ग्रन्थ हैं—(1) धम्म संगीत, (2) विभंग, (3) धातु कथा (4) पुग्गल पन्जलि, (5) कथावस्तु, (6) यमक, (7) पट्ठान।

इन ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कथा-वस्तु है।

बौद्ध ग्रन्थों में 'मिलिन्द पन्हों' और 'अट्ठकथा' भी उल्लेखनीय है।

(3) बौद्ध धर्म की चार संगीतियाँ (सभायें)

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके उपदेशों को संकलन करने और उसमें समयानुसार परिवर्तन करने के लिए इस धर्म की संगीतियाँ या सभाएँ बुलाई गई। इन संगीतियों की चर्चा यहाँ हम संक्षेप में कर रहे हैं।

(1) **राजगृह की प्रथम संगीति** (487 ई० पू०)—महात्मा बुद्ध की मृत्यु के कुछ सप्ताह बाद राजगृह के निकट सप्तपर्ण गुहा में प्रथम संगीति का आयोजन किया गया। इस संगीति में बुद्ध की शिक्षाओं का विभाजन दो पिटकों में किया गया—विनय पिटक तथा धम्म पिटक। इनमें भिक्षुओं के आचार तथा सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं। इस संगीति में लगभग 500 भिक्षुओं ने भाग लिया था और इसका प्रधान महाकस्यप था।

(2) **वैशाली की द्वितीय संगीति** (387 ई० पू०)—महात्मा बुद्ध की मृत्यु के 100 वर्ष पश्चात् वैशाली की द्वितीय संगीति का आयोजन किया गया। इस संगीति का आयोजन करने का मुख्य कारण यह था कि भिक्षुओं के सम्मुख कुछ ऐसी बातें आ गई थीं जिनका अभ्यास 'विनय पिटक' के नियमों के विरुद्ध था। इस संगीति में देश के कोने-कोने से भिक्षु आये। वैशाली के भिक्षुओं के हठ के कारण बौद्ध-संघ में बड़ा मतभेद उत्पन्न हो गया। जिन लोगों ने 'विनय पिटक' की परम्परागत आख्या रखी वे 'स्थावर' कहलाए और जिन्होंने उसमें कुछ परिवर्तन करने उसे माना वे 'महासाधिक' कहलाये।

(3) **पाटलिपुत्र की तृतीय संगीति** (251 ई० पू०)—सम्राट अशोक के समय तक बौद्धों में बहुत अधिक मतभेद हो गया था और उनमें सम्प्रदाय चल पड़े थे। इन मतभेदों को दूर करने के लिए 251 ई० पू० में सम्राट अशोक ने मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में एक सभा बुलाई। नौ महीने के वाद-विवाद के बाद संगीति ने कुछ निश्चय किया। इस संगीति में दो महान् कार्य हुए। प्रथम यह कि बौद्ध धर्म के शास्त्रों में एक नया पिटक 'अभिधम्म पिटक' जोड़ दिया गया जिसमें शेष दो पिटकों के सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या की गई थी। इस प्रकार महात्मा बुद्ध के उपदेश त्रिपिटक नाम से विख्यात हुए। दूसरा महान् लाभ इस संगीति से यह हुआ कि इस धर्म का साहित्य निश्चित एवं प्रामाणिक रूप में स्थिर हो गया।

(4) **काश्मीर की चतुर्थ संगीति**—सम्राट कनिष्क के शासन-काल में बौद्ध धर्म की चौथी और अंतिम संगीति का आयोजन काश्मीर में किया गया। इस संगीति के प्रधान वसुमित्र और अश्वघोष थे। इस संगीति में उन उन विवादग्रस्त प्रश्नों पर निर्णय लिया गया जो काश्मीर और गन्धार के भिक्षुओं में मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण उठ खड़े हुए थे। साथ ही त्रिपिटक पर एक विभाषा शास्त्र और तीन महा-

भाष्यों की रचना करके, महाभाष्यों को त्याग-पत्रों पर खुदवा कर एक स्तूप सुरक्षित करवा दिया गया। चतुर्थ संगीति के पश्चात् बौद्ध धर्म महायान और हीनयान दो भागों में विभाजित हो गया।

(4) महायान और हीनयान

कनिष्क काल में बौद्ध भिक्षुओं की चौथी संगीति (सभा) हुई जिसमें बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में बांटा गया—हीनयान और महायान। संक्षेप में यहाँ दोनों सम्प्रदाओं को समझ लेना आवश्यक है। बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक रूप हीनयान कहलाया। इसके अनुयायी बुद्ध को गुरु, आचार्य और पथ-प्रदर्शक के रूप में मानते थे। महायान सम्प्रदाय वाले बुद्ध में ईश्वरत्व की कल्पना करते हैं। इसमें महात्मा बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्ति बनाकर आराधना की गई। दोनों सम्प्रदायों के अन्तर को हम निम्नलिखित रूप में स्पष्ट कर सकते हैं—

(1) हीनयान सम्प्रदाय बौद्ध धर्म के प्राचीन रूप को मानता है परन्तु महायान सम्प्रदाय उसके संशोधित रूप को।

(2) हीनयान सम्प्रदाय अनिश्वरवादी है और महायान सम्प्रदाय में महात्मा बुद्ध में ईश्वरत्व की कल्पना की गई।

(3) हीनयान पवित्रता पर बल देता है और महायान उपयोगिता पर।

(4) हीनयानियों ने व्यक्तिगत सिद्धान्त पर विशेष बल दिया है और महायानियों ने बुद्धोपासना पर। महायान सम्प्रदाय में मूर्तिपूजा और संस्कारों पर बल दिया गया है।

(5) हीनयानियों के ग्रन्थ पालि भाषा में हैं और महायानियों के संस्कृत भाषा में।

(6) हीनयानी सम्प्रदाय वाले संख्या में अति सीमित थे, परन्तु महायानी संख्या में बहुत अधिक थे। हीनयान का प्रचार विदेशों में नहीं हुआ। परन्तु महायान सम्प्रदाय का प्रचार बहुत अधिक हुआ। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है, "महायानी बौद्ध धर्म के फलस्वरूप ही प्रथम शताब्दी में भारत और चीन एक दूसरे के निकट आये और इनमें आपसी सम्बन्ध दृढ़ हुआ।"

महायान सम्प्रदाय के प्रतिपादकों में नागार्जुन, वसुबन्धु, अनंग व धर्मकीर्ति के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रश्न (3) बौद्ध धर्म के उत्थान और पतन के कारणों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

बौद्ध धर्म विश्व का मुख्य और जनप्रिय धर्म है। इसका प्रसार विश्व के प्रत्येक स्थान पर हुआ है। समस्त संसार में इससे अनुयायी हिन्दू, मुसलमान एवं अन्य धर्मों के अनुयायियों से अधिक संख्या में हैं। इस विचार का समर्थन करते हुए मैक्समूलर ने लिखा है, "आज भी एशिया में बौद्ध धर्म के विश्वास करने वालों की संख्या किसी भी अन्य धर्म के अनुयायियों की संख्या से जिसमें इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म भी आ जाते हैं अधिक हैं।" स्मिथ महोदय का कथन है यद्यपि बौद्ध धर्म अपनी जन्म-भूमि में लुप्तप्राय सा हो गया है परन्तु आज भी यह विश्व का प्रभावशाली धर्म है और विभिन्न रूपों में लंका, बर्मा, श्याम, तिब्बत, मंगोलिया चीन और जापान में पाया जाता है।"

बौद्ध धर्म के उत्थान के कारण

बौद्ध धर्म के उत्थान के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं—

(1) **वैदिक धर्म के दोष**—बौद्ध धर्म का जन्म धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ था। वैदिक धर्म में इतनी जटिलतायें आ गयी थीं कि साधारण जैन दार्शनिक सिद्धान्तों को नहीं समझ पा रहे थे। वर्ण-व्यवस्था कठोर हो चुकी थी और अब वर्ण का आधार जन्म-जात माना जाने लगा था। यज्ञों तथा धार्मिक कार्यों में अधिक धन व्यय करना पड़ता था, जो जन-साधारण की शक्ति से बाहर था। इन दोषों से ऊब कर लोग किसी नये धर्म की खोज में थे जिसमें वाह्य आडम्बर और जटिलता न हो। ऐसी अवस्था में लोगों का बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। मैक्स-मूलर ने सत्य ही लिखा है, "जिस बात का अनुभव बुद्ध ने भी किया उसी बात का अनुभव सहस्रों अन्य व्यक्ति भी कर रहे थे और यही उनकी सफलता का रहस्य था।"

(2) **आचरण की पवित्रता**—बौद्ध धर्म में आचरण की पवित्रता पर अधिक बल दिया गया है। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों पर सभी लोग आचरण कर सकते थे। इस कारण इस धर्म की उन्नति हुई।

(3) **महात्मा बुद्ध का व्यक्तित्व**—बुद्ध जी के व्यक्तित्व का परिचय हमें बौद्ध साहित्य से प्राप्त होता है। जो व्यक्ति उनके दर्शन करता था और उनके उपदेश सुनता, उस पर अनेक व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ जाती थी। मोनियर विलियम्स ने उनके व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "उनके व्यक्तिगत चरित्र और रुचि-कर शिक्षा का प्रभाव अचूक होता था।"

(4) **संगठन की श्रेष्ठता**—बौद्ध धर्म की महान् उन्नति का रहस्य बौद्ध भिक्षुओं का आश्चर्यजनक संगठन भी था। धर्म-प्रचार के लिए बुद्ध जी ने अनेक संघों की स्थापना की थी। भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था, "भिक्षुओं, जाओ और सर्वोत्तम धर्म का प्रचार करो। तुम लोगों के हितों के लिए, लोगों के कल्याण के लिए; देवों और मानवों के कल्याण के लिए घूमों, तुम में से कोई दो एक साथ न जाय। इस धर्म का प्रचार करो जिसका आदि मंगल है, मध्य मंगल हैं और अन्त भी कल्याणकारी है।" बौद्ध धर्म की उन्नति पर संघों के प्रभाव को बताते हुए स्मिथ महोदय ने लिखा है, "भिक्षु और भिक्षुणियों का सुसंगठित संघ इस धर्म के हाथ में सबसे अधिक प्रभावशाली अस्त्र था।"

(5) **विभिन्न सम्राटों का संरक्षण**—बौद्ध धर्म को हिन्दू काल के अनेक प्रमुख सम्राटों का संरक्षण प्राप्त था। इनके प्रयत्नों से यह धर्म विश्वव्यापी हो गया अशोक महान् ने इस धर्म का प्रचार तन-मन-धन सब कुछ लगाकर किया। अशोक ने इस धर्म को राजधर्म बनाया था। अशोक के पश्चात् कनिष्क और हर्षवर्द्धन भी बौद्ध धर्म से अत्यधिक प्रभावित थे। इन दोनों सम्राटों ने इस धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

(6) **सरल भाषा में प्रचार**—बौद्ध भिक्षुओं और विद्वानों ने अपनी शिक्षाओं का प्रचार लोच भाषा में किया था। बुद्ध जी ने स्वयं कहा था, "मैं अपना संदेश गरीबों की भाषा द्वारा गरीबों तक पहुँचाना चाहता हूँ।"

(7) **जाति-प्रथा का विरोध**—बौद्ध धर्म की उन्नति का एक यह भी कारण

है कि इस धर्म में जातिगत भेदभाव और ऊँच-नीच का भेद नहीं था। इस धर्म का द्वार मानव मात्र के लिए खुला हुआ था और सभी जातियों तथा वर्गों के लोग इसमें प्रवेश ले सकते थे। संघ में आने के बाद निम्न वर्ग का व्यक्ति भी सहधर्मियों के समान हो जाता था और उसमें किसी प्रकार का वर्ग भेद नहीं होता था।

(8) **सरल सिद्धान्त**—बौद्ध धर्म की उन्नति का कारण इस धर्म के सरल सिद्धान्त भी थे। वैदिक धर्म इतना जटिल था कि कोई भी धार्मिक कृत्य बिना पुरोहित की सहायता के नहीं होता था। लोग वैदिक धर्म की जटिलता से ऊब चुके थे और इसलिए उन्होंने सहर्ष नवीन धर्म का स्वागत किया।

(9) **अन्य धर्मों का विरोध न करना**—इस धर्म के प्रचारकों ने अन्य धर्मों की आलोचना नहीं की वरन् दूसरे धर्मों की अच्छाइयों को ग्रहण करने पर बल दिया। इस प्रकार बौद्ध धर्म के विचार उदार तथा महान् थे। यही कारण था कि बौद्ध धर्म में ऐसी चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न हो गई कि सभी लोग इसकी ओर आकृष्ट हो गये।

(10) **अनुकूल सामाजिक स्थिति**—छठवीं शताब्दी ई० पू० की धार्मिक और सामाजिक स्थिति ने बौद्ध धर्म की उन्नहि में सहायता पहुँचाई। इस समय पशु बलि, झूठी तपस्या तथा शूद्रों पर अत्याचार हो रहे थे। ऐसी अनुकूल सामाजिक स्थिति में यह धर्म दैवीय वरदान के रूप में सिद्ध हुआ।

(11) **राजनीतिक घटनाओं की अनुकूलता**—राजनीतिक घटनाओं की अनुकूलता भी बौद्ध धर्म की उन्नति का महत्वपूर्ण कारक है। बिम्बिसार और अशोक आदि सम्राटों ने बौद्ध धर्म की सहायता की थी। इसी प्रकार सम्राट् कनिष्क और हर्षवर्द्धन केवल इस धर्म के अनुयायी ही थे, वरन् उन्होंने तन, मन, धन से इस धर्म का प्रचार किया था।

(12) **बौद्ध सभाओं का प्रभाव**—बौद्ध धर्म के प्रचार तथा उसके भीतर आये दोषों को दूर करने के लिये समय-समय पर बौद्ध धर्म के प्रचार सभाओं में बड़ी सहायता मिली। इन सभाओं द्वारा इस धर्म के दोषों का निराकरण होने के अतिरिक्त प्रचार कार्य में प्रत्येक बार सहायता मिली। संगठन की दृढ़ता और भिक्षुओं के उत्साह सवंर्धन के फलस्वरूप यह धर्म विश्वव्यापी हुआ।

(13) **नालन्दा विश्वविद्यालय द्वारा प्रचार**—बौद्ध धर्म के प्रचार में नालन्दा विश्वविद्यालय ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस विश्वविद्यालय में सुदूर देशों से विद्यार्थी आकर अध्ययन करते थे। यहाँ के आचार्य अपने विषय के प्रकाण्ड पण्डित होते थे, जिनका ग्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ता था। इस प्रकार ये विद्यार्थी अपने देशों में लौटकर उक्त धर्म का प्रचार करते थे।

(14) **प्रचारकों की लगन**—बौद्ध धर्म के प्रचारकों का-सा अदम्य उत्साह और लगन सम्भवतः अन्य धर्म-प्रचारकों में नहीं था। इन लोगों ने अपना परिवार त्याग कर, स्वजनों का त्यागकर मानव-मात्र की सेवा के लिये अपरिचित व्यक्तियों के मध्य जाकर बुद्ध जी की शिक्षाओं को सुनाया।

(15) **मध्यम मार्ग का अनुसरण**—बौद्ध धर्म की जनप्रियता का कारण मध्यम मार्ग का अनुसरण है। गौतम बुद्ध ने 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के पालन की शिक्षा देते हुए कहा कि मनुष्य को चाहिए कि न तो वह भोग-विलास के लुभावने क्षीरजलधि

में डूब जाय और न तपादि द्वारा ही अपने शरीर को सुखा दे । अतः जनसाधारण के लिए यह मार्ग-सरल, सुगम तथा सुबोध बन गया ।

(16) **उन्नत तथा विशाल साहित्य**—बौद्ध साहित्य की व्यापकता और विशालता भी धर्म के प्रचार में सहायक सिद्ध हुई । अनेक सुदूर देशों के यात्री ज्ञानार्जन के लिए भारत आते थे और यहाँ से लौटकर स्वदेश में इस धर्म का प्रचार करते थे ।

(17) **तर्क का अवलम्ब**—इसके प्रचारकों ने विश्वास के स्थान पर सदैव तर्क का आश्रय लिया । तर्क पर अवलम्बित होने के कारण बौद्ध धर्म के लोगों को उचित तथा अनुचित की कसौटी बताई थी ।

(18) **प्रबल-प्रतिद्वन्द्वियों का अभाव**—बौद्ध धर्म को धर्म-प्रचार में प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों का सामना नहीं करना पड़ा, इसलिए इस धर्म की सहज ही उन्नति होती चली गई । यदि धर्म का कोई विरोधी होता तो इसकी उन्नति न हो पाती ।

बौद्ध धर्म के पतन के कारण

'उत्थान के पश्चात् पतन' प्रकृति का शाश्वत नियम है । भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार बहुत दिनों तक रहा । किन्तु 12वीं शताब्दी के बाद भारत से इस धर्म का लोप हो गया ।

बौद्ध धर्म की अवनति के निम्नलिखित कारण हैं—

(1) **हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान**—कनिष्क की मृत्यु के पश्चात् शुंग वंश के राजा शासक हुए । लोग ब्राह्मण थे और वैदिक धर्म के अनुयायी थे । गुप्त-काल के सम्राटों ने भी वैदिक धर्म को स्वीकार किया था । इस प्रकार हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान से बौद्ध धर्म को धक्का लगा था ।

(2) **सम्राटों का संरक्षण समाप्त होना**—भारतीय राजाओं द्वारा जो सहायता और प्रोत्साहन बौद्ध धर्म को मिलता था वह समाप्त हो गया । हर्ष तथा पाल सम्राटों के अतिरिक्त शेष सभी सम्राटों ने हिन्दू धर्म को प्रोत्साहन दिया । इस प्रकार हिन्दू धर्म के राजधर्म बन जाने से बौद्ध अवनति करता गया ।

(3) **भिक्षुओं के आचरण का पतन**—बौद्ध भिक्षुओं का चरित्र भ्रष्ट होना भी इस धर्म की अवनति का मुख्य कारण है । उनका जीवन और चरित्र अब पहले के समान नहीं था । राजाओं की ओर से आर्थिक सहायता मिलने के कारण बौद्ध मठ और बिहार समृद्धिशाली होकर भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गये थे । बौद्ध धर्म के अनुयायी बुद्ध जी के उपदेशों को भूल गये । अतः साधारण जनता इस धर्म की ओर से उदासीन हो गयी ।

(4) **भाषा में परिवर्तन**—आरम्भ में इस धर्म का प्रचार बोलचाल की भाषा में हुआ था । परन्तु आगे चलकर बौद्ध विद्वानों ने अपने उपदेश संस्कृत में देने प्रारंभ कर दिये । सामान्य जन संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण इस धर्म की शिक्षाओं को भली प्रकार नहीं समज सकते थे ।

(5) **सम्प्रदायवाद का विकास**—आगे चलकर बौद्ध धर्म वर्गों और सम्प्रदायों में विभक्त हो गया । इनमें निरर्थक विवाद और संघर्ष होता रहता था । अब इसके अनुयायी धर्म-प्रचार के स्थान पर वाद-विवाद करने में समय नष्ट करने लगे ।

इसका परिणाम यह हुआ कि भिक्षुओं का अदम्य उत्साह तथा लगन समाप्त हो गयी और इस धर्म का पतन प्रारम्भ हो गया।

(6) **बौद्ध धर्म द्वारा हिन्दुओं का देववाद अपनाना**—गौतम बुद्ध मनुष्य होते हुए भी अनेक शक्तियों से सम्पन्न थे। वह ईश्वर तथा देवी-देवताओं के सम्बन्ध में सदैव मौन रहे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके अनुगामियों ने बौद्ध धर्म के वेद-वाद का प्रवेश कर लिया। इस प्रकार बौद्ध धर्म में हिन्दू धर्म के रीति-रिवाज बढ़ने लगे और क्रमशः इन दोनों धर्मों का अन्तर समाप्त होने लगा।

(7) **मिथ्याडम्बरों का प्रवेश**—बुद्ध जी के सरल और बोधगम्य उपदेशों के कारण यह धर्म फलीभूत हुआ था। आगे चलकर लोग उच्चादर्शों को भूलने लगे। धर्म सादगी और सरलता समाप्त होने लगी और इसके स्थान पर मिथ्याडम्बर एवं ढकोसले बढ़ने लगे। इस प्रकार आन्तरिक दोषों के कारण बौद्ध धर्म का पतन अवश्यम्भावी था।

(8) **अन्य धर्मों के साथ प्रतिद्वन्द्विता**—बौद्ध धर्म की अवनति का एक अन्य कारण अन्य धर्मों के साथ प्रतिद्वन्द्विता का होना है। जैन, शैव, वैष्णव आदि धार्मिक सम्प्रदाय की होड़ में बौद्ध धर्म सफल न हो सका। इन धर्मों की लोकप्रियता का भी बौद्ध धर्म पर व्यापक प्रभाव पड़ा और उक्त धर्म अवनति की ओर अग्रसर होने लगा।

(9) **बौद्ध संघ में स्त्रियों का प्रवेश**—बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश से विहार और मठ भ्रष्टाचार के केन्द्र बनने लगे। भिक्षुओं और भिक्षुणियों का चारित्रिक पतन होने लगा था और कालान्तर में बौद्ध बिहार और मठ विलासिता और व्यभिचार के केन्द्र बन गये। एक दिन बुद्ध जी ने अपने शिष्य आनन्द से कहा था, "आनन्द मैंने जो धर्म चलाया था वह पाँच हजार वर्ष तक टिकने वाला था, लेकिन अब वह केवल पाँच सौ वर्ष ही चलेगा, क्योंकि हमने स्त्रियों को संघ में सम्मिलित होने की अनुमति दे दी है।"

(10) **राजपूतों का प्रबल होना**—राजपूतों ने बुद्ध जी के अहिसा के सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया। राजपूत युद्ध-स्थल में अहिंसा के स्थान पर तलवार और शान्ति के स्थान पर कृपाण का प्रयोग करते थे। राजपूत बौद्ध धर्म की तुलना में हिन्दू धर्म की ओर अधिक आकृष्ट हुये।

(11) **योग्य नेता तथा संगठनकर्त्ता का अभाव**—जब बौद्ध धर्म का पतन आरम्भ हुआ तो उसमें कोई ऐसा योग्य नेता और संगठनकर्त्ता नहीं था जो इस धर्म को पतोन्मुख होने में रोकता। इस प्रकार कुशल नेता के अभाव में यह धर्म द्रुतगति से पतन की ओर अग्रसर हुआ।

(12) **विदेशी आक्रमण**—विदेशी आक्रमणों ने बौद्ध धर्म की इतिश्री कर दी। हूणों तथा मुसलमानों के आक्रमणों द्वारा बौद्ध धर्म की बची-खुची शक्ति भी समाप्त हो गयी। मुसलमानों ने बौद्ध विहारों पर आक्रमण करके भिक्षुओं का वध किया और उनके विहारों तथा मठों को विध्वंस कर दिया।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष में बौद्ध धर्म ने जिस द्रुतगति से उन्नति की, उसी द्रुतगति से उसका पतन भी हो गया।

प्रसिद्ध विद्वान् श्री मैक्समूलर का कहना है कि जिस स्रोत से बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ था, उसी में वह समा गया। यद्यपि भारतवर्ष में इसका अन्त हो गया तथापि विदेशों में अब भी यह धर्म बहुसंख्यक जनता को प्रभावित किए हुए हैं। श्री डब्ल्यू० डब्ल्यू० हन्टर ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में ठीक ही लिखा है, "यद्यपि एक हजार वर्षों से बौद्ध धर्म अपनी जन्म-स्थली से समाप्त हो गया है, परन्तु इसने अपने देश निकाले में अपनी मातृ-भूमि से अधिक ख्याति प्राप्त की है।

प्रश्न (5) बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म के सिद्धान्तों की आपस में तुलना कीजिए।

यदि हम जैन धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हमें दोनों धर्मों में अनेक समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं। इन समानताओं के आधार पर कतिपय इतिहासकारों ने जैन-धर्म को बौद्ध धर्म का एक सम्प्रदाय माना है। श्री वेडर साहब का विचार है कि "जैन बौद्ध धर्म में प्राचीन सम्प्रदाय हैं" श्री लेसन का विचार है कि "जैन लोग बौद्धों की एक विभक्त शाखा है। श्री बार्थ भी उक्त विचार की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि, 'जैन मत बोद्ध धर्म से उत्पन्न एक सम्प्रदाय है, परन्तु आधुनिक अन्वेषणों द्वारा उक्त विद्वानों के विचार सत्य नहीं प्रतीत होते हैं। दोनों धर्मों में कुछ समानतायें होते हुए भी अनेक असमानतायें हैं। इतिहासकार स्मिथ महोदय ने कहा है, "कतिपय समानताओं के आधार पर जैन और बौद्ध भक्तों को एक ही धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय मानना गलत है। ये दोनों मत एक दूसरे से भिन्न हैं, चाहे इनको दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में ले लिया जाय या धर्मों के रूपों में।"

अस्तु दोनों धर्मों में कुछ साम्य होने के कारण इन्हें एक मूल से उद्भूत कहा जाता है, यद्यपि दोनों में अनेक विषमतायें हैं।

बौद्ध धर्म और जैन धर्म की समानता

दोनों धर्मों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर निम्नलिखित समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं।

(1) **प्रारम्भ सम्बन्धी समानता**—इन दोनों धर्मों का उद्भव एक सामान्य उद्देश्य से हुआ था। जैन तथा बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हिन्दू धर्म की जटिलता, रूढ़िवादिता और कर्मकाण्ड की प्रधानता के फलस्वरूप हुई थी। दोनों धर्मों ने वैदिक यज्ञों तथा कर्मकाण्डों का विरोध किया और अहिंसा को परम धर्म मानकर सब प्रकार की हिंसात्मक वृत्ति का विरोध किया। कुछ विद्वान् इन दोनों धर्मों को ब्राह्मण धर्म की विशिष्ट शाखा की ही उपज मानते हैं।

(2) **दोनों धर्मों का कर्मवाद में विश्वास**—जैन तथा बौद्ध दोनों ही कर्मकाण्ड में बड़ी आस्था प्रगट करते हैं। इन दोनों धर्मों के अनुसार संसार में उत्पन्न होने वाला प्रत्येक मानव पूर्व-जन्म में किए गए कर्मों का फल अवश्य भोगता है। मनुष्य का कर्म ही यह निश्चित करता है कि अगला जन्म किस कोटि में होगा।

(3) **दोनों का ईश्वर में अविश्वास**—दोनी धर्मों के प्रवर्तक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। बौद्ध धर्म के अनुसार संसार की रचना अणुओं द्वारा हुई है। जैनियों का कहना है कि जो गुण ईश्वर में हैं वे सभी जीवों में पाये जाते हैं। इस प्रकार का अस्तित्व न मानने से दोनों धर्मों में साम्य है।

(4) **दोनों का वेदों में अविश्वास**—ये दोनों धर्म वेदों की प्रमाणिकता को अस्वीकार करते हैं। यह दोनों वेदों के स्थान पर तर्क और अनुभव को प्रधानता देते हैं। वेदों का खण्डन करने के कारण इन दोनों दर्शनों को नास्तिक दर्शन कहा गया है।

(5) **दोनों धर्मों का पुनर्जन्म में विश्वास**—दोनों धर्मों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना है। दोनों धर्मों का कथन है कि मनुष्य अपने जीवन में किये गये कर्मों के अनुसार ही जन्म लेता है। यदि मनुष्य श्रेष्ठ और उत्तम कार्य करता है तो उसका जन्म श्रेष्ठ योनि में होता है।

(6) **दोनों धर्म जाति-पाति विरोधी**—दोनी धर्मों ने जाति-पांति का विरोध किया। दोनों का ही विश्वास है कि मनुष्य का वर्ण जन्मजात न होकर कर्म पर आधारित होता है। कर्म करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। इस प्रकार दोनों धर्मों ने हरिजनों के लिये भी निर्माण का द्वार खोल रखा है।

(7) **दोनों धर्मों का अन्तिम उद्देश्य निर्वाण है**—दोनों धर्मों का कहना है कि संसार में दुःख ही दुःख अनेक प्रकार के, और अनन्त है। यदि हम इनसे छुटकारा पाना चाहते हैं, हमें अपने कर्मों को उत्तम बनाना चाहिये। उत्तम कर्मों द्वारा ही हम आवागमन के बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार दोनों धर्म मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण करते हैं।

(8) **दोनों के प्रचारकों में साम्य**—दोनों धर्मों के प्रवर्तक क्षत्रिय राजकुमार थे, जिन्होंने घर-बार छोड़कर सत्य की खोज प्रारम्भ की थी।

(9) **दोनों धर्मों का प्रचार संघ द्वारा किया गया**—दोनों धर्मों का प्रचार संघ द्वारा किया गया था। बौद्ध संघ ने धर्म-प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

(10) **बोल-चाल की भाषा में प्रचार**—इन दोनों ने संस्कृत भाषा को छोड़ कर साधारण बोलचाल की भाषा धर्म प्रचार में किया। बौद्ध धर्म का पाली भाषा में और जैन धर्म का प्राकृत भाषा द्वारा प्रचार किया गया।

(11) **दोनों ही धर्मों में त्रिरत्न**—दोनों धर्मों के तीन रत्न हैं। जैन धर्म के त्रिरत्न—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र है और बौद्ध धर्म के तीन रत्न-बुद्ध, धर्म तथा संघ है। इस प्रकार दोनों धर्मों में त्रिरत्नों का साम्य है।

(12) **दोनों धर्म दो प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त**—कालान्तर में दोनों धर्म दो प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त हो गये। जैन धर्म श्वेताम्बर तथा दिगम्बर में और बौद्ध धर्म महायान तथा हीनयान सम्प्रदायों में विभाजित हो गया।

(13) **अन्य समानतायें**—(1) दोनों धर्मों ने आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तों पर बल दिया है।

(2) दोनों धर्मों के तीन धार्मिक ग्रन्थ हैं। जैनियों के अंग, उपांग तथा मूल्य और बौद्धों के सूत्र ग्रन्थ, विनय ग्रंथ और आर्य ग्रंथ, ग्रंथ हैं।

(3) दोनों धर्म संयम, सेवा और सदाचार पर बल देते हैं।

(4) दोनों धर्म पशु-बलि का विरोध करते हैं।

जैन और बौद्ध धर्म में असमानता

उपर्युक्त समानताओं के आधार पर बौद्ध धर्म मूलतः एक है, परन्तु यदि इसके दूसरे पर विचार करें तो हमें इन दोनों धर्मों में निम्नलिखित विषमताएँ दृष्टि-गोचर होती हैं :—

(1) **निर्वाण और कैवल्य में अन्तर**—आवागमन के चक्र से छुटकारा पाने को दोनों धर्म जीवन का मुख्य उद्देश्य मानते हैं, परन्तु बौद्धों के निर्वाण और जैनों के केवल्य में महान् अन्तर है। जैनियों के अनुसार केवल्य वह अवस्था है जब आत्मा दुःखों से छुटकारा पा जाती है। लेकिन बौद्धों के अनुसार निर्वाण का अर्थ व्यक्तित्व को पूर्णरूपेण समाप्त कर देना है।

(2) **निर्वाण-प्राप्ति के साधनों में अन्तर**—दोनों धर्मों के निर्वाण-प्राप्ति के साधनों में अन्तर हैं। जैनी लोग व्रत या तप को निर्वाण-प्राप्ति का साधन मानते हैं, परन्तु बौद्ध धर्मावलम्बी शरीर को व्यर्थ कष्ट देना अनुचित मानते हैं। बौद्धों के अनुसार सत्य की खोज शरीर को स्वस्थ रखकर ही की जा सकती है। महावीर जी ने कठोर मार्ग पर चलने को कहा है जबकि बुद्ध ने मध्यम मार्ग पर चलने को कहा है।

(3) **अहिंसा सम्बन्धी विचारों में अन्तर**—जैनी लोग अहिंसा को सबसे बड़ा पाप मानते हैं। ये प्रत्येक जीव की रक्षा करने का प्रयास करते हैं। परन्तु बौद्ध धर्मावलम्बी अहिंसा को श्रेष्ठ मानते हुए विशेष परिस्थितियों में हिंसा को बुरा नहीं मानते हैं विदेश में, जहाँ बौद्धधर्मावलम्बी रहते हैं, कुछ विशेष परिस्थितियों में माँस-भक्षण को बुरा नहीं मानते।

(4) **समाज और व्यक्ति सम्बन्धी विचारों में अन्तर**—बौद्ध धर्म के अनुसार, "संघ शरण गच्छामि"। इसमें संघ को अधिक महत्व दिया गया है। मानव-मात्र का कल्याण संघ की शरण में जाने पर हो सकता है। इसके विपरीत जैन लोग संघ के स्थान पर गृहस्थ को अधिक महत्व देते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैनी व्यष्टि को मान्यता देते हैं।

(5) **दोनों धर्मों की व्यापकता और प्रचार में अन्तर**—जैन धर्म का प्रचार शनैः शनैः हुआ जबकि बौद्ध धर्म का प्रचार द्रुतगति से हुआ। बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या जैनियों की तुलना में कई गुनी अधिक है। बौद्ध धर्म का प्रचार भारत के अतिरिक्त विदेशों में भी अत्यधिक हुआ है '' परन्तु जैन धर्म का प्रचार भारत तक ही सीमित रहा। बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि में समाप्त हो गया है, परन्तु जैन धर्म अब भी भारत में जीवित है।

(6) **प्राचीनता में अन्तर**—बहुत समय तक विद्वानों में इन दोन्रों धर्मों की प्राचीनता में मतभेद था। परन्तु अब यह सिद्ध हो गया है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। जैन धर्म का जन्म वैदिक-काल में हुआ था।

(7) **तीर्थंकरों की संख्या में अन्तर**—जैन लोग 24 तीर्थंकरों को मानते हैं परन्तु बौद्ध धर्म के लोग 24 बुद्धों को मानते हैं।

(8) **धर्मग्रन्थों में अन्तर**—दोनों धर्मों के ग्रन्थों में भी अन्तर है। जैनियों के धर्मग्रन्थ "आचाराग" में आरचण सम्बन्धी नियमों का संग्रह है। परन्तु "सुत्त-पिटक" में बुद्ध जी की शिक्षाएँ और "नियम पिटक" में संघ के नियम संग्रहीत हैं।

(9) **भाषा में अन्तर**—जैन धर्म के ग्रन्थ 'संस्कृत या प्राकृत में लिखे गये हैं। परन्तु बौद्ध साहित्य पालि भाषा में लिखा गया है।

(10) **राजकीय संरक्षण में अन्तर**—जैन धर्म की तुलना में बौद्ध धर्म को अधिक राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। अशोक और कनिष्क आदि सम्राटों के आश्रम में बौद्ध धर्म अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बन गया। परन्तु जैन धर्म को ऐसे महान् सम्राटों का संरक्षण नहीं प्राप्त हुआ।

(11) **परिवर्तनशीलता में अन्तर**—जैन धर्म की तुलना में बौद्ध धर्म अधिक परिवर्तनशील था। बौद्ध धर्म में परिवर्तित परिस्थितियों में अपने को ढाल लेने की अधिक क्षमता थी। इसी कारण विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार हो सका था।

निष्कर्ष—उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन द्वारा सिद्ध होता है कि दोनों धर्म अपनी निजी स्वतन्त्र विचारधारा के पोषक हैं। कुछ समय पूर्व कुछ विद्वानों का यह विचार था कि इन दोनों धर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध पिता-पुत्र का रहा होगा, परन्तु यह उचित नहीं है।

प्रश्न (6) भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की क्या प्रमुख देन है ?

भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की अपार देन है। धर्म, दर्शन साहित्य और कला सभी क्षेत्रों में इस धर्म ने भारत पर जो अमिट छाप डाली है वह चिरन्तन और चिरकालीन है। एक विद्वान् का मत है—"यद्यपि बौद्ध धर्म भारत से लुप्त हो गया फिर भी देश की विचारधारा और जीवन पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ गया। 1000 वर्षों से अधिक बौद्ध धर्म का इस देश में प्रचार रहा। इस सुदीर्घ काल में इस धर्म ने अपना इतना अधिक प्रभाव छोड़ा जो अभी तक विद्यमान है।"

बौद्ध धर्म के देन की चर्चा हम निम्नलिखित ढंग से करेंगे—

(1) **सरल तथा स्पष्ट धर्म की स्थापना**—बुद्ध धर्म की सबसे बड़ी देन है, एक सरल और सुबोध धर्म का आदर्श प्रस्तुत करना। वैदिक धर्म कर्मकाण्ड और जाति भेद के फलस्वरूप बोझिल हो गया था। उसके स्थान पर एक ऐसे धर्म की स्थापना की आवश्यकता थी जो सर्वग्राह्य हो। बुद्ध धर्म ने एक ऐसे ही धर्म का आदर्श जनता के सम्मुख रखा।

(2) **ब्राह्मण धर्म पर प्रभाव**—महात्मा बुद्ध धर्म ने सरल और स्पष्ट धर्म को चलाया था। उन्होंने ब्राह्मण धर्म को प्रभावित किया। ब्राह्मण धर्म पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ था परन्तु इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं कि बौद्ध धर्म के प्रभावस्वरूप ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं में अन्तर आ गया। इतिहास का अध्ययन करने से प्रतीत हो गया है कि बौद्धों को अहिंसा के फलस्वरूप ही हिन्दू धर्म से पशु बलि का प्रायः लोप हो गया। जटिल कर्मकाण्डों को उसमें स्थान देना कम कर दिया गया। बौद्ध धर्म के कारण ही भागवत शैव आदि सम्प्रदायों का जन्म हुआ। इन सम्प्रदायों ने यज्ञों और बलि को महत्व न देकर भक्ति को महत्व प्रदान किया।

(3) **मूर्ति-पूजा का विकसित रूप**—बौद्ध धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप ही मूर्ति-पूजा का विकसित रूप देखने को मिला। वैदिक काल में देवताओं की पूजा प्रतीक के रूप में की जाती थी। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि मूर्ति पूजा का प्रारम्भ बौद्ध द्वारा ही हुआ। बौद्धधर्म के पूर्व मूर्ति-पूजा को यह स्थान प्राप्त

नहीं हुआ था क्योंकि बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय ने बुद्ध की मूर्ति बनाकर उनकी पूजा प्रारम्भ की और फलस्वरूप उसका प्रभाव अन्य धर्मों पर भी पड़ा।

(4) **दर्शन पर प्रभाव**—दर्शन के क्षेत्र में बौद्ध धर्म की महान् देन है। भारतीय दर्शन का विकास वैदिक काल में ही नहीं समाप्त हुआ। बौद्ध विद्वान् नागार्जुन ने शून्यवाद तथा माध्यमिक दर्शन को प्रतिपादित किया। इस धर्म के चिंतन ने अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया जैसे प्रतीत्व, समुत्यवाद, योगाचार, सवस्तिवाद, सौचन्तिक तथा विज्ञानवाद आदि। भारतीय दर्शन में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये वसुमित्र, दिग्नाथ और धर्मकीर्ति के अध्ययन की आवश्यकता है। बौद्ध दर्शन का खण्डन करने के लिये ही अनेक दार्शनिक आये। इन दार्शनिकों में शंकराचार्य का नाम प्रमुख है। परन्तु शंकराचार्य भी बौद्ध धर्म से प्रभावित प्रतीत होते हैं। उनके विचारों पर बौद्धों की विचार-सारिणी का प्रभाव है। उनका भाग्यवाद नागार्जुन के शून्यवाद का दूसरा रूप प्रतीत होता है। शंकराचार्य के दर्शन ने अन्य दार्शनिक विचारधाराओं को प्रभावित किया।

(5) **संघ-व्यवस्था**—संघ-व्यवस्था को जन्म देने का श्रेय भी बौद्ध धर्म को ही है। इन संघों के द्वारा बौद्धों ने अपने धर्म का प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया। भारत में इससे पूर्व संघ व्यवस्था का यह रूप देखने में नहीं मिलता। हिन्दू धर्म में यद्यपि संन्यासी तप के लिये वनों में जाते और एकान्तवास करके धर्म का चिन्तन किया करते थे परन्तु धर्मोपदेश के लिए इस प्रकार के संघों की व्यवस्था नहीं हुई थी। इस प्रकार धर्म-प्रचार के लिये एक नई शैली का जन्म बौद्ध धर्म की एक बहुत बड़ी देन है।

(6) **अनुशासन-भावना का प्रसार**—बौद्ध संघों और मठों के द्वारा अनुशासन भावना का प्रचार देश में हुआ। जदुनाथ सरकार का मत है, "बौद्ध धर्म की विशेषता यह थी कि उसमें अनुशासनपूर्ण ढंग का भिक्षु-मण्डल में संगठन किया गया था। यह ठीक है कि बौद्ध धर्म के विकास के पूर्व भी भारतवासी वृद्धावस्था में एकान्त में रह कर अपना सारा समय चिन्तन में बिताते थे। किन्तु भिक्षुओं का एक सूत्र में बँध कर रहना तथा एक के ही नेतृत्व में धर्म के नियमों का दृढ़ता से पालन करना बौद्ध धर्म की विशेषता है।

वास्तव में बौद्ध भिक्षुओं ने जिस अनुशासन का परिचय दिया यह देशवासियों के लिये एक आदर्श था।

(7) **साहित्यिक देन**—साहित्य के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म की महान् देन है। संस्कृत व्याकरण में चन्द्रगोविल का व्याकरण एक विशिष्ट स्थान रखता था। "अमरकोष" के रचयिता विद्वान अमरसिंह भी बौद्ध थे। आयुर्वेद सम्राट नागार्जुन ने एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' नामक महाकाव्यों का सृजन किया। "राष्ट्रपाल" व "सारिपुत्र" नाटक भी उन्होंने लिखे। हर्ष ने "नागानन्द" की रचना की। पाली भाषा के साहित्य में 'त्रिपिटक' नामक ग्रन्थ के लिखने का श्रेय भी बौद्ध धर्मानुयायियों को ही है। बौद्ध साहित्य की जातक कथायें संसार-प्रसिद्ध हैं। एक विद्वान् ने लिखा है, "इतना कहने में कोई हिचक नहीं कि बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थों की उपयोगिता केवल इसीलिये नहीं है कि उनके द्वारा हमें इस धर्म के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है वरन् उन्होंने प्राचीन

भारत के इतिहास के पुर्ननिर्माण जैसे दुरूह कार्य में विद्वानों की काफी सहायता की।''

(8) **लोक-भाषाओं का विकास**—लोक-भाषाओं के विकास के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म का योगदान है। भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश लोकभाषा में ही दिये। पालि साहित्य का प्रचार इसी के कारण हुआ। बौद्ध धर्मानुयायियों द्वारा मिलिन्दपन्हों, महावस्तु और 'दीर्घनिकाय' जैसे ग्रन्थों की रचना पालि भाषा में हुई है।

(9) **कला के क्षेत्र में देन**—कला के क्षेत्र में धर्म की बहुत बड़ी देन है। भारतीय शिल्प-कला, मूर्तिकला की अभिवृद्धि में बौद्ध धर्म ने बहुत बड़ा योगदान दिया। एक विद्वान् के शब्दों में, ''यद्यपि भारतीय कला की परम्परा काफी प्राचीन है तथापि हमें सिन्धु घाटी की कला को छोड़कर भारत में कला के जो नमूने प्राप्त होते हैं उनमें अधिकांश बौद्ध कला के ही नमूने हैं। मूर्तिकला और शिल्प-कलाओं का उद्‌भव ही सम्भवतः बौद्ध धर्म के द्वारा हुआ। एक यह भी महत्वपूर्ण बात है कि बौद्ध कलाकारों ने जिन—कृतियों का निर्माण किया उनका सौन्दर्य और सौष्ठव साधारण नहीं है।''

गुहा—मन्दिरों का निर्माण सबसे पहले बौद्धों ने किया। सांची और भरहुत के स्तूप बौद्ध कला की ही देन है। गान्धार और मथुरा के कला-केन्द्र, भारतीय बौद्ध कला की महान् देन है। अजन्ता और बाध आदि की चित्रकारी में बौद्धों का बहुत बड़ा योगदान है। एलोरा, अजन्ता, कार्ली आदि में पहाड़ी को काटकर बनाये गये भव्य प्रासाद बौद्ध शिल्पियों की कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। प्रोफेसर कोहन (Prof. Cohen) का मत है–यह स्पष्ट है कि बौद्धकला का अनुभव सबों के लिये एक गम्भीर अनुभव होना चाहिए। सभी क्षेत्रों में, चित्रकला में, स्थापत्य में, वास्तुकला में और कारीगरी में बौद्ध धर्म ने ऐसी कलाकृतियों का निर्माण किया जो पाश्चात्य कला की श्रेष्ठतम कृतियों के समक्ष रखा जा सकता है।

(10) **विचारों एवं बौद्धिक विकास की स्वतन्त्रता**—बौद्ध धर्म ने विचार-स्वातन्त्र्य की ओर विशेष बल दिया। महात्मा बुद्ध का उपदेश था किसी का अन्धा-नुकरण नहीं करना चाहिये। आत्मदीप बन कर ही आत्मा को प्रकाशित करना चाहिए। इस प्रकार बौद्ध धर्म में बौद्धिक विकास एवं विचारों की स्वतन्त्रता में योग-दान दिया।

(11) **राजनीतिक तथा सामाजिक एकता**—बौद्ध धर्म ने देश में राजनीतिक और सामाजिक एकता को स्थापित करके व राष्ट्रीयता के विकास का महान् कार्य किया। देश के जातिगत बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को तोड़ कर, भारतीय जनता को अन्धकूप से निकालने का श्रेय बौद्धों को ही है। जैन भाषा और जैन-साहित्य ने राष्ट्रीय भावनाओं को प्रबल किया और देश में धार्मिक एकता के साथ ही राजनीतिक एकता की स्थापना हुई।

(12) **भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार**—भारतीय संस्कृति के प्रसार के क्षेत्र में बौद्ध धर्म की महान् देन है। इस धर्म के फलस्वरूप हमारी संस्कृति का प्रसार; चीन, जापान, मंगोलिया, बर्मा, जावा, सुमात्रा, तिब्बत और लंका आदि देशों में हुआ। बौद्ध धर्म देश की सीमाओं में बँध कर नहीं रहा। फलस्वरूप उसका

विदेशों में प्रसार हुआ और विदेशियों ने भारत को एक तीर्थ समझा । श्री जदुनाथ सरकार ने लिखा है, "बौद्ध धर्म ने भारत तथा विदेशों के बीच सम्बन्ध स्थापित किया । यह देश का विश्वव्यापी आन्दोलन था, जिसमें जाति का कोई बन्धन नहीं था, अतः सभी प्राचीन पूर्वी देशों ने इसे स्वतन्त्रतापूर्वक अपना लिया । भारतीय भिक्षु तथा विद्वानों ने बौद्ध धर्म का सन्देश ईसा से तीन शताब्दी पूर्व ही विदेशों में पहुँचा दिया था, अतः इस धर्म के मानने वाले विदेशी भारत को पवित्र तीर्थ-स्थान तथा अपने धर्म का मूल स्रोत मानने लगे थे और गृहस्थ भारत की यात्रा को तीर्थ-यात्रा समझने लगे थे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की महान् देन है ।

●

14

जैन धर्म

(Jainism)

प्रश्न (1) महावीर स्वामी के जीवन चरित्र पर संक्षेप में प्रकाश डालिये तथा जैन धर्म के सिद्धान्त लिखिये ।

जैन धर्म के जन्म के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त काल तक मतभेद रहा । पहले यह विश्वास था कि महात्मा बुद्ध के समकालीन महावीर ही जैन मत के प्रवर्तक थे, परन्तु अब स्पष्ट हो गया है कि महावीर जैन-तीर्थंकरों की 24वीं कड़ी थे । इनके पूर्व 23 तीर्थंकर जैन धर्म का प्रचार कर चुके थे । वे ये हैं—(1) ऋषभ (2) अजीत (3) सम्भव (4) अभिनन्दन (5) पदम प्रभु (6) सुपार्श्व (7) चंद प्रभु (8) सुविधि (9) शीतल (10) श्रेयास (11) वासुपुज्य (12) विमल (13) अनन्त (14) धर्म (15) शान्ति (16) कुन्थ (17) अर (18) मतलि (19) मुनिसुब्रत (20) नेमि (21) आरिष्ट नेमि और (22) पार्श्वनाथ ।

पार्श्वनाथ—पहले 22 तीर्थंकरों के विषय में हमारी जानकारी अधिक नहीं है । परन्तु 23 वें तीर्थंकर पाश्चर्वनाथ के विषय में हमें पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है । पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे और 23वें तीर्थंकर थे जैकोबी के अनुसार जैन धर्म के वास्तविक संस्थापक पार्श्वनाथ ही थे । उनका जन्म लगभग 250 वर्ष ई० पू० हुआ था । ये बनारस के राजा अश्वसेन के पुत्र थे । इनका विवाह सम्राट नरवर्मा की पुत्री प्रभावती से हुआ था । 30 वर्ष की आयु में ये संन्यासी हो गये । 83 दिनों की समाध्रि के बाद इनको सम्मेय पर्वत पर ज्ञान प्राप्त हुआ । ज्ञान-प्राप्ति के बाद ये

विभिन्न नगरों के घूमे और धर्म-प्रचार किया। 100 वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हो गई। पार्श्वनाथ ने चार गणों की स्थापना की। प्रत्येक गण एक गणधर के निरीक्षण में कार्य करता था।

पार्श्वनाथ ने जैन भिक्षुओं के लिये चार व्रत आवश्यक बतलाये थे—(1) मैं जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं करूँगा, (2) मैं सदा सत्य बोलूंगा, (3) मैं चोरी नहीं करूँगा और (4) मैं कोई सम्पत्ति नहीं रखूंगा। इन्हीं सिद्धान्तों को जैन धर्म के भिक्षुओं ने अहिंसा, सत्य, अहार्य और अपरिस्ते का नाम दिया है।

पार्श्वनाथ देववाद और यज्ञवाद के विरोधी थे। वेदों पर भी उनका विश्वास न था ब्राह्मणों के हिंसात्मक यज्ञों और जाति-व्यवस्था में भी उनका विश्वास न था। वे प्रत्येक व्यक्ति को मोक्ष अधिकारी मानते थे।

महावीर का जीवन चरित्र

जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया है कि महावीर को जैन-धर्म का संस्थापक मानना भ्रमपूर्ण है। यह जैन-धर्म के 24 वें अर्थात् अन्तिम तीर्थंकर थे। उनके जीवन-चरित्र की चर्चा यहाँ संक्षेप में कर रहे हैं :—

जन्म एवं बालकाल—इनका जन्म वैशाली में कुण्डग्राम नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ था। इनके दो नाम मिलते हैं—श्रेयान्स और यसान्स। महावीर की माता का नाम त्रिशाला था, जो वैशाली के राजा चेटक की बहन थी। उनकी माता के लिये प्रियकारिणी और विदेहदत्त नाम भी प्रयुक्त हुए हैं। सिद्धार्थ और त्रिशाला की तीन सन्तानें हुईं—एक कन्या-और दो पुत्र। छोटे लड़के का नाम वर्धमान रखा गया। यही आगे चलकर महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर में उनको वीर, अर्हंत जिन और भगवत आदि नामों से भी सम्बोधित किया गया।

वर्धमान का बाल्यकाल राजकुमारों की भाँति व्यतीत हुआ। छोटी आयु से ही उन्हें अच्छी शिक्षा मिलनी प्रारम्भ हो गई और शीघ्र ही वह समस्त विद्याओं और शिल्पों में निपुण हो गये।

विवाह एवं गृहस्थ जीवन—वर्धमान का विवाह यशोदा नामक राजकन्या के साथ सम्पन्न हुआ। उनके एक पुत्री भी हुई जिसका विवाह जमाली नामक क्षत्रिय से हुआ। 30 वर्ष की आयु तक वर्धमान गृहस्थ जीवन व्यतीत करते रहे। 20 वर्ष की आयु में अपने पिता के स्वर्गवास के पश्चात् उन्होंने भिक्षु बनने का दृढ़ निश्चय किया।

ज्ञान की खोज—तीस वर्ष तक वर्धमान ने सांसरिक जीवन अवश्य व्यतीत किया था परन्तु उनकी प्रवृत्ति श्रेय मार्ग की ओर उन्मुख होना चाहती थी। यही कारण था कि उन्होंने अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन और अन्य सम्बन्धियों से अनुमति प्राप्त कर गृह का परित्याग कर दिया और ज्ञान की खोज में चल पड़े। महावीर और उनके परिवार के अन्य सदस्य पहले ही पार्श्वनाथ के जैन धर्म के अनुयायी थे, अतः स्वाभाविक रूप से महावीर जैन भिक्षु बन गये। उन्होंने जैन भिक्षुओं के समान दाढ़ी मूँछ और सिर के बाल मुड़वा लिये और तपोमय जीवन व्यतीत करने लगे।

उसके बाद उन्होंने अत्यन्त कठोर तप करना प्रारम्भ किया। वे शारीरिक यंत्रणा एवं आत्म-हनन का जीवन व्यतीत करने लगे।

ज्ञान की प्राप्ति—बारह वर्ष तक घोर तपस्या करने के पश्चात् 'जाम्भिक' नामक ग्राम के पास ऋजपालिका नदी के तट पर वर्धमान को कैवल्य (ज्ञान) की प्राप्ति हुई। तभी उन्हें 'केवलम्' की उपाधि मिली। इन्द्रियों के जीतने के कारण वे जिन कहलाये और अर्हत (पूज्य), निर्गन्ध (बन्धनहीन) तथा महावीर आदि नामों से विख्यात हुए। वे 24 वें तीर्थंकर स्वीकार किये गये।

महावीर का धर्म प्रचार—ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् महावीर ने धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। तत्कालीन भारत में विभिन्न धर्मों के अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। इनमें वृद्ध, नास्तिक, सांख्य वेदान्तीय, अपृष्टवादीय, आजीविक, वैराशिक तथा शैव आदि मुख्य थे। महावीर को अपने मत का प्रचार समस्त वादों की प्रतिस्पर्धा में करना था। भाग्यवश उन्हें अनेक राजघरानों का सहयोग प्राप्त हो गया। मगध नरेश बिम्बिसार, कौशम्बी के राजा उदयन, सिन्धु सौदीह नरेश स्तानिक, अवंती नरेश प्रद्योग, चम्पा नरेश दधिवाहन, जो महावीर के सम्बन्धी थे, आदि ने महावीर स्वामी के धर्म-प्रचार में बहुत बड़ा योग दिया। चेकट स्वयं महावीर का बड़ा भक्त था। गणराज्यों में वैशाली राज्य में महावीर स्वामी का प्रभाव व्यापक था। चम्पा का राजा दधिवाहन, महावीर स्वामी के प्रति विनम्र था। जैन साहित्य के अनुसार कौशाम्बी नरेश की पत्नी मृगावती भी धर्म में दीक्षित थी।

धर्म प्रचार में जिन धार्मिक शिष्यों ने महावीर को अत्यधिक सहयोग प्रदान किया उनके नाम हैं—(1) आनन्द (2) सुरदेव (3) कामदेव (4) संघाल पुत्र (5) नन्दिनीमिया, (6) चुलानिसिया (7) साल्हीपिया (8) महासयग (9) चुल्लुसभग (10) कुण्डकोलिय आदि।

मृत्यु—महावीर अपने धर्म के प्रचार के लिये जीवन-पर्यन्त संघर्ष करते रहे। ई० पू० 527 में पटना जिले में पावापुरी नामक स्थान पर महावीर का देहान्त हो गया।

जैन धर्म के सिद्धान्त

जैन धर्म की वास्तविक शिक्षाएँ क्या थीं? इस पर प्रकाश डालना एक दुष्कर कार्य है। इसका कारण है कि जो जैन साहित्य उपलब्ध होता है वह महावीर के समय बहुत पीछे संकलित हुआ। महावीर की मृत्यु के कई सौ वर्ष बाद वल्लभ की महासभा में इस साहित्य का संकलन किया गया। इस बीच जैन धर्म के सिद्धान्त और उसकी शिक्षाओं में निरन्तर परिवर्तन होता गया। फिर भी जैन धर्म का जो वर्तमान रूप परिलक्षित होता है उसके आधार पर जैन धर्म की शिक्षाओं की चर्चा यहाँ की जा रही है।

(1) **अनिश्वरवाद**—जैन धर्म ईश्वर को इस सृष्टि का निर्माता और पालन कर्त्ता नहीं स्वीकार करता। उसके अनुसार "ईश्वर उन शक्तियों का उच्चतम शालीनतम और पूर्णतम व्यक्तिकरण है जो मनुष्य की आत्मा में निहित रहती है।" जैन धर्मानुयायी संसार को अनादि और अनन्त मानते हैं। उसके अनुसार छः द्रव्य हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, अवकाश और काल। संसार इन्हीं छः द्रव्यों का योग है।

वह ईश्वर की कृति नहीं है। यही कारण है कि जैनी ईश्वर पूजा में विश्वास नहीं करते और उन तीर्थंकरों की पूजा करते हैं जिनकी आत्मा समस्त बन्धनों से मुक्त हो गई है और जो पूर्ण, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है।

(2) **आत्मवाद**—जैन धर्म में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। हिन्दू धर्म की भाँति ही जैन धर्म भी आत्मा को अजर अमर मानता है। उसके अनुसार आत्मा सर्वदृष्टा है परन्तु कर्म के जाल एवं बन्धन उसकी शक्तियों को कम कर देते हैं। जिस प्रकार जीव भिन्न है उसी प्रकार आत्मा भी भिन्न है। आत्मा सुख और दुख का अनुभव करती है। यद्यपि आत्मा धर्म से अलग और उसकी कोई आकृति नहीं होती परन्तु प्रकाश की भाँति वह अपना अस्तित्व रखती है। आत्म स्वभाव से निर्विकार है परन्तु कर्मों के कारण वह बन्धनों में पड़ जाती है। आत्मा की भक्ति के लिए उसे कर्म के बन्धन से मुक्त करना आवश्यक है।

(3) **कर्म की प्रधानता**–जैन धर्म को प्रमुखता प्रदान करता है। जैनी इस बात में विश्वास करते हैं कि पूर्व-जन्म के कर्म का फल अवश्य मिलता है। अपने कर्मों के अनुसार ही यह निश्चित होता है कि हमारा जन्म कहाँ होगा और हमारा शरीर कैसा होगा। व्यक्ति के रूप, रङ्ग, आयु आदि बातों का निश्चय कर्मों के अनुसार ही होता है। जैन धर्म में कर्मों के 8 भेद बताये गए हैं। वे हैं—

(1) ज्ञानावरणीय (आत्मा के ज्ञान को ढकने वाला कर्म)
(2) दर्शनावरणीय (आत्मा की सम्यक् दर्शन शक्ति को रोकने वाला कर्म)।
(3) वेदनीय (सुख,-दुख के सम्यक् ज्ञान को रोकने वाला कर्म)।
(4) मोहनीय (मोह में डालने वाला कर्म)।
(5) आयु कर्म (मनुष्य की आयु को निर्धारित करने वाला कर्म)।
(6) नाम कर्म (गति, शरीर और परिस्थिति को निर्धारण करने वाला कर्म।
(7) गोत्र-कर्म (गोत्र के ऊँच-नीच स्तर को निर्धारित करने वाला कर्म)।
(8) अन्तराय कर्म (सत्कर्मों में बाधक कर्म)।

(4) **निवृत्ति मार्ग**—बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी नियुक्ति मार्ग का पोषक है। संसार दुख से पूर्ण है, संसार के सुख क्षणिक हैं जिनकी प्राप्ति से व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता। व्यक्ति जितना संसार में लिप्त होता है, उसका बन्धन उतना ही बढ़ता है। संसार में कामनाओं की तृप्ति विषय-भोग के रूप में है। दुखों से निवृत्ति जैन धर्म का प्रधान उपदेश है। जैन धर्म के भिक्षु संसार त्याग कर संसार-कल्याण के लिए उपदेश देते थे।

(5) **निर्वाह**—बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी निर्वाण को चरम लक्ष्य मानता है। कर्मफल से मुक्त होने के बाद ही व्यक्ति को निर्वाण की प्राप्ति होती है। निर्वाण प्राप्त होने के बाद सुख-दुख से छुटकारा मिल जाता है तथा अनन्त शान्ति की प्राप्ति होती है। निर्वाण; शरीर के विनाश का भौतिक तत्व के विनाश का नाम है। जीवन में आत्मिक तत्व का नाश नहीं होता है।

(6) **त्रिरत्नों का विधान**—जैन धर्म के अनुसार अज्ञानतावश ही मनुष्य काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ के वशीभूत होता है। पूर्व-जन्म के कर्मफल से बचने के लिए जैन धर्म त्रिरत्नों का पालन का आदेश देता है। ये त्रिरत्न हैं–सम्यक-

ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, और सम्यक् चरित्र । इन त्रिरत्नों को जैन धर्म ने बहुत अधिक महत्व दिया है। बिना सम्यक् ज्ञान के मुक्ति नहीं प्राप्त होती । इसका ज्ञान उन तीर्थंकरों के उपदेशों से प्राप्त होता है जिन्होंने कर्म-बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर ली है । इसके साथ ही सम्यक् दर्शन भी अत्यन्त आवश्यक है । सम्यक् चरित्र के लिए मनुष्य को अपनी इन्द्रियों, भाषण और कर्मों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए । ऐसा करने से ही उसकी आत्मा सांसारिक प्रवाह में नहीं बहेगी और उसको मुक्ति भी प्राप्त हो जायेगी ।

(7) **पंचमहाव्रत**—कर्म-बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए सांसारिक विषयों के प्रवाह में बहने से अपने को दूर रखना प्रत्येक जैन भिक्षु का कर्त्तव्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जैन धर्म में 7 स्थान बताये गए हैं । जिनमें से 'पंचमहाव्रत' अत्यधिक महत्वपूर्ण है । पंचव्रत, जैन भिक्षु के लिए अत्यन्त आवश्यक है । ये पंचमहाव्रत हैं–अहिंसा-महाव्रत, सत्य महाव्रत, अस्तेय महाव्रत, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत ।

(1) **अहिंसा महाव्रत**—व्यक्ति जाने व अनजाने किसी प्रकार की हिंसा न करे । इस हेतु निम्नलिखित कार्यों को करना आवश्यक है—

(क) **ईषा समिति**—ऐसे मार्ग पर चलना जिससे कीट-कीटाणुओं किसी की हिंसा न हो ।

(ख) **एषणा समिति**—भोजन में किसी जीव की हिंसा न हो ।

(ग) **भाषण समिति**—मधुर वाणी का प्रयोग, जिससे वाचसिक हिंसा न हो।

(घ) **आदान क्षेपता समिति**—सम्पूर्ण सामग्री की देख-रेख कर लेना जिससे जीव-हिंसा न हो ।

(ङ) **व्युत्सर्ज समिति**—मल-मूत्र त्याग ऐसे स्थान व समय में हो जिससे जीव-हिंसा न हो ।

(2) **सत्य महाव्रत**—वार्ता सदैव सत्य हो, इसके लिए निम्नलिखित बातों की अपेक्षा है—

(क) अनुबिम भाषी—बिना सोचे समझे न बोले ।

(ख) कोहं परिजानति—क्रोध के समय न बोले ।

(ग) लोभं परिजानति—लोभ के आने पर न बोले ।

(घ) भयं परिजानति—भय के समय असत्य न बोले ।

(ङ) हांस परिजानति—हंसी के समय असत्य न बोले ।

(3) **अस्तेय महाव्रत**—बिना आज्ञा प्राप्त किए किसी वस्तु को नहीं छूना चाहिए । इस व्रत के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

(क) बिना आज्ञा किसी के घर न जाये ।

(ख) गुरु की आज्ञा बिना भिक्षा के भोजन को ग्रहण न करे ।

(ग) बिना आज्ञा बिना भिक्षा के भोजन को ग्रहण न करे ।

(घ) बिना आज्ञा किसी के घर न रहे ।

(ङ) घर में रहते हुए मालिक की आज्ञा के बिना किसी वस्तु का प्रयोग न करे।

(च) यदि कोई भिक्षु किसी घर में रहता है तो उस घर में बिना मालिक की आज्ञा के न जाय।

(4) **ब्रह्मचर्य महाव्रत**—ब्रह्मचर्य का पालन एक शिक्षु के लिये आवश्यक है। इस सम्बन्ध में पाँच बातें ध्यान रखने योग्य हैं—

(क) किसी स्त्री से वार्ता न करे।

(ख) किसी स्त्री को न देखे।

(ग) नारी संसर्ग का ध्यान न करे।

(घ) सरल तथा थोड़ा भोजन करे।

(ङ) कोई स्त्री जहाँ रहती हो वहाँ न रहे।

(8) **अपरिग्रह महाव्रत**—उपरिग्रह महाव्रत का अभिप्राय बड़ा विस्तृत तथा गम्भीर है। भिक्षु के लिये यह आवश्यक है कि वह किसी भी सम्पत्ति का संचय न करे और किसी भी वस्तु के साथ किसी प्रकार का मोह न देखे। इन्द्रियों द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द का जो अनुभव मनुष्य को प्राप्त होता है उससे विरत हो जाना ही उपरिग्रह व्रत का पालन है। इस व्रत का ठीक प्रकार से पालन करने से मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बनता है।

(9) **पंच अणुव्रत**—ऊपर जिन 5 महाव्रतों का वर्णन किया गया है उनका उसी रूप से पालन करना गृहस्थ लोगों के लिये दुष्कर है। शिशु ही उन कठोर बातों का पालन कर सकते हैं। गृहस्थों के लिये 5 बातों का विधान किया गया है जिन्हें पंच अणुव्रत कहा जाता है। ये व्रत उतने कठोर नहीं जितने कि पंच महाव्रतों में अणुव्रत हैं :—(क) अहिंसा अणुव्रत, (ख) सत्य अणुव्रत; (ग) अस्तेय अणुव्रत, (घ) ब्रह्मचर्य अणुव्रत और (ड) परिग्रह अणुग्रह।

इन बातों के आधारभूत सिद्धान्त महाव्रतों के समान ही केवल उनमें कठोरता और अतिवादिता नहीं हैं।

(10) **तीन अणुव्रत**—उपर्युक्त अणुव्रतों का पालन तो गृहस्थों को सदा करना ही चाहिये परन्तु समय-समय पर कुछ कठोर व्रतों को करना भी आवश्यक है। ये व्रत गुणव्रत के नाम से प्रसिद्ध है। ये निम्नलिखित हैं—

(क) गृहस्थ कभी-कभी ऐसे व्रत ले ले कि मैं इस निश्चित प्रदेश में ही रहूँगा और इससे बाहर नहीं जाऊँगा।

(ख) वह कोई ऐसा कार्य न करे जिससे उनका कोई सम्बन्ध न हो।

(ग) वह अपने भोजन का ही परिमाण निश्चित कर दे और उससे अधिक न खाये। उसे अपनी माँग की भी सीमा निश्चित करनी चाहिये।

(11) **व्रत या तपस्या को विशेष महत्व**—ऊपर लिखी बातों से यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म से व्रत, उपवास और तपस्या को विशेष महत्व दिया गया है। आमरण अनशन करके प्राण त्याग कर देना जैन धर्म में बहुत अच्छा माना गया है

इसके द्वारा मनुष्य निकृष्ट प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं और वह कर्म-बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करता है।

(12) **साधु का आदेश**—जैन धर्म में साधु के लिये एक निश्चित आदर्श निर्धारित किया गया है। कुछ ऐसे श्लोक, जिनमें कि इन आदर्शों का निर्धारण किया गया है का अनुवाद किया जा रहा है।

जिन वस्तुओं के साथ तुम्हारा पहले स्नेह रहा हो उनसे स्नेह तोड़ दो। अब किसी नयी वस्तु से स्नेह करो। जो तुमसे स्नेह करते हैं उनसे भी स्नेह मत करो। तभी तुम पाप और घृणा से मुक्त हो सकोगे।

"साधु को चाहिये कि आत्मा के सब बन्धनों को काट दे। किसी वस्तु से घृणा न करे। किसी से स्नेह न करे। किसी प्रकार की मौज में अपने को न लगावे।"

"किसी भी प्राणी की मन, वचन व कर्म से किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचानी चाहिये।"

"साधु को केवल अपनी जीवन यात्रा के निर्वाह के लिये ही भोजन की भिक्षा माँगनी चाहिये। उसका भोजन स्वादिष्ट नहीं होना चाहिये।

(13) **स्त्रियों की स्वतन्त्रता**—महावीर स्त्री स्वतन्त्रता में विश्वास करते थे। महात्मा बुद्ध की भाँति महावीर की दृष्टि में भी स्त्रियाँ निर्वाण की अधिकारिणी थीं। तीर्थंकर पार्श्वनाथ भी इसी विचार के समर्थक थे। जैन धर्म में अनेक स्त्रियाँ शिक्षुणियाँ हुयीं।

(14) **ब्राह्मण धर्म का विरोध**—जैन धर्म ने ब्राह्मण धर्म की क्रियाओं वेदवाद, यज्ञवाद, जातिवाद, आदि का विरोध किया। वेद ज्ञान को महावीर प्रामाणिक नहीं मानते। अहिंसा के कारण महावीर स्वामी ने यज्ञों का भी विरोध किया। श्री जे० एस० नेगी का मत है बौद्ध धर्म की तरह ही जैन-धर्म भी वेदों को मान्यता नहीं प्रदान करता और ब्राह्मणों के योग कर्मों आदि को महत्व नहीं देता।

निर्वाण का द्वार सभी के लिये खुला है। सभी जातियों के लोग निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म मानवीय भावनाओं से अत्यधिक प्रभावित था। उसमें सात्विक और पवित्र जीवन की महत्ता पर बल देकर अहिंसा का जो मार्ग निर्धारित किया गया वह चिरन्तन और चिरकालीन है।

प्रश्न (2) जैन धर्म के सीमित प्रकार और पतन के कारणों का संक्षिप्त परिचय दीजिये और उसके योगदान पर प्रकाश डालिये।

जैन धर्म, बौद्ध धर्म की अपेक्षा कम प्रचलित हुआ। महावीर के समय में वह मगध और अंग देश विशेष रूप से प्रचलित रहा। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी इस धर्म का देशव्यापी और अन्तर्देशीय धर्म के होने का गौरव प्राप्त नहीं हुआ। भारत के अतिरिक्त अन्य किसी देश में तो यह धर्म कभी पनपा ही नहीं। इस धर्म के सीमित विकास के निम्नलिखित कारण थे :—

(1) **अव्यावहारिक सिद्धान्त**—महावीर स्वामी के अहिंसा, नग्नता, केश

मुन्डन और आमरण अनशन तथा कठोर तप के सिद्धान्त साधारण जनता के लिये अत्यन्त अव्यावहारिक सिद्ध हुये। इसी कारण यह धर्म कभी लोक धर्म न बन सका।

(2) **जातिगत भेदभाव**—महावीर स्वामी जाति-भेद के विरोधी थे परन्तु उनके अनुयायिओं ने जातिविहीनता के सिद्धान्त को सही अपनाया। संघ प्रवेश के समय उच्च जाति के लोगों को सदैव प्राथमिकता दी गयी।

(3) **ब्राह्मण धर्म से सम्बन्ध**—ब्राह्मण धर्म के बहुत से सिद्धान्त जैन धर्म से मिलते गये। ब्राह्मण धर्म ने अनेक सामाजिक संस्कार, भक्तिवाद, बहुसंख्यक देवी देवता: जैन धर्म में प्रवेश पा गये। फलस्वरूप जैन धर्म की नूतनता और नवीनता समाप्त हो गयी और इस कारण इसका प्रभाव अत्यन्त व्यापक न हो सका।

(4) **जैन संघों का संगठन**—जैन संघ बौद्ध संघ की अपेक्षा कम जनतांत्रिक थे। इनमें गणधरों अथवा धर्माचार्यों की शक्ति अत्यधिक थी। जैन संघों की कोई विकसित वैधानिक व्यवस्था और व्यावहारिक जन-प्रणाली भी न थी। यही कारण था कि जिन धर्म को कभी भी जनता की व्यापक सहायता न प्राप्त हो सकी।

(5) **विद्वानों का अभाव**—जहाँ बौद्ध धर्म को प्रतिभाशाली प्रचारकों और उद्भट विद्वानों को प्रश्रय मिला वहाँ जैन धर्म में विद्वानों की संख्या कम रही। अश्वघोष, नागार्जुन और बुद्धघोष जैसे विद्वान यदि जैन धर्म को अधिक मात्रा में प्राप्त होते तो जैन धर्म धर्मों की दौड़ में पीछे न रहता।

(6) **राजधर्म पर प्रतिष्ठित न होना**—यद्यपि महावीर के समय में कुछ राजघरानों ने जैन धर्म को स्वीकार किया था परन्तु कभी भी इस धर्म के पद पर प्रतिष्ठित होने का गौरव न प्राप्त हो सका। बहुसंख्यक भारतीय नरेश इस धर्म के प्रति उदार तो अवश्य रहे परन्तु यह उदारता धर्म की देश व्यापकता और अन्त-र्देशीयता के लिए पर्याप्त न थी। इस देश में यदि कोई जैन अशोक, समुद्रगुप्त अथवा हर्ष की तरह उत्पन्न हुआ होता तो जैन धर्म का प्रचार भी सीमित न रहा होता।

(7) **धर्म-प्रचारकों का अभाव**—जैन धर्म को बौद्ध धर्म जैसे प्रचारक भी नहीं प्राप्त हुये। बौद्ध धर्म के विदेश में प्रचार का श्रेय बौद्ध भिक्षुओं को है, जिन्होंने निरन्तर कठिनाइयों का सामना करते हुये सुदूर देशों में अपने धर्म का प्रचार किया। बौद्ध धर्म के ग्रन्थों के लिये फाह्यान और ह्वेनसाँग जैसे विद्वान् भारत आये। परन्तु धर्म-प्रचारकों के अभाव के फलस्वरूप जैन धर्म किसी विदेशी श्रद्धालु को आकर्षित न कर सका।

(8) **कलाकारों का अभाव**—किसी भी धर्म का प्रचार जितना अधिक लेखनी से होता है उससे कहीं अधिक छेनी और तूलिका से। बौद्ध धर्म प्रचार में कलाकारी में महान् योगदान दिया। जिस कुशलता से पाषाण खण्डों के द्वारा उन्होंने अपने धर्म का प्रचार करना चाहा वह निःसन्देह प्रशंसनीय है। दुर्भाग्यवश जैन प्रचारकों ने जैन धर्म प्रचार के लिये कला को माध्यम नहीं बनाया। अतः साधारण जनता जो ग्रन्थों और प्रवचनों से दूर रहती है जैन धर्म की ओर आकर्षित न हो सकी।

(9) **जैन साहित्य की भाषा**—जैन साहित्य की भाषा संस्कृत थी जो लोक भाषा न रही थी। किसी भी धर्म के प्रचार के लिये लोक भाषा के साहित्य के अभाव में जैन धर्म अधिक प्रचलित न हो सका।

जैन धर्म का पतन

वास्तविकता तो यह है कि जैन धर्म का अधिक उत्थान नहीं हुआ कि उसके पतन की बात की जा सके। यह धर्म सभी युगों में बहुत कम प्रचलित रहा परन्तु उसने अपनी जन्मभूमि से अपने अस्तित्व को नहीं खोया है। भारत का बौद्ध धर्म, जो देश विदेश में खूब प्रचलित हुआ और आज विश्व का पाँचवाँ भाग जिस धर्म का अनुयायी है। अपनी जन्म-भूमि से आज प्रायः विलुप्त हो चुका है परन्तु इसके विपरीत जैन धर्म का प्रचार यद्यपि विदेशों में नहीं है फिर भी अपनी जन्मभूमि भारत में वह आज भी विद्यमान है। उसकी अनुयायियों की संख्या काफी जैनियों के अनेक मन्दिर आज भी भारत विद्यमान हैं और आज भी जैनी अपने पर्व और त्यौहार बड़े उत्साह से मनाते हैं अतः जो आलोचक इस धर्म के पतन के दर्शन करते हैं वे भ्रांति में हैं। वास्तव में यह धर्म आज भी भारत में विद्यमान है। इस धर्म के स्थायित्व के निम्नलिखित कारण हैं—

(1) जैन धर्मानुयायी सदैव से कम संख्या में रहे हैं। अल्पसंख्यक समुदाय में एकता संगठन और सम्पर्क सुगम होता है और वह समुदाय समाप्त नहीं होता है। जैन धर्म के विषय में यही बात है।

(2) जैन धर्म के अनुयायी एक जाति के रूप में संगठित हो गये। उन्होंने अपने समुदाय के भीतर ही विवाह आदि किये। इस प्रकार उनकी संस्थायें धार्मिक ही नहीं रहीं, वरन् सामाजिक भी हो गयीं। अतएव जैन धर्म के स्थायित्व का एक कारण उसमें प्रतिष्ठित एक जातीयता भी है।

(3) जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म में बड़ी एकरूपता है। ब्राह्मण धर्म के बहुत से सिद्धान्त जैन धर्म में प्रविष्ट हो गये। बहुत सी बातों में यह धर्म ब्राह्मण धर्म से अभिन्न दिखाई पड़ता। आपातकाल में यही बात इस धर्म के स्थायित्व का कारण बनी। अन्य धर्मों का मूलोच्छेदन करने पर तुले हुये अतिवादी ब्राह्मण धर्मावलम्बी अपने धर्मानुयायियों और जैन धर्मानुयायियों में अन्तर ही नहीं स्पष्ट कर सके। इसका प्रभाव यह हुआ कि बौद्ध धर्म पर तो कुठाराघात हुआ, परन्तु जैन धर्म बच गया।

प्रश्न (3) जैन धर्म और हिन्दू धर्म के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए और जैन धर्म की देर पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

जैन धर्म और हिन्दू धर्म

जैन धर्म के सिद्धान्त ब्राह्मण या वैदिक धर्म के सिद्धान्तों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। वास्तव में जैन धर्म हिन्दू धर्म का सुधारवादी रूप था। उसके अनेक सिद्धान्तों पर हिन्दू दर्शन की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। वैदिक धर्म का विरोध जैन धर्म के उदय के पूर्व ही होने लगा था। एक विद्वान् ने बहुत ही स्पष्ट रूप में लिखा है—"अगर वेदों की निन्दा को लें तो वह भी महावीर और बुद्ध के आविर्भाव के पहले ही शुरू हो गयी थी। जो ऋषि कर्मकाण्ड को नाकाफी या गलत मानकर

उपनिषदों में एक नये धर्म की खोज कर रहे थे, वेद की निन्दा असल में उन्हीं उद्‌गारों में आरम्भ हुयी। कठोपनिषद में भी विद्या और अविद्या के बीच विभाजन करते हुये ऋषि ने वेद की गिनती अविद्याओं में की है, क्योंकि वेद जो यज्ञ सिखाते हैं उससे आत्म विद्या को प्राप्त करने में सहायता नहीं मिलती।

उपर्युक्त मत में यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वेदों की प्रमाणिकता का विरोध करने वाले जैन धर्म के उत्थान से पूर्व हो गये हो। जैन धर्म यह नहीं मानता कि संसार का निर्माण ईश्वर ने किया है। इसके पूर्व ही साँख्य दर्शन और योग दर्शन इस बात को स्वीकार करते थे। यह दोनों दर्शन भी संसार को कृत नहीं मानते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि जैन धर्म में कोई नवीन बात नहीं थी। एक विद्वान् ने स्पष्ट किया है कि महावीर स्वामी ने अपने शिष्यों को आदेश दिया था कि ब्राह्मणों के समान जीवन व्यतीत करो। उन्होंने लिखा है "महावीर स्वामी ने अपने अनुयायियों को उसी प्रकार के आचरणों को धारण करने का उपदेश दिया जिस प्रकार का एक ब्राह्मण संन्यासी हुआ करता है।" कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में परिव्राजक के जीवन के विषय में लिखा है "संन्यासी का कर्तव्य है कि वह अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखे, साँसारिक वस्तुओं से अपने को अलग कर दे, जनता के संसर्ग में न रहे, भिक्षाटन करे, वन में निवास करे......जीवों को क्षति न पहुँचाये।" यह साधारण नियम प्रायः सभी जैन धर्मग्रन्थों में उपलब्ध है।

कुछ विद्वानों का मत है कि जैन धर्म ने सबसे पहले जातिवाद का विरोध किया परन्तु यह मत युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। जातिवाद का खण्डन महावीर से बहुत पहले हो चुका था। एक विद्वान् ने ठीक ही कहा है—जब महावीर स्वामी कहते हैं कि ब्राह्मण जन्म से ही बाह्मण नहीं होता है वरन् अपने सत्कर्मों से होता है तब भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनियों ने किसी नयी बात का प्रचार नहीं किया, क्योंकि इससे हमें सत्यकाम, जाबालि आदि की याद आ जाती है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण धर्म में भी मनुष्य की पवित्रता आदि का निश्चय नहीं होता है।

महावीर स्वामी के कर्म के लिए सिद्धान्त योगिराज कृष्ण के गीता के सिद्धान्तों से बहुत कुछ मिलते हुये हैं। गीता में महापुरुष श्रीकृष्ण ने जिस कर्मवाद की व्याख्या की है, उसको महावीर ने अपने जीवन में अपनाया। अतः जैन धर्म दर्शनों को नवीन दर्शन मानना भूल है। वास्तव में जैन धर्म हिन्दू धर्म का ही सुधारवादी रूप है।

जैन धर्म की देन

जैन धर्म भारतीय धर्म में अपना एक स्थान रखता है। इस धर्म का केवल दार्शनिक महत्व ही नहीं है वरन् साहित्य और कला के क्षेत्र में भी इस धर्म की महान् देन है। यहाँ हम संक्षेप में इस धर्म की महान् देन की चर्चा करेंगे।

(क) **दार्शनिक देन**—जैन दर्शन अति व्यापक और विस्तृत है। इस दर्शन पर वैदिक दर्शन की छाप तो कही जा सकती है परन्तु फिर भी इस दर्शन का एक अलग महत्व है। उदाहरण के लिए स्यातवाद, बिल्कुल नवीन और मौलिक दर्शन है।

जैन दर्शन जहाँ एक ओर अति व्यापक है वहाँ दूसरी ओर गम्भीरता से युक्त है। इस दर्शन में जहाँ एक व्यक्ति की उन्नति की ओर ध्यान दिया गया वहाँ दूसरी ओर समिष्ट के कल्याण की कामना है।

(ख) **अहिंसा का सिद्धान्त**—जैन धर्म का अहिंसा का सिद्धान्त कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है। परन्तु जैन धर्म में वैदिक धर्म की अपेक्षा अहिंसा पर अधिक दिया गया। महावीर स्वामी का सिद्धान्त था कि किसी भी जीव को कष्ट न देना चाहिए। जैन धर्म के इस अहिंसा के सिद्धान्त का व्यापक प्रसार हुआ। कालान्तर में वैदिक कर्मकाण्ड और यज्ञों में बलि देना समाप्त कर दिया गया। वैदिक धर्म में भी अहिंसा पर अधिक जोर दिया गया। आधुनिक युग में कोई भी वैदिक धर्म का उपासक किसी जैनी से कम अहिंसा प्रेमी नहीं है। परन्तु इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं कि वैदिक धर्मानुयायियों ने जैन धर्म के कारण जनता में हुआ उतना और किसी अन्य धर्म के कारण नहीं हुआ। अतः अहिंसा के क्षेत्र में इस धर्म की महान् देन है।

(ग) **साहित्यिक देन**—जैन धर्मावलम्बियों ने बोलचाल की भाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया। उनके अधिकतर ग्रन्थों की रचना प्राकृत भाषा में हुयी। अपभ्रंश में भी महान् साहित्य का सृजन किया गया। प्राकृत साहित्य को बनाने में जैन धर्मानुयायियों का विशेष हाथ है। दक्षिण के साहित्य पर भी जैन धर्म का प्रभाव स्पष्ट है। जैन विद्वानों के केवल धर्म और दर्शन के ग्रन्थों का सृजन ही नहीं किया वरन् गणित, व्याकरण काव्य आदि पर भी अनेक ग्रन्थों को लिखा। संस्कृत भाषा में जैन धर्मानुयायियों ने अपेक्षाकृत कम ग्रन्थों का निर्माण किया।

महावीर स्वामी की मुत्यु के पश्चात् जैन लेखकों अपनी लेखनी बहुत तीव्र गति से चलायी। उनकी मुत्यु के 200 वर्ष बाद पाट में एक जैन सभा हुई जिसके साहित्यिक क्षेत्र की ओर अधिक ध्यान दिया गया। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही जैनियों ने धार्मिक ग्रन्थों का निर्माण किया। जैन साहित्यकारों में हेमचन्द हरिभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद आदि के नाम से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(घ) **कलात्मक देन**—धर्म और दर्शन के अतिरिक्त कला के क्षेत्र में भी जैनियों की महान् देन है। इस धर्म के अनुयायियों ने अनेक गुफाओं का निर्माण करवाया। उदयगिरि की टाइगर केव और ऐलोरा की इन्द्र सभा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अनेक मन्दिर पाषाण स्तम्भ, मूर्तियों आदि का निर्माण भी इस धर्म के अनुयायियों ने किया। श्रमणवेलगोला में गोमतेश्वर की 56 फीट ऊँची मूर्ति की रचना ग्रेनाइट तथा पत्थर काट कर की गयी है। ग्वालियर के जैन मन्दिरों को देखते ही बनता है। खजुराहो और आबू के जैन मन्दिर कला से पूर्ण हैं। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के मध्य जैन कला बहुत अधिक विकसित हुयी। दक्षिण भारत के राज्यों ने भी इस कला को अत्यधिक पल्लवित किया। इस युग में मध्य प्रदेश तथा बुन्देलखण्ड में अनेक जैन कला कृतियों का सृजन हुआ। इस धर्म के अनुयायियों ने अनेक स्तूप बनवाये। स्तूपों का पाषाण रेलिंग, अलंकृत प्रवेश के द्वारा पाषाण क्षेत्र आदि कला के सुन्दर नमूने हैं। जैन चित्रकला के दर्शन हस्तलिखित पुस्तकों में होते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न क्षेत्रों में जैन धर्म की महान् देन है। जैन धर्म यद्यपि भारत का मुख्य धर्म नहीं कहा जा सकता, परन्तु फिर भी वह सदैव पल्लवित रहा है। एक विद्वान ने ठीक ही लिखा है "यद्यपि यह भारत में अधिक प्रभुत्वशाली धर्म नहीं रहा तथापि देश में सशक्त सम्प्रदाय अवश्य ही बना रहा। जैन धर्म की रूढ़िवादिता, ब्राह्मण धर्म से इसकी सादृश्यता, धर्म, प्रकार की उग्र भावना का अभाव तथा अन्य धर्मों से विरोधाभास का दुर्भाव होने से जैन धर्म देश के विभिन्न भागों में आज भी विद्यमान है।

15

शैव धर्म

(Shaivism)

प्रश्न (1) शैव मत की प्राचीनता का उल्लेख कीजिए और उसके विभिन्न सम्प्रदायों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

शैव धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की विवेचना करते हुए वीर शैव सम्प्रदाय या लिंगायत मत के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

जिस प्रकार स्वयं शिव जी का जन्म, उनके माता-पिता तथा कुल आदि सब कुछ अज्ञात है अथवा उनके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, उसी प्रकार शैवमत भी अनादि प्रतीत होता है। स्वयं महेश्वर या शिव ही शैवमत के आदि उपदेष्टा माने जाते हैं। पाशुपत मत को ही प्रायः 'शैवमत' कहा जाता है—"माहश्वरा स्तुमन्यते कार्म्यकारणयोगविधिदुः खान्ताः पंच पदार्थों; पशुपतिनेश्वरेणपशुपाशवि मोक्षणा योपदिष्टाः" (सूत्र 37, अध्याय 2; शारीरिक भाष्य, शंकर स्वामी)।

हिन्दू वाङ्गमय में रुद्रादि नाम से शिव की उपासना उपलब्ध होती है। उपांगों में पशुपति, महेश्वर, परमेश्वर, शिव, शंकर आदि नामों के रूप में शिवोपासना प्रचलित दिखाई पड़ती है। आगमों एवं तन्त्रों में उसका विकास विशेष दिखाई पड़ता है। सभी तन्त्र उमा-महेश्वर-संवाद हैं। शैवतन्त्र तो शैवमत का ही प्रतिपादन करते हैं। अतएव यह सरलतापूर्वक स्वीकार किया जा सकता है कि शैवमत के प्रतिपादक स्वयं शिव भगवान ही हैं।

शैवमत की प्राचीनता—शिवरुद्र की उपासना अति प्राचीनकाल से प्रचलित है। शिवरुद्र की पूजा के बीज हमें वैदिक काल से ही उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद के शतरुद्रीय अध्याय की पर्याप्त प्रसिद्धि है। अथर्ववेद में शिव को भगवान कहा गया है। तैत्तिरीय आरण्यक (10/16) में समस्त जगत को रुद्र का रूप बताया गया है।

श्वेताश्वर (3/11) में भगवान शिव को सर्वानन शिरोग्रीव, सर्वभूय-गुहाशय, सर्व-व्यापी तथा सर्वगत आदि कहा गया है। पतंजलि के अनुसार शिवभागवत् अपने उपास्य आयुध-सूल को लिये रहते हैं। (पाणिनि, 5, 2, 76 पर भाष्य)। अथव-शिरस् उपनिषद् में पाशुपत व्रत, पशु, पश आदि तन्त्र के पारिभाषिक शब्दों की उपलब्धि होती है। इससे रुद्र-शिव की मान्यता ही नहीं, अपितु पाशुपति मत की प्राचीनता सिद्ध होती है। महाभारत के आधार पर तो पाशुपत मत की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। महाभारत के नारायीय पूर्व 2 में उल्लिखित धार्मिक मतों में पाशुपत भी एक मत है। (349, 50 श्लोक 64)। इस प्रसंग में कहा गया है कि शिव श्रीकण्ठ ने, जो उमा के पति, भूतों के स्वामी और ब्रह्मदेव के पुत्र हैं, इस मत के सिद्धान्तों का प्रकाशन किया था। (श्लोक सं० 67)

महाभारत काल में पाशुपत मत बहुत आदरणीय समझा जाता था। भीष्म पूर्व तथा द्रोण पूर्व में अर्जुन द्वारा शिव से पाशुपत्र अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है, सौप्तिक पूर्व में अश्वत्थामा शंकर से खड्ग प्राप्त करता है तथा अनुशासन पर्व में भगवान कृष्ण, जो भागवत् सम्प्रदाय के आराध्य देव और भगवान स्वयं हैं, सन्तान के लिये शैवाचार्य उपमन्यु से विधिवत् दीक्षा ग्रहण करते हैं। शंकर की आराधना करते हैं और वर प्राप्त करते हैं। वैशेषिक सूत्रों के भाष्य के अन्त में प्रशस्तवाद मर्हषि कणाद की वन्दना करते हुए कहते हैं कि कणाद ने भगवान महेश्वर के प्रसाद से योग और आचार द्वारा ये सूत्र प्राप्त किए। न्याय भाष्य पर उद्योतकार भारद्वाज में पाशुपताचार्य कहे गये हैं। विक्रम की 8वीं शताब्दी के आरम्भ में आने वाले चीनी यात्री ह्वेन सांग ने अपने यात्रा-विवरण में लगभग 12 बार पाशुपतों की चर्चा की है। कवियों में कालिदास, सुबन्धु, वाण, श्री हर्ष, भट्ट नारायण, भवभूति आदि ने ग्रन्थारम्भ में भगवान शिव की वन्दना की है। इससे प्रकट है कि शिवोपासना शैव के अनुयायियों तक ही सीमित न थी।

पुराणों और अभिलेखों में तो शैवमत सम्बन्धी अनेकानेक साक्ष्य प्राप्त होते हैं। वायु-पुराण (6/86-91) में शैवों के चार सम्प्रदाय बताये गये हैं। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र (23/37) के भाष्य में माहेश्वरों का तथा उनके प्रसिद्ध पंच पदार्थों का उल्लेख किया है।

वायुपुराण (अध्याय 23) और लिंग पुराण (अध्याय 24) के अनुसार माहेश्वर ने ब्रह्मदेव से कहा था कि युगों के अट्ठाइसवें प्रत्यावर्तन में कृष्ण द्वैपायन के समय जब वासुदेव जन्म लेंगे तब मैं श्मशान में पड़े हुए एक मृत शरीर में प्रविष्ट होकर लुकलिक नामक ब्रह्मचारी के रूप में अवतार लूंगा। यह घटना कायावतार या कायारोहण में घटेगी। मेरे चार शिष्य होंगे—कुन्तिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य। अन्त में पाशुपत अपने शरीर में भस्म रमाकर महेश्वर योग को करते हुए लोक-लोक को प्रस्थान करेंगे। लिंग पुराण में जहाँ भगवान शंकर के अट्ठाईस अवतारों का वर्णन है वहाँ भविष्य का वर्णन करते हुए कहा है कि द्वापर में लकुलीश नाम से भगवान शंकर का अवतार होगा। इस अवतार की चर्चा महाभारत में नहीं है। इससे सिद्ध है कि यह अवतार श्रीकृष्ण के पीछे हुआ और उनके बाद लकुलीश पाशुपत-सम्प्रदाय के उद्धारक हुए होंगे। सर्वदर्शन संग्रह में "लकुलीश पाशुपत दर्शन" की चर्चा से

स्पष्ट है कि पाशुपत सिद्धान्तों की यह एक विशेष शाखा बन गई थी । इस शाखा के अनुयायी मांसाहारी थे, मद्यपान करते थे और यज्ञों में पशु-बलि करते थे । मद्यपानादि के कारण पाशुपत मत बदनाम हो गया होगा और शंकर स्वामी ने पाशुपत मत का खण्डन किया होगा । पुराणों में कहीं-कहीं ऐसे शैवों की चर्चा आई है जो भगवान पशुपति के अनन्य भक्त थे, लिंक का वियोग एक क्षण के लिए भी नहीं सह सकते थे तथा करण्ड में शिव लिंग धारण किये रहते थे । उदाहरण के लिए काशी खण्ड के अनुसार काशी में पहुँचने पर दुर्वासा के पाशुपतों को इस रूप में देखते हैं—

करण्ड दण्ड पानीयपात्रमात्र परिग्रहान् ।
क्वचित त्रिदण्डिनो दृष्टवा नि रसगन्निष्यरिग्रहान् ।।

(काशी खण्ड, अध्याय 85)

ऐसे प्रगाढ़ शिव भक्तों का सम्प्रदाय 'वीर माहेश्वर' या 'वीर शैव' नाम से प्रसिद्ध हुआ । अपने अंग पर निरन्तर लिंग धारण करने से यह लोग प्राकृत से लिंगायत कहलाए । इनके अतिरिक्त शेष सभी लिंगार्चन करने वाले शैव कहलाये ।

अन्य साक्ष्यों के आधार पर भी शैवमत की प्राचीनता सिद्ध होती है । महाभारतकाल में या पूर्व में भी 'शिव भागवत' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, क्योंकि अथर्वशीर्ष उपनिषद् में 'भगवत' शब्द भगवान शंकर के लिये और पातंजल महाभाष्य में उपासक के लिए शिव भागवत शब्द का प्रयोग हुआ है । वाराहमिहिर ने वृहत्संहिता में लिखा है कि शम्भुमूर्ति की स्थापना में भस्मधारी ब्राह्मण से काम लेना चाहिए । कुशान जाति के एक राजा के सिक्के में जो विक्रम की चौथी शताब्दी का है, एक और राजा को माहेश्वर-सम्प्रदाय का कहा है और उसमें त्रिशूलधारी शिव और नन्दी का चित्र है ।

कई अभिलेखों के द्वारा भी शैवमत की प्राचीनता एवं व्यापकता का साक्ष्य उपलब्ध होता है । उदयपुर (राजस्थान) से 14 मील उत्तर में एकलिंग जी महादेव के मन्दिर के समीप एक अभिलेख में यह उल्लेख है कि भृगु से आराधित होकर शिव भृगुकच्छ देश में एक लकुटधारी पुरुष के रूप में जन्म लेंगे । उसमें पाशुपत-योग के ज्ञाता, भस्म, वल्कल और जटाधारी कुशिक आदि मुनियों का भी उल्लेख हुआ है । इस अभिलेख की तिथि वि० संवत् 1028 दी हुई है । वहीं पास में चित्र-प्रशस्ति नाम से एक अन्य अभिलेख मिला है । उसमें कहा गया है कि शिव, कहारक लकुलीश के रूप में अवतरित हुए और लाट देश के कारोहण में रहे । वहाँ पाशुपत व्रतों के सम्पादन के लिए कुशिक, गार्ग्य, कौरुप और मैत्रेय नाम के चार शिष्य भी शरीर धारण कर प्रकट हुए और वे चार सम्प्रदायों के जन्मदाता बने । यह अभिलेख वि० सं० 1274 और 1296 के बीच में लिखा हुआ है । मैसूर प्रदेश के सीर तालुका में हेमावती से प्राप्त एक अन्य अभिलेख में यह वर्णन मिलता है कि लकुलीश अपने नाम और सिद्धान्तों की रक्षा के लिए मुनिनाथ चिल्लुक के रूप में पुनः उत्पन्न हुए । इस अभिलेख की तिथि सन् 943 ई० (विक्रमी संवत् 1000) से दी हुई है ।

काँचीपुर के मन्दिरों के अभिलेखों से प्रकट होता है कि वहाँ शैवमत छठवीं शताब्दी में उत्पन्न अवस्था में था । पल्लव राजा राजसिंह ने एक मन्दिर, बनवाया

था तथा इस मन्दिर के देवता के नाम पर राजसिंहेश्वर रखा था। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर राजसिंह का समय सन् 550 ई० माना जाता है।

शैव-सम्प्रदाय—शैव-सम्प्रदायों के नाम भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलते हैं। अथर्ववेद में शिव को भगवान कहा गया है। पतंजलि ने एक शैव सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों को शिव भागवत कहा है। पतंजलि के अनुसार शिव-भागवत सम्प्रदाय के अनुयायी अपने उपास्य शिव के आयुध शूल को लिए रहते थे। (5, 2, 76, पाणिनी पर भाष्य)। जैसा कि हम अन्यत्र निवेदन कर चुके हैं, लकुलिन नामक व्यक्ति ने पाशुपत मत की स्थापना की थी। पाशुपत मत में चार सम्प्रदाय निकले, जिनके प्रवर्तक लकुलिन के शिष्य थे। हम यह भी लिख चुके हैं कि सातवीं शताब्दी के मध्य में कापलिक सम्प्रदाय तथा बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मैसूर में कालमुख एवं शैव सम्प्रदायों के विद्यमान होने के प्रमाण मिलते हैं।

शिव पुराण और स्कन्द पुराण में शैव-सम्प्रदायों की चर्चा नहीं है। कूर्म पुराण में सम्प्रदाय भेद का वर्णन है। कुर्म पुराण के अनुसार पाशुपत मत तीन प्रकार हैं—(क) वैदिक (ख) तान्त्रिक और (ग) मुमुक्ष। दृष्टव्य यह है कि पुराण कार तीन सम्प्रदायों के नाम लेने के उपरान्त यह लिख देता है कि जो एकनिष्ठ मुमुक्ष है, उन्हें वैदिक मत ही ग्रहण करना चाहिए, यथा—

निर्मितम् हि मया पूर्वम् व्रतम् पाशुपतम् शुभम्।
गुह्यद्गुह्यतरम् सुक्ष्मम् वेदसारम् विमुक्तये।
एवं पाशुपताचारः सेवनीयो मुमुक्षुभिः।
तान्त्रिकम् वैदिकम् मिश्रम् त्रिधा पाशुपतम् शुभम्।
× × ×
वेदमार्गे कनिष्ठानम् मुमुक्षुपाम् निरन्तरम्।
श्रीतम् पाशुपतम् ग्राह्यम् न ग्राह्यं मिश्रतांत्रिके।

वामनपुराण के अनुसार चार वर्ण बताए गए हैं—यथा—(क) शैव, (ख) पाशुपत (ग) कालमुख तथा (घ) कपाली।

महाभारत में केवल पाशुपत का ही वर्णन है। इस सन्दर्भ में रामदास गौड़ का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है—"जान पड़ता है कि महाभारत काल में पाशुपत मत की प्रधानता रही होगी, जिसके अन्तर्गत शेष तीनों समझे जाते होंगे, अथवा उस समय पाशुपत, माहेश्वर, शैव आदि पर्याय मात्र समझे जाते थे।" शंकर भाष्य के टीकाकार गोविन्दानन्द जी ने कालमुख या कालस्य के लिये 'कारुणिक' शब्द का प्रयोग किया है।

'शैव शब्द अब प्राचीन 'माहेश्वर' या 'पाशुपत' शब्द का स्थान ले रहा है, और चारों शैव सम्प्रदायों का बोधक एक यही शब्द हो रहा है।

शैवों के मुख्यतः पाँच सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—

(क) शैव (ख) पाशुपत (ग) कालामुख (घ) कापालिक और (ङ) वीर शैव या लिङ्गायत।

इन सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है यथा—

(क) **शैव सम्प्रदाय**—शैव सम्प्रदाय का मुख्य गढ़ तिमिल प्रदेश है वहाँ तमिल

प्रदेश है वहाँ तमिल भाषा में लिखे हुए 27 ग्रन्थ तथा 108 आगम संहिताएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें इस मत के सिद्धान्त एवं शिवाराधन की विभिन्न विधियाँ दी गई हैं। शैव निगम और आगम दोनों को प्रमाण मानते हैं। निगमागम मात्र स्वतः प्रमाण ईश्वरोमत है। आगमों में भी उपर्युक्त 28 शैवागम ही उनके विशिष्ट आधार हैं। इनके अतिरिक्त 170 से अधिक उपागम हैं। सब मिलाकर कई सौ हैं। इनमें मत, कुल, शील, शिल्प, कर्म, धर्म, व्यापार, उद्योग आदि विषयों का रहस्य बतलाया गया है।

प्रत्येक आश्रम में चार पाद या भाग किए गए हैं—क्रिया पाद, चर्य्या पाद, योग पाद तथा ज्ञान पाद। क्रिया पाद के अन्तर्गत शैवों के चार भेद किए गए हैं—सामान्य शैव, मिश्र शैव, शुद्ध शैव तथा वीर शैव। अपनी अर्चनापरक विशेषताओं के कारण वीर शैवों का एक पृथक सम्प्रदाय ही है—वीर शैवया लिंगायत सम्प्रदाय सामान्य शैव उन्हें कहते हैं जो भस्म धारण करते हैं, भू-प्रतिष्ठित शिवलिंग की अर्चना करते हैं, शिव भक्तजनों से वात्सल्य भाव रखते हैं शिव पूजा ही उनकी रति है, शिवार्थ ही व्यापार करते हैं, शिव कथा सुनने की इच्छा रखते हैं एवं शिवध्यानादि अष्ट विद्या भक्ति करते हैं।

मिश्र शैव वे हैं जो पीठ स्थल लिंग की पूजा करते हैं और साथ ही विष्णु, उमा, षण्मुख विघ्नेश्वर और सूर्य की भी पूजा करते हैं। इन देवताओं को वे महेश्वर के अंग व भक्त मानते हैं। इन्हीं को श्री शंकराचार्य के अनुयायी स्मार्त्त—शैव भी कहा जाता है।

शुद्ध शैव उन्हें कहते हैं जो कौशिक कश्यप, भारद्वाज; अत्रि, गौतम आदि सप्त ऋषियों के गोत्र के शैव हैं या शिवद्विज हैं।

(ख) **पाशुपत सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय के संस्थापक नकुली या लकुलीश कहे जाते हैं। इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र गुजरात है। इस मत के अनुसार भगवान शंकर के 18 अवतार माने गए हैं, जिसमें 'नकुलीश' को आद्य अवतार कहा गया है। शिव पुराण के अन्तर्गत कारवक महात्म्य से इनका जन्म भडौच के पास 'कारवन' नामक स्थान में होना प्रतीत होता है। राजस्थान, गुजरात आदि प्रदेशों में नकुलीश की मूर्त्तियाँ मिलती हैं। इन मूर्त्तियों का मस्तक केशों से ढका हुआ है तथा दाहिने हाथ में बीजपुर के फल और बाएँ हाथ में लगुड़ या दण्ड रहता है। लगुड़ धारण करने के कारण ही सम्भवतः इनका नाम 'लगुडेश' या लकुलीश होना प्रतीत होता है।

पाशुपतों का सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक से बहुत घनिष्ठ है। गुणरत्न ने नैयायिकों को शैव और वैशेषिकों को पाशुपत कहा है। किसी समय पश्चिमी भारत में इस सम्प्रदाय का बहुत जोर था।

(3) **कालमुख सम्प्रदाय**—यह सम्प्रदाय अब समाप्तप्राय है। इसके विषय में अधिक विवरण भी नहीं प्राप्त होता है। इसके सिद्धान्त एवं क्रियाएँ आरम्भ से ही गुप्त रखी गईं और फल यह हुआ कि इसकी परम्परा ही नष्ट हो गई। यामुनाचार्य जी ने 'आगम प्रामाण्य' में इसका संक्षिप्त वर्णन किया है। कालामुख सम्प्रदाय में कपालपात्र भोजन, शव भस्म स्थान, तत्प्राशन, लगुड़धारण, सुराकुम्भ स्थान-आदि अनेक विधियों का अनुष्ठान दृष्ट और अदृष्ट सिद्धियों का कारण माना जाता है।

(4) **कापालिक सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय की स्थिति कालामुख की तरह ही समझ लेनी चाहिए। इसकी भी परम्परा नष्ट हो गई है। सिद्धान्त एवं क्रियाओं को गुप्त रखने के कारण इस सम्प्रदाय की लोकप्रियता एकदम नष्ट हो गई है। कापालिक सम्प्रदाय में इन छः मुद्राओं को धारण करने से ही अपवर्ग की प्राप्ति होती है। (1) कर्णिका (2) रुचक (3) कुण्डल (4) शिखामणि (5) भस्म और (6) यज्ञोपवीत। इनके साथ अनेक गुह्य क्रियाओं का ध्यान किया जाता है।

(5) **वीर-शैव सम्प्रदाय**—शैवों में भगवान शिव की अनन्य भक्ति करने वाले वीर-माहेश्वर या वीर शैव हैं जिन्हें लिंगायत भी कहते हैं। वीर शैव की विशेषता यह है कि वे निरन्तर अहर्निश मृत्यु पर्यंत बराबर देह पर लिंग धारण किए रहते हैं। इसके बिना एक क्षण नहीं रह सकते। लिंग को वे अपने से अधिक मानते हैं। लिंगायतों को सामान्यतः 'जंगम' कह दिया जाता है। परन्तु केवल उन्हें ही जंगम कहा जाना चाहिए जो ब्राह्मण कर्म या पुरोहिताइ करते हैं। वीर शैव की विशेषता इस प्रकार वर्णित है—

परब्रह्मभिदम् लिंगम् पशु पाशविमोचकम्।
यो धारयति सद्भक्तया स पाशुपत उच्यते।

तथा—

इत्युक्तवा देवताः सर्वाः शिवलिंगादिधारणम्।
कृत्वा पाशुपताः सर्वे तस्मात्पशुपतिः शिवः।

वीर शैव प्रगाढ़ शिव भक्ति में अनुरक्त रहते हैं। शिवरूपा विद्या में विशेष रूप से रममाण होने से ये वीर शैव कहलाते हैं, तथा—

विद्यायाँ शिवरुपायाँ विशेषाद्ररुगम् यतः।
तस्पादेते महाभारत वीर शैवा इति स्मृताः।
(वेदाशिरस, सिद्धान्त शिखामणि के अनुसार)

तत्व प्रकाशिका में वीर शैव की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

वैशब्देनीच्यते विद्या शिवजी वैवय बोधिका।
तस्या रमन्ते ये शैवा वीर शैवास्तु ते स्मृताः
नादयति यन्न नश्यति नवाति न निवृत्ति प्रयच्छति च।
ज्ञानक्रियास्वभावं यत्तेजः शाम्भव जयति।

वीर शैव मत का आरम्भ सृष्टि के साथ (आरम्भ से) बताया जाता है। यह पाशुमत से भिन्न है तथा इसमें कई प्रकार के दार्शनिक चिंतनों का समावेश पाया जाता है—शिवाद्वैत, शक्ति विशिष्टाद्वैत, द्वैद्वैत, भेदाभेद आदि।

इस मत का प्रचार कर्नाटक प्रदेश में है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने गले में शिव-लिंग डालते हैं, और शिव-लिंग की पूजा करते हैं। शिव-लिंग की पूजा अधिक होने के कारण इस सम्प्रदाय के लोग 'लिंगायत' कहलाते हैं। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के आदि प्रचारक 'बसव' हैं, जो कलचुरी के राजा विज्जल के मन्त्री माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ 'बसव पुराण' है।

शैवों में भगवान शिव को अनन्य और प्रगाढ़ भक्ति करने वाले ये वीर माहेश्वर या वीर शैव या लिंगायत ही हैं। पाशुपतों या शैवों में लिंगी या लिंगधारी तथा अलिंगी या साधारण लिंगार्चन करने वाले, ये दो प्रकार के लिंगायत होते हैं। साधारण लिंगार्चन से तात्पर्य यह है कि वे लिंग की पूजा तो करते हैं, परन्तु सदैव लिंग धारण नहीं करते हैं। लिंगधारी ही प्रथम श्रेणी के लिंगायत ही वस्तुतः लिंगा- यत कहलाते हैं। ये लोग माँस मदिरा आदि से परहेज करते हैं। लिंगी और अलिंगी दोनों के सिद्धान्त और दर्शन एक ही हैं। अर्चा की विधि में, रहन-सहन के आचार में और कुछ संस्कारों में अन्तर है। यद्यपि वीर शैवमत के आदि प्रवर्तक ब्राह्मण थे, तथापि शैवमत के अनुयायी वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानते हैं। हम लिख चुके हैं कि इस मत के आधे प्रचारक कलचुरी नरेश विजल के मन्त्री बसव 12वीं शताब्दी के हैं, परन्तु लिंगायतों का कथन है कि यह मत अत्यन्त प्राचीन है। पाँच महापुरुषों ने इस मत का भिन्न-भिन्न समयों में उपदेश दिया है। इनके नाम हैं—(1) रेणुकाचार्य (2) दारुकाचार्य (3) एकोरामाचार्य (4) पण्डिताराध्य तथा (5) ऋषि विश्वराध्य। इन आचार्यों ने क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ-मल्लिकार्जुन और विश्वनाथ नामक प्रसिद्ध शिव-लिंगों से आविर्भूत होकर शैव धर्म का प्रचार किया।

श्री शिव-योग शिवाचार्य प्रणीत सिद्धान्त—शिखामणि-वीर शैव सम्प्रदाय का माननीय ग्रन्थ है। सन् 1060 ई० के श्रीपति ने ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीकर' भाष्य लिख- कर इस मत को उपनिषद मूलक सिद्ध किया।

वीर-शैव अपने आपको वीर, नन्दी, भृंगी, विषभ और स्कन्ध इन पाँच गणा- धीश्वरों के गोत्र में उत्पन्न बतलाते हैं। वीर शैव सम्पूर्ण जगत को शैवमय मानते हैं। इनका सामान्य जीवन-दर्शन यह है—"अखिल जगत् का कर्ता-भर्ता-हर्ता पंचब्रह्म रूप शिव है। जगत् का निमित्त और उपादान कारण यही है। उसकी पंच ब्रह्म नामक पाँच मूर्तियाँ हैं। पहली मूर्ति क्षेमज्ञ है जिसे ईशान कहते हैं जो सब प्रकृति वर्ग का भोक्ता है। दूसरी मूर्ति प्रकृति है जिसे तत्पुरुष कहते हैं, वह परमात्मा की गुहा है। तीसरी मूर्ति बुद्ध है जिसके धर्म आदि आठ अंग हैं। इसे अघोर कहते हैं। चौथी मूर्ति अहंकार है जो सब जगत् में व्याप्त हैं, उसे कामदेव कहते हैं। पाँचवीं मूर्ति मनस्तत्व है जो सब शरीर में स्थित है जिसे सद्योजात कहते हैं। सब स्थावर जंगम जगत् पर ब्रह्म स्वरूप है। तत्ववेत्ता मुनि कहते हैं कि यह सब शिव का विलास है। जगत् में पच्चीस तत्वों का प्रपंच देख पड़ता है, सब पंच ब्रह्म रूप शिव है।"

वीर शैव मत वा लिंगायत सम्प्रदाय के सिद्धान्त—इस सम्प्रदाय के अनुसार शिव ही परम ब्रह्म है। शिव स्वतन्त्र एवं अनश्वर है। उन्हें स्थल भी कहा गया है क्योंकि यह समस्त संसार उन्हीं में स्थित होता है और उन्हीं में लय हो जाता है। शिव में ही समस्त शक्तियाँ, समस्त प्राणी समस्त लोग और समस्त सम्पत्तियाँ निवास करती हैं। 'स्थल' शिव के दो भेद हैं। लिंग स्थल एवं अंगस्थल। लिंग-स्थल शिव अत्यधिक रुद्ररूप हैं और अंग-स्थल द्वाराध्यक्ष या उपासक हैं। उन्हीं के अनुसार शिव की शक्ति भी दो भागों में बँट जाती है। लिंग स्थल की स्थिति का नाम 'कला' और अंग-स्थल की स्थिति का नाम 'भक्ति' है।

वीर शैव सम्प्रदाय के अनुयायी यह मानते हैं कि लिंग केवल मात्र शिव का

बाह्य प्रतीक नहीं है बल्कि उनके साक्षात स्वरूप का द्योतक है। लिंग के 3 भेद हैं—(1) भाव लिंग, (2) प्राण लिंग, (3) उष्ट लिंग। भाव लिंग देश एवं काल से परे और अत्यन्त सूक्ष्म है उसे केवल मात्र श्रद्धा तथा आदर के द्वारा ही देखा जाता है। प्राण लिंग कला से युक्त और कलाविहीन दोनों प्रकार का है केवल बुद्धि या मन के द्वारा इसका दर्शन हो सकता है। इष्ट लिंग भी कला-युक्त और कला-विहीन है। इसका दर्शन नेत्रों द्वारा ही सम्भव है। यह सभी प्रकार के दुखों को दूर करने वाला है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी यह मानते हैं कि भाव-लिंग परम-तत्व है प्राण-लिंग सूक्ष्म रूप परमानन्द का चित् है। इष्ट लिंग स्थल रूप आनन्द माना जाता है। इस तरह तीनों को क्रमशः सत्, चित् आनन्द माना जाता है। भाव-लिंग के दो भेद महालिंग और प्रसाद लिंग हैं। प्राण लिंग के दो भेद चर लिंग और शिव लिंग हैं। इष्ट-लिंग के दो भेद गुरु लिंग एवं आचार्य लिंग हैं। यह सब लिंग शिव के 6 शक्तियों के साथ मिलकर 6 रूप धारण करते हैं।

(1) शिव तत्व और चित् शक्ति के प्रयोग से महालिंग की उत्पत्ति होती है जो चैतन्य रूप है। यह अत्यन्त सूक्ष्म, अक्षय, अगाध एवं जन्म व मृत्यु के बन्धन से रहित है।

(2) शिव तत्व और पराशक्ति के मिलन से प्रसाद लिंग की उत्पत्ति होती है जो लघु, नित्य, पूर्ण, अविनाशी है।

(3) शिव तत्व आदि शक्ति के द्वारा चर लिंग की उत्पत्ति होती है जो अत्यन्त तेजस्वी और सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है।

(4) शिव तत्व और इच्छा शक्ति के संयोग से शिव लिंग की उत्पत्ति होती है जो एक सुख, ज्ञानी, कलावान और दिव्य है।

(5) शिव तत्व और ज्ञान शक्ति के संयोग से आचार्य लिंग की उत्पत्ति होती है जो समस्त वस्तुओं का मूल श्रेय एवं संन्यास की ओर प्रवृत्त करने वाला है।

जीवात्मा अंगस्थल कहा जाता है। इसके तीन भेद हैं—(1) योगांग (2) भोगाँग और (3) त्यागांग। भोगाँग के द्वारा मनुष्य शिव के साथ सम्पर्क स्थापित कर आनन्द प्राप्त करता है। यह शुशुप्तावस्था में स्थिर रहता है। इसके दो भेद होते हैं—ऐक्य और शरण। इस बात का ज्ञान प्राप्त करके कि संसार मिथ्या है शिव के आनन्द में विलीन होना ऐक्य है और जीव द्वारा अन्तर लिंग या ईश्वर का दर्शन करना श॰ण है। इसके दो भेद हैं (1) प्राण लिंग और (2) प्रसादी। जीवन के समस्त अनुरागों को त्याग कर शिव में मन को लीन कर देना प्राण लिंग है और शिव की अनुकम्पा प्राप्त होना प्रसादी है।

भोगांग द्वारा जीवन शिव के साथ आनन्द का उपभोग करता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म शरीर है और स्वप्नावस्था में स्थित रहता है। त्यागाँग द्वारा जीव इस नश्वर शरीर का परित्याग करता है। यह स्थल शरीर है और जागृतावस्था में रहता है। इसके दो भेद हैं—(1) माहेश्वर और (2) भक्ति। ईश्वर के साथ में दृढ़ आस्था, नियमों वृत, सत्य, पवित्रता का अनुसरण और शिव की एकता में पूरा विश्वास रखने वाला माहेश्वर है और आकर्षणों से मुँह मोड़कर भक्ति का आचरण करने वाला तथा जगत के प्रति उदासीन रहने वाला भक्त है।

वीर शिव सम्प्रदाय का एक विशिष्ट वर्ग लिंगायत ब्राह्मणों का है। इनके दो भेद हैं—आचार्य और पंचम। पौराणिक आख्यानों के अनुसार 5 आचार्य हुए हैं जिनके विषय में कहा जाता है कि वे शिव के 5 मुखों से उद्‌भूत हैं। ये 5 हैं—वीर, नन्दि, बृषभ, भृणी और स्कन्द। इन पाँचों से ही वीर शैव सम्प्रदाय के आचार्यों की परम्परा चल रही है। शिव के ईशान नामक मुख से गणेश्वर का प्रादुर्भाव हुआ जिनके 5 मुख हैं। इन पाँच पंचमुख उदय हुए—मखारि, कालारि, पुरारि, स्मरारि तथा वेदारि। यह सभी शिव के ही पर्याय हैं।

वीर शिव सम्प्रदाय के प्रत्येक अनुयायी के लिए लिंग धारण करना अनिवार्य है। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत दीक्षा संस्कार का अत्यधिक महत्व है। यह संस्कार ब्राह्मणों के उपनयन संस्कार की भाँति हैं। यज्ञोपवीत के स्थान पर गले में लिंग धारण करना, गायत्री मंत्र के स्थान पर ॐनमः शिवाएँ मत्र पढ़ना इनकी विशेषता है। इस सम्प्रदाय की लड़कियों को भी लिंग धारण करना पड़ता है।

लिंगायतों के 4 भेद हैं—जगत, शीलवत, वणिक और पंचमशाली। जंगम में आचार्य वर्ग आता है जिनमें से कुछ विरक्त कहलाते हैं तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और अनेक धार्मिक क्रियाएँ करते हैं। कुछ आचार्य पुरोहित होते हैं जो गृहस्थ जीवन बिताते हैं और समस्त संस्कारों को सम्पन्न करते हैं। शीलवान और वणिक और पंचमशील व्यवसाय एवं जीवन-पद्धति पर आधारित हैं।

लिंगायतों के अनेक संस्कार एवं कार्य ब्राह्मणों के ही तुल्य है जैसे दीक्षा, विवाह सन्ध्योपासना आदि। परन्तु ब्राह्मण धर्म के विपरीत लिंगायतों में स्त्रियों को ऋतुकाल में अस्पृश्य नहीं माना जाता और विधवा विवाह को भी मान्यता प्रदान की जाती है। लिंगायत मांस और मदिरा का सेवन नहीं करते। मन्दिर जाना और मन्दिर में स्थापित शिवलिंग की पूजा करना भी अनिवार्य नहीं मानते। इस सम्प्रदाय के आचार्यों के मठ होते हैं जिनके द्वारा प्रसारित की गई आज्ञाओं से सम्प्रदाय के अनुयायी संगठित रहते हैं तथा उनके बीच सामाजिक और आर्थिक एकता विद्यमान रहती है।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शैव सम्प्रदाय का विभिन्न सम्प्रदायों के मध्य अपना अलग महत्व है और आज बहुत बड़ी संख्या में भारतवासी इस सम्प्रदाय को मान्यता प्रदान करने वाले हैं।

16

वैष्णव धर्म

(Vaishnavism)

प्रश्न (1) वैष्णव धर्म के विकास और भारत में उसके प्रचार-प्रसार का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

अथवा

वैष्णव मत के उत्थान का उल्लेख कीजिए और भक्ति सम्प्रदाय के योगदान का विश्लेषण कीजिए।

भारत के विभिन्न धर्मों में वैष्णव धर्म का विशेष महत्व है। विष्णु की उपासना काफी प्राचीन समय से होती आई है परन्तु उन्हें विशेष महत्व बहुत बाद में ही प्राप्त हुआ। यहाँ हम वैष्णव धर्म के विकास पर संक्षेप में प्रकाश डाल रहे हैं—

वैष्णव मत (पंक्ति) का प्रथम उत्थान—(1500 ई० पूर्व से लेकर 500 ई० तक) ऐतिहासिक दृष्टि से भक्ति आन्दोलन का प्रथम उत्थान 1500 ई० पूर्व से लेकर 500 ई० सन् तक ठहरता है। यह युग सन्तों के उदय से लेकर गुप्त नरेशों के अभ्युदय तक फैला हुआ है। श्री कृष्ण यादव वंशीय या सात्वत वंशीय क्षत्रिय थे। भागवत धर्म का उदय इसी क्षत्रिय वंश में हुआ प्रतीत होता है। भगवान के चारों व्यूहों का नामकरण यादव वंश के महान् पुरुषों के नाम पर किया गया है—वसुदेव, संकषण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। ये चतुर्व्यूह क्रमशः कृष्ण उनके ज्येष्ठ भ्राता उनके पुत्र तथा उनके पौत्र के नाम पर अवलंबित है। कालान्तर में यह सात्वत वंश शूरसेन मण्डल से हटकर दक्षिण तथा पश्चिम की ओर अपना उपनिवेश बना लेता है। इस प्रकार सात्वतों के द्वारा ही यह धर्म उत्तर भारत से दक्षिण भारत में पहुँचता है तथा वे ही उत्तर और दक्षिण भारत को एक सूत्र में गठित करने वाली शृंखला है। महाभारत का नारायणीय पूर्व इसी उत्थान के आरम्भिक युग से सम्बन्ध रखता है।

शैशुनाग और मौर्यवंशी राजाओं के पतन के उपरान्त शुँगवंशी राजवंश आया था। यह राजवंश ब्राह्मण ही नहीं, प्रत्युत वैष्णव धर्म का उन्नायक था। इन्हीं के राज्यकाल में मध्यप्रदेश तथा पश्चिमी भारत में वैष्णव धर्म के अभ्युदय सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है। बेसनगर (वर्तमान भिलसा, विदिशा) में गरुड़स्तम्भ का संस्थापक यूनानी राजदूत हेलिपदारे (हैलिपोडोरस) परम भागवत था। वह शुंग-वंशीय राजा भद्रक या भागभद्र के राज्यकाल में दूत बनकर आया था। चित्तौड़गढ़ के समीप नगरी के पास स्थित घोसुडी का वैष्णव का शिलालेख इसी युग से सम्बन्ध रखता है। गुप्तनरेश वैष्णव धर्म के परम उन्नायक थे और उन्होंने 'परमभागवत'

की उपाधि धारण की थी। अहिबुध्न्य, परम संहिता, सात्वत संहिता आदि वैष्णव ग्रन्थों का निर्माण भी इसी युग में हुआ। इसी युग में दक्षिण में आलवार भक्तों का उदय हुआ। "दक्षिण में आलवार-दर्शन की भूल भाव-भूमिका लोकाश्रित भावावेश और प्रेमोदेक से बनी।" (दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया भाग 2) उत्तर में आमीट आदि जातियों के साहित्य और जीवन से संयुक्त भावधारा ने कृष्णवार्ता को ओतप्रोत कर दिया।

इस काल में वैष्णव मत से सम्बद्ध पांचराम संहिताओं की रचना आरम्भ होती है। प्राचीन तथा मान्य संहिताओं के जन्म का कारण यही वैष्णव युग है। सारांश यह है कि ईसवी सन् का चतुर्थ और पंचम शतक वैष्णव धर्म का सुवर्ण-काल था।

दो प्रश्नों का समाधान शेष रह जाती है—(1) भागवत धर्म का उदय कब हुआ। तथा (2) समग्र देवमण्डली से अलग करके विष्णु भगवान को एक विशिष्ट सम्प्रदाय का उपास्य तथा आराध्य देव कब बनाया गया। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के भाष्यकार पतंजलि का समय ईसा पूर्व द्वितीय शतक है। यह उनके भाष्य से स्पष्ट है कि उस समय तक भागवत धर्म का उदय हो चुका था। इस समय के शिलालेखों से भी उक्त मत की पुष्टि हो जाती है। बेसनगर का शिलालेख वैष्णव धर्म की व्यापकता एवं उदारता का प्रतीक है।

पाणिनिकृत अष्टाध्यायी का अनुशीलन यह प्रमाणित करता है कि पाणिनी के समय भागवत सम्प्रदाय की उत्पत्ति अवश्यमेव हो चुकी थी। इस प्रकार से ईसा पूर्व षष्ठ शतक के पूर्व ही वैष्णव मत का उदय तथा प्रचलन हो चुका था। इस मत की पुष्टि इस तथ्य द्वारा होती है कि ईसा पूर्व चतुर्थ शतक में चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज को वासुदेव कृष्ण के सात्वत मत का परिचय था।

छांदोग्य उपनिषद में एकायन विद्या का निर्देश है। एकायन विद्या का सम्बन्ध परम भागवत नारद के साथ है तथा महाभारत में भी नारद पाँचराम विद्या के उपासक तथा प्रचारक बताये गये हैं। इस प्रकार वैष्णव मत उपनिषदकालीन सिद्ध हो जाता है। मोक्ष-प्राप्ति का एक मात्र अयन उपाय होने के कारण वैष्णव सम्प्रदाय को एकायन कहा गया था।

> मोक्षायनाम वैयन्था एतदन्यो न विद्यते,
> तस्मा देव्यायनं नाम प्रवदन्ति मनोषिणः। (ईश्वर संहिता 1/18)

अतः वैष्णव मत की उत्पत्ति पाणिनी (ईसा पूर्व षष्ट शतक) से बहुत पहले ही हो चुकी थी।

महाभारत के अनुशीलन द्वारा यह तथ्य सामने आता है कि पांचराम मत या सात्वत मत का उदय महाभारत काल में हुआ। महाभारत युद्ध का समय 1500 ई० पू० माना जाता है। अतः इस मत का उदय काल 1500 ई० पूर्व ठहरता है।

वैष्णव भक्ति का द्वितीय उत्थान—ईसवी सन् 500 से लेकर 1400 ई० सन् तक वैष्णव भक्ति का द्वितीय उत्थान हमें दक्षिण भारत के तमिलनाडु में उपलब्ध होता है। यह गुण आरम्भ होता है। आलवार संतों से और अन्त होता है वैष्णव

आचार्यों से। तमिल देश में वैष्णव संतों को सामान्यतः आलवार कहते हैं। आलवार का अर्थ है—भगवद् भक्ति-रस में लीन व्यक्ति। आलवार भगवान नारायण के सच्चे प्रेमी उपासक थे। इनके जीवन का एक ही व्रत था—विष्णु के विशुद्ध प्रेम में स्वतः लीन होना तथा अपने उपदेशों द्वारा दूसरों को लीन करना। भक्तों की संख्या की कोई गिनती नहीं। इस काल में इस द्रविड़ देश में विष्णु भक्ति की बाढ़ आई हुई थी। इन भक्तों में ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मणशूद्र आदि का कोई भेद नहीं था। सर्वत्र भगवान के भक्ति रस से सिक्त भक्तों की वाणी भगवान की दिव्य लीला के गायन से मुखरित हो रही थी। आलवारी द्वारा निबद्ध पदावली अत्यन्त मधुर तथा सरस है तथा वह वेदमन्त्रों के समान पवित्र मानी जाती है। आलवार भक्तों में से 12 आलवार विशेष गौरव तथा सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। (इनके नाम हम अन्यत्र लिख चुके हैं) आलवारों का युग 800 ई० सन् तक चलता है। इसके अनन्तर वैष्णव आचार्यों का युग आता है। आलवार भगवान विष्णु की भक्ति में सराबोर रहने वाले मस्त जीव थे। इनके विपरीत वैष्णव आचार्य लोग संस्कृत के महान विद्वान थे तथा वैदिक विधि-विधानों के विशेष पक्षपाती थे। ये वैष्णव आचार्य वैदिक कर्मकाण्ड तथा मीमांसा के विद्वान थे। इन्होंने तर्क तथा युक्ति के द्वारा भक्ति की उपादेयता सिद्ध की तथा शंकराचार्य के मायावाद का प्रखर खण्डन करके ज्ञान माँग की अपेक्षा सरलतर भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा जनता में की। इन वैष्णव आचार्यों ने भक्ति-आन्दोलन को शास्त्रीय पीठ पर प्रतिष्ठित किया। शंकर मायावाद-अद्वैतवाद के साथ भक्ति का सामंजस्य कैसे हो, यह एक विकट समस्या थी। अतः अद्वैत के स्थान पर विशिष्ठाद्वैत का प्रतिपादन किया गया और मायावाद का प्रबल तर्कों के आधार पर खण्डन किया गया। इस युग में चार वैष्णव सम्प्रदायों का उदय हुआ—निम्बार्क या सनकादि सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय, माध्व तथा रुद्र सम्प्रदाय, विष्णु स्वामित्र।

इन आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी—उपनिषद, ब्रह्मसूत्र तथा भगवाद गीता पर प्रौढ़ भाष्यों की रचना करके अपने सिद्धान्तों की वैदिकता और परम्परा प्रमाणित की। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन आचार्यों की अभिव्यक्ति का माध्यम देववाणी संस्कृत रही। प्रथम तीन सम्प्रदायों की परम्परा जागरूक रही, परन्तु विष्णु स्वामी की रुद्र सम्प्रदाय किसी कारणवश उछिन्न हो गया। तृतीय उत्थान-काल में वल्लभाचार्य जी ने इसको लोकप्रिय बनाया।

भगवान शंकराचार्य के अद्वैतवाद के द्वारा वैदिक धर्म तो प्रतिनिष्ठित हो गया, उससे जन-सामान्य की तुष्टि न हो सकी। पंडित वर्ग तो किसी सीमा तक उनके मायावाद को समझ गया, परन्तु सामान्य जनता उसे ग्रहण करने में असमर्थ एवं संकुचित बनी रही। उसे आवश्यकता थी अपने जैसे शरीरधारी प्रभु की जो उनको फेरकर उनके पास आकर उनकी बात सुन सके तथा दुश्यों एवं आततायियों का विनाश कर, आत्मकल्याण और लोक-कल्याण विधायक मार्ग की ओर उन्हें अपने साथ लगा कर ले जा सके। अपने उद्धारकर्त्ता की दर्शनेच्छा ही वस्तुतः धर्म के क्षेत्र में सगुण भक्ति का कारण रही है। भगवान बहुत पहले आश्वासन दे चुके हैं कि जब-जब और जहाँ-जहाँ भक्तों पर भीर पड़ेगी, मैं जाकर उनकी रक्षा करूँगा। जब-जब दुष्टों का जोर बढ़ेगा, तब-तब मैं उनका नाश करूँगा। इस आवश्यकता की पूर्ति

का भार लेकर वैष्णव आचार्य जनता के सामने आये। इन्होंने आलवारों की भक्ति आन्दोलन को एक नवीन दिशा प्रदान की। इन्होंने तमिलवेद तथा संस्कृत वेद का गम्भीर अध्ययन कर दोनों के सिद्धान्तों में पूर्ण सामंजस्य दिखाया। इस सामंजस्य प्रवृत्ति के कारण ही ये उभय वेदान्तों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन आचार्यों में अद्य आचार्य हुए रंगनाथ मुनि (824 ई० 924 ई० जो वैष्णव जगत में नाथमुनि के नाम से विख्यात हैं। यह आलवार भक्त शठकोपाचार्य की शिष्य परम्परा में थे। इन्होंने आलवारों के द्वारा विरचित तमिल भाषा में निबद्ध लुप्तप्राय भक्ति पूरित काव्यों का (तमिल वेद का) पुनरुद्धार किया। श्रीरंगम के प्रसिद्ध मन्दिर में भगवान के सामने इनके गायन की व्यवस्था थी। श्रीनाथ मुनि के द्वारा प्रवर्तित वैष्णव मत श्री वैष्णव के नाम से विख्यात है व्यवहार पक्ष में इनका लक्ष्य है, भक्ति या प्रपत्ति तथा अध्यात्म पक्ष में इसका नाम है विशिष्टाद्वैत मत।

विशिष्टाद्वैत शब्द दो शब्दों के मिलने से बना है—विशिष्ट और अद्वैत। विशिष्ट का अर्थ है चेतन और अचेतन विशिष्ट का अर्थ है ब्रह्म, और अद्वैत का मतलब है अभेद या एकत्त्व। अतएव चेतना-चेतन विभाग विशिष्ट ब्रह्म के अभेद या एकत्व का निरूपण करने वाले सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैतवाद है। यह एक बहुत प्राचीन सिद्धान्त हैं। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्यों की परम्परा का क्रम इस प्रकार माना जाता है। भगवान श्रीनारायण ने जगत जननी श्री महालक्ष्मी जी को उपदेश दिया, दयामयी माता से बैकुण्ठपार्षद् श्री विश्वसेन को उपदेश मिला, उनसे श्री शठकोप स्वामी को, इनसे श्रीनाथ मुनि को, नाथ मुनि ने पुण्डरीकाक्ष स्वामी को, उनसे श्री राम मिश्रा स्वामी को और श्री राममिश्र जी से श्रीयामुनाचार्य जी को प्राप्त हुआ। श्रीयामुनाचार्य जी श्री रामानुजाचार्य के परमगुरु थे।

विक्रम की 12वीं शताब्दी में दक्षिण में श्री रामानुजाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने भक्ति मार्ग को एक मौलिक पर देकर सर्वजनोपयोगी बना दिया। श्री रामानुजाचार्य ने भक्ति के नवीन उद्घोष के साथ आलवारों की लोकवाणी के स्वर को गूँथ दिया। इस प्रकार वैष्णव भक्ति के द्वितीय उत्थान काल में श्री रामानुजाचार्य भक्ति मार्ग के प्रवर्तक थे। उन्होंने श्रीमन्नारायण की सगुणोपासना का प्रचार किया, तथा दर्शन क्षेत्र में 'विशिष्टाद्वैत' का प्रतिपादन किया)।

आचार्य रामानुज ने वैष्णव मत का प्रचार करने के लिये अपने चौहत्तर शिष्यों को नियुक्त किया। उन्हें सिंहासनाधिपति कहते हैं। इन्हीं सिंहासनाधिपतियों की एक शाखा में श्रीराघवानन्द जी हुए। उन्होंने वाराणसी से लेकर राजस्थान में गल्लाजी तक अपनी प्रशाखाएँ फैलायीं। श्री राघवानन्द जी, श्री रामानुजाचार्य की 13वीं पीढ़ी में माने जाते हैं। राघवानन्द जी के गुरु थे श्री हरियाचार्य। उन्हीं के आदेश से राघवाचार्य उत्तर में भक्ति का प्रचार करने गये थे। राघवानन्द जी आचार और धर्म से अन्धरूढ़िता के समर्थक नहीं थे। वह आचार-व्यवहार में वैष्णव मात्र में अभेद मानते थे। कहते हैं कि उत्तर भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार करने के उपरान्त जब राघवानन्द जी लौटकर दक्षिण पहुँचे तो अपने उदार विचारों के कारण उन्हें वैष्णव की पंगत में स्थान नहीं मिला। इस व्यवहार से खिन्न होकर वह काशी चले आये और आजन्म भक्ति का प्रचार करते रहे। राघवानन्द के साथ वैष्णव धर्म में दीक्षित भक्तों में तीन तत्व सम्बद्ध हो गये थे—प्रथम जाति-पाँति का विरोध, द्वितीय योग का

तत्व और तृतीय श्रीराम की उपासना। आरम्भ में श्री समुदाय के इष्टदेव लक्ष्मी नारायण थे। बाद में कुछ आचार्यों ने लक्ष्मी नारायण के स्थान पर सीताराम को प्रतिष्ठित किया। श्री राघवानन्द का सम्बन्ध इसी रामाश्रित भक्ति से था। श्री राघवानन्द जी के शिष्य श्री रामानन्द जी हुए, जिनको शिष्य परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास हुए। अयोध्या एवं अन्य स्थानों के वैरागी कहे जाने वाले साधु एवं उनके अनुयायी रामोपासक इसी सम्प्रदाय के हैं।

राघवानन्द जी भक्ति और योग मिश्रण को लेकर चले थे। हिन्दी क्षेत्र में इस सम्बन्धित रूप का सम्पर्क श्रीरामानन्द जी से हुआ और उन्होंने ईसवी 14वीं शताब्दी के अन्त में उसे एक क्रान्तिकारी आन्दोलन बना दिया। एक ओर कबीर जैसे निर्गुण भक्त कवियों को उन्होंने जम्न दिया, तथा दूसरी ओर सगुण भक्ति कवियों को प्रेरणा प्रदान की। 15वीं शताब्दी ई० के हिन्दी साहित्य में निर्गुण भक्ति परम्परा का प्राधान्य है। 16वीं शताब्दी के मध्य तक सगुण भक्ति नरहरि के शिष्य सोती जी और कृष्णदास पयहारी के 16 शिष्यों के द्वारा दूर तक विकसित की गई गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में इस सगुण भक्ति का निर्वाह स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है।

श्रीरामानुजाचार्य के कुछ ही दिनों के पश्चात् दक्षिण के निम्बार्काचार्य का उदय हुआ। श्रीभण्डारकर ने इनका जन्म सन् 1962 ई० माना है। उन्होंने व्यवहार के क्षेत्र में राधाकृष्ण की सम्मिलित भक्ति का प्रचार किया और दर्शन के क्षेत्र में द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह भी हिन्दी के क्षेत्र की ओर अग्रसर हुये। इनका मुख्य स्थान गोवर्धन के पास नींव ग्राम बना। तत्पश्चात् इन्होंने वृन्दावन में निवास किया और वहाँ भी एक मठ की स्थापना की। आज भी वृन्दावन निम्बार्क सम्प्रदाय का केन्द्र है तथा वहाँ से निम्बार्क सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन होता है। बाद में श्री परशुराम देवाचार्य ने सलैमाबाद में इस सम्प्रदाय की गद्दी की स्थापना की। इस प्रकार ब्रज मण्डल और राजस्थान में निम्बार्क सम्प्रदाय की व्याप्ति हुई। इसके अतिरिक्त बंगाल में भी इस मत का विशेष प्रचार हुआ।

श्री निम्बार्क के उपरान्त आन्ध्र में शुद्धाद्वैत के प्रवर्तक श्री विष्णु स्वामी का उदय हुआ। किन्तु इस मत का विशेष प्रचार-प्रसार तेलगु क्षेत्र में नहीं हो सका। इस मत के प्रभाव से महाराष्ट्र में ज्ञानदेव (ई० 1275–1596), नामदेव, त्रिलोचन आदि सन्त कवि उत्पन्न हुए। इन सन्तों की वाणी में निर्गुण तत्वों का भी समन्वय था। कालान्तर में महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने उत्तरापथ में शुद्धाद्वैत मत का प्रचार किया।

दक्षिण भारत में श्रीरामानुजाचार्य की मृत्यु के सौ वर्षों बाद एक अन्य वैष्णव मत का उदय हुआ। यह मत अपने प्रतिष्ठापक आचार्य मध्य के नाम पर माध्वमत के नाम से विख्यात है। व्यवहार पक्ष में यह भक्तिवादी है तथा अध्यात्मपक्ष में भेदवादी या शताब्दी है। श्री वैष्णवों का प्रधान केन्द्र है आन्ध्र तथा द्रविड़ देश, माध्वों का प्रधान स्थान है कर्नाटक प्रान्त तथा महाराष्ट्र प्रान्त का दक्षिणी भाग। मध्य युग में इस सम्प्रदाय की विशेष उन्नति हुई।

भगवान श्रीकृष्ण ने वैष्णव तत्व का उपदेश चार शिष्यों को दिया—(1) श्री, (2) बुद्ध, (3) रुद्र तथा (4) सनक। इनमें ब्रह्मा के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के

मध्ययुगी प्रतिनिधि हैं आचार्य मध्य या अनन्द तीर्थ। माध्वमत दक्षिण भारत में आज भी विशेष लोकप्रिय है। माध्वमत दक्षिण से सीधे रूप हिन्दी क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हुआ। बङ्गाल में गौड़ सम्प्रदाय से मुक्त होकर इस दर्शन का नाम मध्व गौड़ हुआ। बङ्गाल का गौड़ीय सम्प्रदाय चैतन्य मत इसी माध्वमत की एक विशिष्ट शाखा है। दार्शनिक दृष्टि में कुछ अन्तर होने पर भी चैतन्य मत माध्वमत के साथ ऐतिहासिक दृष्टि से सम्बद्ध है।

यह मध्वगौड़ सम्प्रदाय बङ्गाल से वृन्दावन पहुँचा। श्रीगदाधर भट्ट कवि इसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हुए। वृन्दावन में आज भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी रहते हैं, वहाँ इसकी विधिवत् शाखा है।

स्वयं मध्वाचार्य जी माधुर्यभाव के उपासक नहीं थे, लेकिन बाद में चैतन्य महाप्रभु के सम्पर्क के फलस्वरूप इस सम्प्रदाय में माधुर्यभाव ने प्रवेश किया। इस मत के अनुयायी प्रायः कन्नड़ प्रदेश और दक्षिणी महाराष्ट्र में है। मध्वाचार्य ने अपने द्वैववाद के अन्तर्गत नवधा भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने राम और कृष्ण दोनों को विष्णु के अवतार रूप में स्वीकार किया तथा बालकृष्ण पर अधिक बल दिया।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर श्री मद्भागवत पुराणान्तर्गत भक्ति का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है—

उत्पन्नादाविड़े चाहं कर्णटे वृद्धि भत्गता।
स्थिता कि चन्महाराष्ट्रे गुजरे जोगताँगता॥

वैष्णव मत का तृतीय उत्थान, उत्तरी भारत में भक्ति आन्दोलन—भक्ति आन्दोलन का तृतीय उत्थान भारत में ईसा की 15वीं शती में प्रारम्भ होता है। मह आन्दोलन केवल शास्त्र-चिन्तक विद्वानों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने जनता को भी प्रभावित किया। उस युग के भक्ति आन्दोलन की शाखाएँ प्रमुख हैं—रामशाखा और कृष्ण शाखा भक्ति के इस आन्दोलन ने भारतीय समाज में महती क्रान्ति उत्पन्न की। राम शाखा के उदय का स्थान था काशी, जहाँ स्वामी रामानन्द जी ने इसका प्रवर्तन किया। रामानन्द जी ने सबके लिए भक्ति के द्वार खोल दिये तथा उनके संरक्षण में निर्गुण और सगुण भक्ति की धाराएँ प्रवाहित होती रहीं जिनमें प्रथम के सबसे बड़े प्रचारक हुए कबीर तथा द्वितीय के प्रतिनिधि हैं गोस्वामी तुलसी-दास। गोस्वामी जी ने 'रामचरितमानस' सदृश अपूर्व ग्रन्थ की रचना करके राम भक्ति को दृढ़-आधार प्रदान किया।

कृष्णधारा की भक्ति का उद्गम स्थान है भगवान श्रीकृष्ण की रसमयी लीलाओं के विस्तार का स्थल वृन्दावन। इसके अन्तर्गत चार सम्प्रदाओं का अभ्युय हुआ—(1) निम्बार्क (2) बल्लभ (3) चैतन्य मत तथा (4) राधावल्लभीय। निम्बार्क प्राचीन आचार्य रहे। वल्लभाचार्य और चैतन्य देव समकालीन थे। इन्होंने अपने, मत के प्रवर्तन के लिए श्रीमद्भागवत से प्रेरणा प्राप्त की।

भक्ति साहित्य का प्रणयन—विपुल भक्ति-काव्य का प्रणय भक्ति के तृतीय उत्थान की विशेषता है। इन आचार्यों ने कृष्ण भक्ति के प्रचार द्वारा समस्त उत्तरी भारत को कृष्ण भक्ति के रंग में रंग दिया। श्री वल्लभाचार्य जी की शिष्य परम्परा में सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवि आदि गायक भक्त कवि हुए जिन्होंने कृष्ण के दिव्य प्रेम की सहस्त्र धाराएँ बहाई तथा जगमोहन की मुरली की मधुर ध्वनि द्वारा

दसों दिशाओं को गुँजायमान कर दिया। इस प्रकार स्वामी रामानन्द जी तथा महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के उपदेशों की प्रेरणा से हिन्दी में राम और कृष्ण भक्ति विषयक काव्य का सृजन हुआ। कृष्ण विषयक श्रृंगार साहित्य पर निम्वार्काचार्य की भक्ति भावना तथा श्री वल्लभाचार्य जी के पुष्टि सिद्धान्त का विशेष प्रभाव पड़ा।

निम्बार्क सम्प्रदाय में श्रृंगार साहित्य का प्रारम्भ श्री गदाधर भट्ट से हुआ। श्री भट्ट जी रचित जुगलसत और हरिव्यास जी रचित 'महावाणी' निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ हैं और हमारे श्रृंगार साहित्य की महत्वपूर्ण कृतियाँ एवं सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ हैं, इनमें राधा-कृष्ण के नित्य विहार का वर्णन हुआ है। इस सम्प्रदाय में श्रृंगारपूर्ण रचना करने वाले अन्य प्रमुख कवि हैं—सर्व श्री परशुराम, रूपरसिक, वृन्दावन, गोविन्द आदि।

इनके अतिरिक्त वृन्दावन में कई अन्य सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ। भाव की दृष्टि से ये सम्प्रदाय माधुर्य भक्ति से युक्त थे। इनमें प्रमुख दो सम्प्रदाय हैं—(1) श्रीहित हरिवंश जी का राधावल्लभीय सम्प्रदाय तथा (2) हरिदासी सम्प्रदाय (टट्टी सम्प्रदाय या सखी सम्प्रदाय)

श्री हितहरिवंश द्वारा स्थापित राधावल्लभीय सम्प्रदाय में ब्रजेश्वरी राधिका जी का विशेष महत्व है। इस सम्प्रदाय के कवियों में राधा-कृष्ण के नित्य विहार की अलौकिक श्रृंगारिक लीलाओं का वर्णन किया है। श्री हितहरिवंश जी स्वयं उच्चकोटि के कवि थे। उनके द्वारा विरचित ग्रन्थ श्रीवत चौरासी अपने अनुपम माधुर्य के लिये ब्रजवासी के श्रृंगार साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख कवि हैं—वनचन्द्र, कृष्णचन्द्र राजा वल्लभदास सेवक, चाचा वृन्दावनदास एवं ध्रुवदास आदि।

हरिदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक के भक्त शिरोमणि स्वामी हरिदास जी थे। इस सम्प्रदाय को कुछ लोग एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानते हैं तथा कुछ लोगों की राय में निम्बार्क सम्प्रदाय की ही एक पृथक शाखा है। इस सम्प्रदाय के इष्ट देव हैं वृन्दावन स्थित श्री बाँके विहारी जी।

स्वामी हरिदास जी गायकाचार्य एवं संगीतशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन के यह गुरु माने जाते हैं। इनकी शिष्य परम्परा में विट्ठल विपुल, सरदास, नरहरिदास, रसिक विहारी, ललित किशोरी, ललित मोहनी, सहचारीशरण, नागरीदास आदि अनेक सुकवि हो गये हैं। वृन्दावन में चैतन्य सम्प्रदाय के रूप गोस्वामी, जीवगोस्वामी और सनातन गोस्वामी जैसे भक्त बस गये और वहाँ का समस्त वातावरण भक्त रस द्वारा सिक्त हो गया। गोवर्धन में वल्लभ सम्प्रदाय की स्थापना के पूर्व ही वृन्दावन में श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों का स्थायी निवास-स्थल बन चुका था। चैतन्य देव की भक्ति-भावना प्रेम और मोदमयी थी। उनकी मधुराभक्ति ने ब्रज के वैष्णव सम्प्रदायों और उनके कवियों को व्यापक रूप में प्रभावित किया।

इस प्रकार उत्तरी भारत में भक्ति आन्दोलन का निष्कर्ष इस प्रकार ठहरता है। श्री सम्प्रदाय ने हिन्दी को निर्गुण भक्ति और राम भक्ति प्रदान की। निम्बार्क सम्प्रदाय ने राधा, कृष्ण और गोपियों को लेकर श्रृंगारमूलक शक्ति प्रदान की। वल्लभ सम्प्रदाय ने वात्सत्य भक्ति को प्रोत्साहित किया तथा वल्लभाचार्य जी के पुत्र

विट्ठलनाथ जी के प्रभाववश इस सम्प्रदाय में माधुर्य शक्ति का भी समावेश हो गया। मध्य सम्प्रदाय ने विशेष रूप से दास्य और वात्सल्य को प्रतिष्ठित किया। बाद में चैतन्य सम्प्रदाय के प्रभाववश इसमें माधुर्य भक्ति को भी मान्यता प्राप्त हुई। राधा वल्लभीय सम्प्रदाय एवं सखी सम्प्रदाय तो माधुर्य भक्ति द्वारा ओत-प्रोत रहे। रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी और सनातन गोस्वामी ने भी माधुर्य भक्ति की प्रतिष्ठा में अपना योगदान प्रदान किया।

पूर्वी भारत में भक्ति आन्दोलन—भारत के पूर्व भाग में जयदेव के कृष्ण-प्रेम-संगीत की गूंज चल रही थी, जिनके स्वर में मिथिला कोकिल विद्यापति ने अपना स्वर मिलाया। चैतन्य महाप्रभु ने इन दोनों महाकवियों के गीत काव्य का गायन किया और उनके माध्यम में कृष्ण प्रेम का सन्देश बंगाल के कोने-कोने में पहुँचाया। इनकी गीत एवं नृत्य समन्वित मधुरभक्ति की लहर ब्रजमण्डल तक आई और उसने तत्कालीन हिन्दी साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला।

तन्त्रमत और शक्ति सम्प्रदाय के प्रभाव के फलस्वरूप वैष्णव धर्म बंगाल में शुद्ध रूप में स्वीकार नहीं हो सका और वहाँ वैष्णव धर्म तथा तन्त्रमत की सम्मिलित उपासना पद्धति प्रचलित हुई। बंगाल में प्रेममार्गीय सन्त आउल-बाउल का व्यापक प्रभाव था। वे लोग प्रेममूलक साधना और परकीया प्रेम के प्रचारक थे। इनका प्रभाव भी वैष्णव भक्ति पद्धति के ऊपर पड़ा। फलतः बंगाल में चैतन्य सम्प्रदाय के अतिरिक्त तीन अन्य सम्प्रदायों की स्थापना हुई—(1) सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय। इसके ऊपर यत्र-तत्र बहुत बज्रयान के रूप में सहजयान का व्यापक प्रभाव पड़ा, (2) उत्कल वैष्णव सम्प्रदाय, (3) महापुरुषिया धर्म।

(1) **सहजिया वैष्णव**—ये लोग रागानुगा प्रेम-भक्ति के अनुयायी हैं। इनके मतानुसार सहज-मानव को समाज के लिये आदर्श है। मनुष्य यदि अपने सच्चे स्वरूप को पहचान ले तो उसके हृदय में प्रेमभक्ति के उदय में विलम्ब नहीं होता। सहज मानव सांसारिक वस्तुओं में किसी प्रकार का राग नहीं रखता है। ऐसा मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ होता है। पुरुष को यौन भावना का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। इस मत में पुरुष के स्त्री भाव धारण करने का यही आशय है। बंगाल के प्रसिद्ध कवि चण्डीदास इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

सहजिया पंथ के आदर्श मानव का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

शुद्ध सत्व जीव एई सदा निष्णशील।
सहजे अभेद भावे देखे ये अखिल।
विषयेर दास्ये येई ना काटाय काल।
नयनेर दृष्टि यार चित्ते चिरकाल।
भालमंद नाहि आने, नाहि करे द्वेष।
अन्तरे नियति जाने, आयन महेश।

—रसरत्नसार

चैतन्य मत—माध्व मत की ही गौड़ीय शाखा है, परन्तु दोनों के दार्शनिक सिद्धान्तों में पर्याप्त अन्तर है। माध्व मत द्वैतवाद का पक्षपाती है, चैतन्य मत भेदा-भेद-सिद्धान्त का अनुयायी है। इस मत के धार्मिक सिद्धान्तों तथा आध्यात्मिक तथ्यों

का शास्त्रीय विवेचन वृन्दावन की पवित्र तीर्थस्थली में सम्पन्न हुआ था। निम्बार्क मत के अनन्तर यह दूसरा वैष्णव सम्प्रदाय है जो वृन्दावन के साथ श्लाघनीय सम्बन्ध रखता है।

(2) **उत्कल वैष्णव सम्प्रदाय**—उत्कल में वैष्णव धर्म की उत्पत्ति का काल-निरूपण जगन्नाथ जी के प्राकट्य के ऊपर आश्रित माना जाता है। जगन्नाथपुरी शंकर संस्कृति, बौद्ध संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति की त्रिवेणी का संगम-स्थल है। उत्कल वैष्णव धर्म के ऊपर तीनों ही संस्कृतियों का प्रभाव है। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्कल देश में वैष्णव धर्म का प्रचार गुप्त-काल में भागवत धर्म की सर्वदेशीय उन्नति के युग में हुआ।

(3) **महापुरुषिया धर्म**—वृन्दावन की कृष्णभक्ति सरिता ने भारत के सुदूर-पूर्व प्रदेश असम को भी प्रभावित किया। असम प्रान्त शक्ति उपासना का गढ़ था—और रहा है। परन्तु वहाँ भी 98 प्रतिशत जनता वैष्णव धर्म में दीक्षित है तथा भगवान श्रीकृष्ण को अपना उपास्य देव मानती है। असम में वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार का श्रेय शंकरदेव तथा उनके प्रिय शिष्य माधवदेव को है।

श्री शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित धर्म का ही नाम महापुरुषिया धर्म है, जिसे महा-धर्म अथवा महापुरुष धर्म भी कहते हैं। शंकरदेव अपनी महानता के कारण महापुरुष कहे जाते थे। इसी से उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म महापुरुषिया धर्म कहा जाता है। इस धर्म में आने को शरण तथा धर्म में दीक्षित व्यक्ति को शरणियाँ कहते हैं। इनका दीक्षामंत्र है—'शरणं में जगन्नाथ श्रीकृष्णं पुरुषोत्तम'। ये लोग को पूर्ण ब्रह्म मानते तथा श्रीकृष्ण की पूजा के अतिरिक्त अन्य पूजा का निषेध करते हैं।

महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म—महाराष्ट्र प्रदेश भागवत धर्म का क्षेत्र बहुत प्राचीन काल से बना हुआ है। यहाँ वैष्णव धर्मान्तिर्गत चार पंथों का उद्भव हुआ—(1) महाभाव पंथ, (2) बारकरी पंथ, (3) रामदासी संघ तथा (4) हरिदासी पंथ। महाभाव पंथ के लोग अपने ग्रन्थों की शिक्षाओं तथा सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का बड़ी कड़ाई के साथ पालन करते हैं। इनके पंथ के बारे में अनेक भ्रांतियाँ प्रचलित हैं। महाराष्ट्र में इस पंथ के अनुयायियों को बड़ी अश्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है।

बारकरी पंथ पूर्णतः वैदिक है। इसमें कृष्णचन्द्र के बालरूप विट्ठल की उपासना की जाती है। सम्पूर्ण महाराष्ट्र में यही मत मान्य है।

यह भागवत सम्प्रदाय पण्डरपुर नामक तीर्थस्थल से सम्बद्ध है। अपने जीवन को सफल बनाने के लिये भक्तजन पण्डरपुर की यात्रा करते हैं। इस यात्रा का नाम 'बारी' है। इस पुण्य यात्रा करने वालों को बारकरी कहते हैं। इसी कारण इस पंथ को बारकरी पंथ कहते हैं। विट्ठल शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है। भाषा विज्ञान के अनुसार विठोला विष्णु का ही अपभ्रंश है। बारकरी पंथ को माल-कारी पंथ अथवा भागवत पंथ भी कहते हैं। बारकरी पंथ के अनुयायी तुलसी की माला धारण करते हैं।

बारकरी सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाने का श्रेय सन्त तुकाराम को है। इनका समय 17वीं शताब्दी है। ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ आदि अनेक सन्तों ने इस मत को लोकप्रिय बनाया।

रामदासी पंथ की स्थापना छत्रपति शिवाजी के गुरु समर्थ स्वामी रामदास जी ने की। हरिकथा-निरूपण राज कारण और सावधानीपन ये तीन बातें इस सम्प्रदाय के मुख्य लक्षण हैं। इस पंथ में भगवान श्रीकृष्ण की उपासना होती है। यह मत केवल महाराष्ट्र में ही मान्य नहीं है। कर्नाटक देश के बहुत से सन्त हरिवासी नाम से विख्यात हैं और विट्ठल जी को अपना उपास्य देव मानते हैं।

गुजरात में वैष्णव धर्म—गुजरात में वैष्णव धर्म के दो मुख्य पीठ हैं—द्वारिकापुरी और डाकोर जी। गुजरात पर वैष्णव धर्म का प्रभाव गुप्त काल में हुआ। मध्य युग में कृष्ण भक्ति के प्रचार का श्रेय दो गुजराती कवियों को दिया जाना चाहिये—नरसी मेहता और मीराबाई। नरसी मेहता गुजराती भाषा के सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय वैष्णव कवि हैं। मीराबाई राजस्थान की रहने वाली थीं, परन्तु बाद में वह द्वारिकापुरी में जाकर रहने लगी थीं और वहीं उनकी दिव्य-भक्ति का प्रचार-क्षेत्र रहा था। गुजरात में वैष्णव धर्म की पताका फहराने का श्रेय गोसाईं विट्ठलनाथ जी को दिया जाना चाहिये।

गुजरात के कवि नरसी मेहता का वैष्णव भक्त के लक्षण का प्रतिपादक निम्नलिखित पद पूज्य बापू को बहुत प्रिय था—

'वैष्णव जण तो तेणे कहिए जे पीर पराई जाणे रे।'

प्रश्न—वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए विष्णु के विभिन्न अवतारों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

अथवा

चतुर्व्यूह सिद्धान्त पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

वैष्णव धर्म के सिद्धान्त

वैष्णव-धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन श्रीमद्भागवत गीता में हुआ है। यह एक धार्मिक-ग्रन्थ है जिसमें दर्शन, धर्म एवं नीति-शास्त्र का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। 18 सर्गों का यह काव्य अद्भुत है। कौरवों से युद्ध में अर्जुन हिचकिचाते हैं और उनके मन में यह विचार उठते हैं कि अपने बन्धु-बान्धवों को मारकर राज्य भोगने से क्या लाभ है? इसी समय श्रीकृष्ण अर्जन को उपदेश देते हैं और छात्रधर्म प्रतिपादन करते हैं। गीता में भी इसी का उल्लेख हुआ है।

गीता के अनुसार आत्मा नित्य, अव्यक्त, अचल, अजर-अकर, सत्य, अचित्य एवं व्यापक है। शरीर का नाश होता है परन्तु आत्मा नहीं मरती। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों का परित्याग करके नये वस्त्रों को धारण कर लेता है उसी प्रकार जीवात्मा एक शरीर का त्याग कर दूसरे शरीर को धारण कर लेती है। अतएव ज्ञानी को मृत्यु का भय नहीं होना चाहिए।

मनुष्य को अपने कर्मों में लगे रहते हुये भोगों के प्रति अनासक्त होना चाहिए। मनुष्य को इस प्रकार का कर्म करना चाहिये जिससे वह बन्धन में न बँध सके। सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय के विचार से मुक्त होकर जीवन-संघर्ष में लगे रहना मनुष्य का कर्तव्य है। मोक्ष प्राप्ति के हेतु वैष्णव धर्म में 3 मार्ग बतलाये गये हैं—

(1) ज्ञान मार्ग,
(2) भक्ति मार्ग, और
(3) कर्म मार्ग ।

गीता में इन तीनों ही मार्गों का समन्वय दिखलायी पड़ता है । उसमें 2 प्रकार के ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है—

(1) बुद्धि तथा वाह्य जगत की सत्ता को समझने का ज्ञान,
(2) अन्तर्दिष्ट के द्वारा सत्य को प्राप्त करने का ज्ञान ।

इसमें प्रथम कोटि के ज्ञान को विज्ञान और दूसरे को दर्शन कहा जा सकता है । इस प्रकार गीता में ऐसे सिद्धान्तों का विवेचन है जिनके द्वारा मनुष्य, आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है—जैसे इन्द्रिय निग्रह, मन की एकाग्रता, ईश्वर के प्रति सच्ची श्रद्धा आदि ।

गीता में लिखा है कि भावनामयी आसक्ति का नाम भक्ति है, और भगवान की प्राप्ति भक्ति के माध्यम से हो सकती है । भक्ति का मार्ग अत्यन्त सुगम और सरल है जिसे सभी वर्गों के लोग अपना सकते हैं । भक्त का समस्त भार भगवान अपने ऊपर से लेते हैं । अनन्य भक्ति के फलस्वरूप ही अर्जुन ने विराट विश्वरथ के दर्शन किये थे । गीता में कहा गया है कि भक्त को काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से दूर रहकर उपासना में लगे रहना चाहिये और मन-वचन एवं कर्म से उपास्य के प्रति अपने को समर्पित कर देना चाहिए । मोह-पाश से मुक्त होने का उपदेश भी गीता में दिया गया है । इस मोह-पाश से मुक्त होने के लिए आसन, प्राणायाम, ध्यान एवं धारण आदि ही साधन है । जब भक्त अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है तो भक्त एवं परमात्मा में एकीकृत भाव हो जाता है और भक्त परमानन्द की प्राप्ति करता है ।

गीता में कर्म मार्ग का प्रतिपादन किया गया है और कहा गया है कि कर्म के द्वारा ही ब्रह्म-सत्य की प्राप्ति संभव है । कर्म ही ऐसा तत्व है जो सृष्टि के अंत में भी एक सूक्ष्म बीज के रूप में विद्यमान रहता है और कालान्तर में प्रस्फुटित होता है । कर्म मार्ग पर चलने के लिये गीता में सदाचार को महत्व दिया गया है । मनुष्य को निष्काम भाव से कर्म करना चाहिये । पल की चिन्ता नहीं करना चाहिये । पल की आसक्ति के वशीभूत होकर किया गया कर्म सांसारिक बन्धन है और फल के प्रति अनाशक्ति मोक्ष्य का साधन । कर्म योग के अधिकारी वे हैं जो इन्द्रियनिग्रह कर सकते हैं । वासनायें हमारे विवेक को चेतना-शून्य बना देती हैं और उच्छृंखल प्रवृत्तियों को दास बना लेती हैं । कर्मयोग इन्द्रियनिग्रह के द्वारा अनासक्ति के भाव का विकास कर देता है । बिना किसी फल की आशा किये हुए जो कर्म किया जाता है वही सच्चा त्याग है । कर्मयोगी कर्म को ईश्वर की अर्चना मानता है । जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, तब तक कर्म करते रहना ही सच्ची साधना है ।

गीता में कर्म मार्ग की प्रवृत्ति होने के लिए वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था को महत्व दिया गया है । प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्णानुसार कर्तव्य करना चाहिये । आश्रम-व्यवस्था में संन्यास को अत्यधिक महत्व दिया गया है । सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह एवं स्वार्थलुप्त कामनाओं का त्याग करना ही वास्तविक संन्यास है जो गृहस्थ आश्रम में रहते हुये भी किया जा सकता है ।

गीता में कहा गया है कि मनुष्य में बुद्धि इच्छा और भावना इन तीनों तत्वों की प्रधानता है जिनके द्वारा वह सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। गीता में अवतारवाद को भी प्रदान की गई है। गीता में स्वयं कहा गया है:—

"प्रकृति स्वामिधिष्ठाय संभावाभ्यात्ममायवा।"

अर्थात "मैं अपनी प्रकृति का अधिष्ठान कर अपनी माया की सहायता से इस संसार में अवतार लेता हूँ।"

गीता में याज्ञिक कर्मों का विरोध किया गया है कि 'तपोयज्ञ, स्वाध्याय योग, ज्ञान योग ही वास्तविक योग है जिनका अनुष्ठान, स्वाध्याय, चरित्र-शुद्धि एवं आत्म-संयम द्वारा किया जा सकता है।

चतुर्व्यूह का सिद्धान्त—वैष्णव-धर्म के सिद्धान्तों में 'चतुर्व्यूह' के सिद्धान्तों का अपना अलग सिद्धांत है। आरंभ में भागवत संप्रदाय के अन्तर्गत वसुदेव कृष्ण की पूजा के साथ ही वृष्णि कुल के चार व्यक्तियों की पूजा का प्रचलन था। वायु पुराण के अनुसार इनका नाम संकर्षण, प्रदुम्न, साम्ब, अनिरुद्ध था। इनमें से प्रथम कृष्ण के सौतेले भाई और अन्य दो पुत्र और अन्तिम उनके पौत्र थे। इन सबकी सम्मिलित पूजा को ही चतुर्व्यूह सिद्धान्त की संज्ञा दी गई। यह पूजा 5 रूपों में की जाती थी– पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, अर्चा। 'पर' वासुदेव का उच्चतम रूप था। 'व्यूह' उनसे प्रादुर्भूत होने वाली, 'विभाव' उनका अवतार ग्रहण करने पाला रथ था। 'अन्तर्यामी' प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों को नियन्त्रित करने वाल रूप था। 'अर्चा' भगवान की स्थूल विरुद्ध पूजा को कहा गया था। गीता में भी इन्हीं पाँचों रूपों की उपासना का वर्णन है परन्तु चतुर्व्यूह का उल्लेख नहीं है।

इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि भागवत धर्म में चतुर्व्यूह पूजा कब से आरम्भ हुई। पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक उत्तर में व्यूहवाद का एक स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। महाभाष्य से ज्ञात होता है कि दूसरी शताब्दी ई० पूर्व तक कृष्ण की एक देव के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी थी। बलराम के साथ उनकी उपासना भी प्रचलित हो गई थी परन्तु व्यूहवाद का विकास नहीं हुआ था। प्रथम शताब्दी ई० पू० के धोसुण्डी अभिलेख से यह जानकारी प्राप्त होती है कि वासुदेव के साथ संकर्षण की पूजा का प्रचलन हो चुका था। चतुर्व्यूह पूजा का सर्वप्रथम उल्लेख विष्णु संहिता में किया गया है। इसमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम हैं परन्तु साम्ब का नाम नहीं है। मथुरा के मीरा कूप अभिलेख से यह जानकारी प्राप्त होती है कि पहली शताब्दी ई० पू० साम्ब की पूजा प्रचलित थी। 6ठीं शताब्दी में साम्ब की गदाहस्त मूर्ति बनाने वाले प्राचीन परम्परा का प्रमाण प्राप्त होता है परन्तु शनैः शनैः साम्ब की पूजा समाप्त हो गई।

कालान्तर में भागवत सम्प्रदाय के अनुयायियों ने वासुदेव या कृष्ण को सर्वोच्च देव माना और संकर्षण आदि अन्य देवों को उन्होंने उन्हीं से प्रादुर्भूत माना।

जिस प्रकार सांख्य आदि दर्शनशास्त्रों में प्रकृति पुरुष से अहंकार, बुद्धि आदि तत्वों से सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है। उसी प्रकार वासुदेव ने संकर्षण आदि देवताओं की उत्पत्ति प्रक्रिया बताई गई है। वासुदेव कृष्ण की सर्वोच्च सत्ता है जिन्होंने अपने में संकर्षण उत्पन्न किया। संकर्षण के संयोग से व्यूह, प्रद्युम्न के

संयोग से व्यूह-अनिरुद्ध की सृष्टि हुई। इस प्रकार संकर्षण आदि वासुदेव से ही प्रादुर्भूत हैं। इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यही चतुर्व्यूह का सिद्धान्त है।

अवतारवाद

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य की एक प्रमुख विशेषता अवतारवाद रही है। अवतारवाद ने भारतीय जन-जीवन में धार्मिक भावना को दृढ़ करने में महान् योग-दान दिया है। अवतार शब्द का सामान्य अर्थ ऊपर से नीचे जाना या शरीर धारण करना है और पारिभाषिक अर्थ में उसका प्रयोग भगवान विष्णु या देवताओं के अवतार के लिए होता है।

वैष्णव धर्म में विष्णु के अवतार को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। विष्णु के अवतारों का मूल रूप वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होता है परन्तु उसमें अवतारों का सम्बन्ध विष्णु से न होकर प्रजापति से हुआ है। कालान्तर में जब विष्णु को सर्वोच्च देवता के रूप में मान्यता प्रदान की गई तो अवतारों का सम्बन्ध उन्हीं के साथ जोड़ दिया गया।

महाभारत के 'नारायणीय' अंश में 4 अवतारों-मत्स्य, वाराह, वामन, नृसिंह का उल्लेख है। एक अन्य स्थान पर इन 4 के अतिरिक्त राम भार्गव, राम दाशरथ्य का भी उल्लेख किया गया है। दूसरे स्थान पर उपयुक्त 6 अवतारों के साथ ही हंस, कूर्म, मत्स्य, कल्कि अवतारों का भी उल्लेख है। इस प्रकार वहाँ 10 अवतारों की बात कही गई है। वायु पुराण में एक स्थान पर 10 और दूसरे स्थान पर 12 अवतार बतलाए गये हैं। भागवत में विष्णु के 24 अवतार कहे गये हैं। 'अहिर्बुध्न्य' संहिता में विष्णु के 39 रूप बतलाये गये हैं परन्तु विष्णु के 10 अवतार ही लोक-प्रसिद्ध हैं। इनका उल्लेख सबसे पहले वायु-पुराण में प्राप्त होता है। ये अवतार हैं—मत्स्य, कूर्म, नृ-सिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। इन अवतारों का यहाँ संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है:—

(1) **मत्स्य**—विष्णु का प्राचीनतम अवतार मत्स्य के रूप में माना जाता है। कहा जाता है कि जब विश्वव्यापी प्रलय हुई तो विष्णु ने मत्स्य का रूप धारण करके एक जलपोत द्वारा मनु उनके परिवार एवं सप्त ऋषियों को बचाया था। मत्स्य पूजा के नाम का उल्लेख प्राप्त हुआ है। मत्स्य अवतार का रूप जल में तैरती हुई मछली का है परन्तु बंगाल में बाद्योग नामक स्थान पर मत्स्यावतार की जो मूर्ति प्राप्त हुई है उसकी कमर के नीचे का भाग मत्स्य का है और ऊपर का नया भाग चतुर्भज मनुष्य का।

(2) **कूर्म**—अनुश्रुति यह है कि समुद्र मन्थन के समय विष्णु ने कूर्म के रूप में मन्दराचल पर्वत धारण किया था। शुक्ल यजुर्वेद में कूर्म को जल का स्वामी बतलाया गया है। शतपथ ब्राह्मण में उसे वरुण का सहायक माना गया है। कांची-पुरम भगवान विष्णु के मन्दिर में उनके कूर्मावतार की भी पूजा की जाती है।

(3) **वाराह**—वाराह का प्रथम उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में उसे 'एमुष' के रूप में सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद में वाराह को अनादि देवता के रूप में माना गया है परन्तु पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में वाराह का सम्बन्ध प्रजापति से जोड़ा गया है। वैष्णव धर्म का प्रचार होने पर विष्णु को ही वाराह के

रूप में प्रतिष्ठापित किया गया। अनुश्रुति यह है कि एक बार हिरण्याक्ष राक्षस ने पृथ्वी को समुद्र तल में फेंक दिया और ऐसे समय में विष्णु ने वाराह का रूप धारण कर उसका वध किया तथा पृथ्वी को अपने दाँतों पर उठा लिया। वाराह अवतार की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। गुप्तकाल में वाराह अवतार को विशेष महत्व दिया गया। उदयगिरि की वाराह प्रतिमा चन्द्रगुप्त के समय की है। कदम्ब और चालुक्य अभिलेखों से यह जानकारी प्राप्त होती है कि दक्षिणी भारत में वाराह पूजा का विशेष प्रचलन था।

(4) **नृ-सिंह**—विष्णु का नृसिंहावतार भी काफी प्रचलित रहा। कहा जाता है कि हिरण्यकश्यप नामक राक्षस ने ब्रह्म से यह वरदान प्राप्त किया कि न वह दिन में मरे और न रात्रि में, न मनुष्य से मरे और न पशु से, न रोग से मरे और न शस्त्र से। इस वरदान को प्राप्त करने के बाद वह अपने को अबध्य समझ कर अत्याचार करने लगा और उसके अत्याचार से मनुष्यों के साथ ही नहीं वरन् देवता भी पीड़ित होने लगे। उसके पुत्र प्रह्लाद की प्रार्थना पर विष्णु भगवान ने एक स्तम्भ से प्रकट होकर नृसिह के रूप में संध्या के समय अपने नखों एवं दाँतों से हिरण्यकश्यप का वध कर डाला। नृसिह के रूप में विष्णु का मुख सिंह का था और शेष शरीर मानव का। नृसिंहावतार की गुप्त काल में अनेक मूर्तियाँ बनाई गईं और इस काल के बाद वैष्णव धर्म का एक सम्प्रदाय जो अपने को परमनार कहता था, नृसिंह को ही इष्टदेव मानता था।

(5) **वामन**—वामन अवतार मूल ऋग्वेद में प्राप्त होता है। परन्तु उसका विस्तार तैत्तिरीय ब्राह्मण में हुआ है। क्या यह है कि राजा बलि ने तप के द्वारा अलौकिक बल प्राप्त करके समस्त संसार पर अपना आधिपत्य कर लिया। भगवान विष्णु ने वामन का रूप धारण करके उनके पास आकर 3 पग धरती की याचना की। बलि के द्वारा इस याचना की स्वीकृति हो जाने पर भगवान ने विराट रूप धारण कर लिया और 3 चरणों में सम्पूर्ण भवनों एवं राजा बलि के शरीर को नाम कर बलि को पाताल भेज दिया। वामन अवतार की मूर्तियाँ 2 रूपों में प्राप्त होती हैं। एक प्रकार की मूर्ति बौने ब्रह्मचारी के रूप में है जिसके एक हाथ में छत्र और दूसरे में घट है। दूसरे प्रकार की मूर्ति विराट रूप में पैर पृथ्वी पर और दूसरा पैर उठाये त्रिलोक नापने की व्यवस्था में है।

(6) **परशुराम**—ब्राह्मण ऋषि यमदग्नि के पुत्र परशुराम को भी विष्णु का अवतार माना गया है। कहा जाता है कि राजा कीर्तिवीर्य ने यमदग्नि के साथ छल किया फलस्वरूप परशुराम ने कीर्तिवीर्य का वध कर दिया कीर्तिवीर्य के पुत्रों ने यमदग्नि की हत्या कर दी अतएव परशुराम ने क्रुद्ध होकर पृथ्वी को छत्रियों से शून्य कर देने की प्रतिज्ञा की। उन्होंने अपने परशु (फरशा) से 21 बार क्षत्रियों का विनाश किया। परशुराम की प्रतिष्ठा देवता के रूप में कम और वीर के रूप में अधिक है।

(7) **दाशरथ्य राम (राम)**—विष्णु के इस अवतार की उपासना सबसे अधिक होती है। दाशरथ्य के पुत्र राम को केवल ईश्वर के रूप में ही नहीं देखा जाता; वरन् एक वीर पुरुष, आदर्श पुत्र, स्नेही भाई, आदर्श पति, आदर्श राजा, आदर्श

मानव के रूप में भी देखा जाता है। अनश्रुति यह है कि रावण के अत्याचारों से त्रस्त होकर पृथ्वी की प्रार्थना पर शेषनाग पर शयन करने वाले भगवान विष्णु ने दशरथ के पुत्र राम के रूप में अवतार लिया और रावण का वध करके भक्तगणों की रक्षा की। राम की उपासना का प्रचार मुसलमान आक्रमण के बाद अधिक हुआ। दशरथ के पुत्र राम की लाखों संख्या में मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। देवगढ़ के गुप्तकालीन दशावतार मन्दिर में अनेक स्थान पर राम की विभिन्न लीलाओं का चित्रण दिया गया है।

(8) **कृष्ण**—विष्णु का कृष्ण अवतार सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। जनश्रुति यह है कि कृष्ण मथुरा के वासुदेव और देवकी के पुत्र थे। देवकी के भाई कंस के भय से वासुदेव ने कृष्ण को जन्म लेते ही वृन्दावन पहुँचा दिया। जहाँ नन्द और यशोदा ने उनका पालन-पोषण किया। विभिन्न प्रकार की लीलाओं के करते हुए कृष्ण ने अपने दुष्ट मामा कंस का वध किया और द्वारिका में अपनी राजधानी बनाकर राज्य करने लगे। कुरुक्षेत्र के मैदान में उन्होंने गीता का उपदेश दिया। पाणिनि के महाभारत महाभाष्य में कृष्ण के स्वरूप के विकास का वर्णन है। कृष्ण को 16 लीलाओं से पूर्ण अवतार माना गया है जबकि विष्णु के अन्य अवतार आंशिक कलाओं से युक्त ही बतलाये जाते हैं। भारत में कृष्ण की मूर्तियाँ भी लाखों की संख्या में हैं। देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में कृष्ण के अनेक लीलाओं का चित्रण किया गया है।

(9) **बुद्ध**—विष्णु का एक अवतार बुद्ध भी माना गया है। शाक्य वंश में उत्पन्न महात्मा बुद्ध बौद्ध धर्म के प्रवर्तक थे। पुराणों में यह कहा गया है कि धर्मोपदेश द्वारा दुष्टों एवं असुरों का अन्त करने के लिए एवं सत्कर्म एवं वैराग्य का आदर्श उपस्थित करने के लिए विष्णु ने बुद्ध के रूप में अवतार लिया था। बौद्ध धर्म के अनुयायी इस बात को स्वीकार नहीं करते। परन्तु महात्मा बुद्ध को एक हिन्दू देवता के रूप में आराधना की जाती है। गया के बौद्ध मन्दिर में बुद्ध की पूजा हिन्दू देवता के रूप में होती है। आज भी सारनाथ के बौद्ध मन्दिर में वह हिन्दू देवता के रूप में पूजे जाते हैं।

(10) **कल्कि**—यह विष्णु का भावी अवतार है। वैष्णव धर्म में कल्पना की गई है। कलयुग के अन्त में विष्णु मनुष्य के रूप में खड्ग लेकर श्वेत अश्व पर आरूढ़ होकर मलिच्छों का नाश करने के लिए एवं नवयुग का निर्माण करने के लिए अवतार लेंगे। इस अवतार का साहित्य और मूर्तिकला से कोई विशेष महत्व नहीं है।

उपर्युक्त अवतारों के अतिरिक्त कहीं-कहीं बलराम का भी उल्लेख हुआ है परन्तु उन्हें विष्णु अवतार के रूप में अधिक मान्यता प्राप्त नहीं है।

16

शक्ति-पूजा एवं शाक्त-सम्प्रदाय

(Saktism)

प्रश्न (1) प्राचीन भारत में शक्ति-पूजा के विकास पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

अथवा

'त्रिपुरसुन्दरी' मान्यता पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये और शक्ति-पूजा के ज्ञान तत्व का उल्लेख कीजिये।

अथवा

देवी उपासक सम्प्रदाय का उल्लेख कीजिये।

भूमिका—प्राचीन भारत में शक्ति-पूजा का प्रचलन विशेष रूप से था। मातृ-देवी की पूजा प्रागैतिहासिक युग से प्रचलित है। मातृ-देवी की मृण्मयी प्रतिमा 5 हजार ई० पुरानी बनती रही थी। मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की खुदाई में मातृ-देवी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मातृ-देवी को शक्ति के रूप में माना जाता है। शक्ति का प्रारम्भिक रूप शिव की पत्नी उमा अथवा पार्वती हैं जो जगत् जननी के नाम से जानी जाती है। वास्तव में उनका तांत्रिक एवं दार्शनिक विकास शक्ति के रूप में हुआ है, अतएव शक्ति एवं शिव की अभिन्नता मानी जाती है। शक्ति के रूप में विकसित होकर पार्वती कपाला, भरण, काली एवं सिंहवाहिनी दुर्गा बनकर कालान्तर में उदित हुई और उन्होंने असीम शक्ति से सम्पन्न महाकाली का रूप धारण किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शिव भी "महाकाल" कहे जाते हैं। इसलिये शक्ति एवं शिव की एकात्मकता स्वयंसिद्ध है।

कालान्तर में शक्ति के अनेक नाम जुड़ गये जो उनके क्रमिक विकसित होने वाले रूपों के परिचायक हैं। काली, चामुण्डा, चण्डी, देवी, शिवानी, रुद्राणी, भवानी आदि विभिन्न नाम उनके शैव सम्बन्धों को स्पष्ट करते हैं। साथ ही लक्ष्मी, वैष्णवी, ब्राह्मी, इन्द्राणी आदि नाम भी उन्हें प्रदान किये गये जो उनके उत्तरोत्तर बृद्धशील स्वतन्त्र अस्तित्व को स्पष्ट करते हैं, न कि दूसरे देवताओं के प्रभाव को। बुद्धि और प्रज्ञा की देवी के रूप में उन्हें "वाग्देवी" सरस्वती भी सम्बन्धित किया जाता है। मध्य युग तक शक्ति उपासना बहुत अधिक बढ़ चुकी थी और देवी की उपासना सृष्टि के पालक और संहारकर्ता दोनों ही रूपों में की जाती थी।

वैदिक युग में शक्ति-पूजा का इतिहास—ऋग्वैदिक युग में अधिकतर देवताओं की पूजा का प्रचलन था परन्तु ऋग्वेद में ऊषा एवं वाग्देवी की भी स्तुति की गई है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक पूरी सूक्त तान्त्रिक थी, जिसे "देवी सूक्त" कहा जाता है। महर्षि अभृण की दुहिता का नाम "वाक" था जिसकी देवी के साथ अभिन्नता थी। ऋग्वेद के दशम मण्डल की सूक्त में उसके उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त किये गये हैं, "मैं ही ब्रह्म के द्वेषियों को मारने के लिये रुद्र का धनुष चढ़ाती हूँ। मैं ही सेनाओं

को मैदान में लाकर खड़ा करती हूँ, मैं ही आकाश और पर्वत तथा पृथ्वी पर सशरीर व्याप्त हूँ।'' मैं सम्पूर्ण जगत की अधीश्वरी हूँ। अपने उपासकों को धन की प्राप्ति कराने वाली, साक्षात करने योग्य परब्रह्म को अपने से अभिन्न रूप में जानने वाली और पूजनीय देवताओं में प्रधान हूँ। सम्पूर्ण भूतों में मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानों में रहने वाले देवता जहाँ कहीं, जो कुछ भी करते हैं, वह सब मेरे लिये करते हैं।''

उत्तर वैदिक युग में शक्ति-पूजा का स्वरूप—उत्तर वैदिक काल में देव-पूजा का प्रचलन प्रचुर मात्रा में हो चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थों, अरण्यकों और उपनिषदों में इसका स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। वाजसनेयी संहिता में अम्बिका के रूप में देवी का उल्लेख किया गया है और उन्हें रुद्र की बहन 'स्वस' बताया गया है। तैत्तरीय और शतपथ ब्राह्मण में भी रुद्र की पत्नी पार्वती के सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं। केन उपनिषद में ''उमा'' शब्द का प्रयोग हुआ है जहाँ उन्हें विद्या देवी का स्वरूप बतलाते हुये ''हेमवती'', (हिमालय की पुत्री), कहा गया है। 'पार्वती', 'उमा', 'हेमवती', आदि शब्द पर्वतीय प्रदेश को इंगित करते हैं और उसी प्रदेश में देवी शक्ति के प्रभाव की भी अभिव्यक्ति करते हैं। यही नहीं शिव को भी कैलाशवासी माना गया है और कैलाशवासी के रूप में उनकी आराधना उनके गिरि प्रदेश से सम्बन्धित होना व्यक्त करती है।

महाभारत में शक्ति-पूजा—महाभारत में देवी की स्वतन्त्र पूजा का उल्लेख प्राप्त होता है। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये कृष्ण की सलाह पर अर्जन ने दुर्गा की आराधना की थी जिसमें उन्होंने देवी दुर्गा के कई नामों की स्तुति की जिसमें कुमारी, विद्या, उमा, कांतारवासिनी, कौशिकी, काली, महाकाली कपाली, चण्डी कात्यायनी, कराला आदि नाम उल्लेखनीय हैं। उसमें यह भी कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रातःकाल शक्ति का स्रोत पढ़ता है वह संग्राम में विजयी होता है और उसे लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। विराट पर्व में युधिष्ठिर ने भी देवी की आराधना की है जिसमें उन्होंने देवी को महिषासुरमर्दिनी, यशोदा के गर्भ से जन्म लेने वाली, विन्ध्याचल निवासिनी, नारायण की परमप्रिया और वासुदेव की भगिनी के रूप में सम्बोधित किया है। महाकाली को मदिरा, माँस एवं पशु में रुचि रखने वाली प्रदर्शित किया गया है। उनका स्थान विन्ध्य क्षेत्र बतलाया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महाभारत युग में देवी की आराधना विभिन्न रूपों में प्रचलित थी। वह जगद्जननी के रूप में जानी जाती थी।

पौराणिक युग में शक्ति-पूजा—पुराणों में भी देवी के विभिन्न रूपों की कथाएँ आई हैं। हरिवंश पुराण के अनुसार विष्णु ने पाताल लोक में जाकर कालरूपिणी योग निद्रा से यशोदा को पुत्री के रूप में जन्म लेने का आग्रह किया। जन्म लेने के बाद यह शिला पर पटकी गईं और आकाशगामी होकर उन्होंने विन्ध्यपर्वत पर स्थान धारण किया। कुश गोत्र के होने के कारण उन्हें कौशिका का नाम भी दिया गया।

मारकण्डेय पुराण में वर्णित दुर्गा सप्तशती अत्यधिक प्रसिद्ध है जिसमें शक्ति की व्यापकता एवं महत्ता का विशेष वर्णन किया गया है। उसमें शक्ति का 3 रूपों में उल्लेख किया है—(1) महाकाली, (2) महालक्ष्मी, (3) महासरस्वती।

पूर्व मध्य-काल में शक्ति-पूजा—पौराणिक युग के बाद शक्ति-पूजा का निरंतर

उल्लेख प्राप्त हुआ है। पूर्व मध्ययुगीन साक्ष्यों से शक्ति-पूजा का पता चलता है।
भेड़ाघाट (जबलपुर) के समीप 64 जोगिनी का मन्दिर है जिसमें 900-1000 ई०
के मध्य देवी की प्रतिमाएँ गढ़ी गईं। उसमें शक्ति की 44 प्रतिमाएँ हैं। खजुराहो
और सुराडा (उड़ीसा) में भी देवी की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। प्रतिहार शासक
महेन्द्रपाल के अभिलेख में दुर्गा को अनेक रूपों में अभिहित किया गया है। आसाम
स्थित कामाख्या देवी का मन्दिर भी प्रसिद्ध है जो देवी के कामरूप को व्यक्त करता
है। जम्मू के निकट स्थित शारदा देवी का मन्दिर शक्ति के सौम्य रूप को व्यक्त
करता है। मधुमती के दायें तट पर शारदा देवी का मन्दिर सम्पूर्ण देश में विख्यात
है—

आधुनिक युग में भी शक्ति-पूजा का प्रचलन सर्वत्र भारत में देखा जाता है।
काश्मीर, काँची और कामाख्या (असम) प्राचीन भारत में शक्ति-पूजा के प्रसिद्ध केन्द्र
रहे हैं।

शक्ति के 3 रूप—देवी के सम्बन्ध में प्राचीन साहित्य में जो उल्लेख प्राप्त
होते हैं, उन सब से यह संकेत मिलता है कि शक्ति के 3 रूप प्रसिद्ध हैं—(1) सौम्य
रूप (2) प्रचण्ड रूप और (3) काम प्रधान रूप।

देवी के सौम्य रूप की ही पूजा अत्यधिक प्रचलित रही है। उमा, पार्वती,
लक्ष्मी आदि देवी के सौम्य रूप को व्यक्त करते हैं। देवी के प्रचण्ड रूप की पूजा
कापालिका और कालामुख आदि करते रहे हैं जिसमें सुरा, मांस आदि का निर्बाध
प्रयोग किया जाता था। दुर्गा, चण्डी, कपाली के रूप में देवी के प्राचीन रूप की पूजा
की जाती है। कामरूपिणी देवी की उपासना शाक्त लोग करते हैं जो देवी के मोह
और माया को समस्त जगत् से ऊपर मानते हैं। वह देवी को आनन्द, भैरवी, त्रिपुर-
सुन्दरी और ललित आदि कहते हैं। शंकराचार्य ने 'सौन्दर्य लहरी' में देवी के इसी
अलौकिक सौन्दर्य का चित्रण किया है।

शक्ति-पूजा का ज्ञान-तत्व—शक्ति-पूजा का ज्ञान-तत्व शैव सिद्धान्तों से प्रभा-
वित तो है ही परन्तु शक्ति की दार्शनिक सत्ता एवं व्यावहारिक सत्ता एक स्वतंत्र एवं
उन्मुक्त सत्ता है जो उसे सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। प्रज्ञा एवं स्वप्न दोनों ही
स्थितियाँ महामाया का स्वरूप हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव का अंश होने के फलस्वरूप
सृजन-पालन और संहार तीनों तत्वों का समन्वय उनमें हुआ है। फलस्वरूप, भक्त
जगत्माता के रूप में मानता है।

दार्शनिक सत्ता में शिव एवं शक्ति आद्य तत्व है। शक्ति अन्तर्मुख होने पर
'शिव' और शिव बर्हिमुख होने से 'शक्ति'। शिव-भाव में शक्ति भाव कम होता है
और शक्ति-तत्व में शिव-भाव कम होता है। जब दोनों की स्थिति समान होती है
तभी सामरस्य होता है जिसे शैव 'परमशिव' के नाम से पुकारते हैं और शक्त 'परा-
शक्ति' के नाम से।

सृष्टिकारक होने के फलस्वरूप देवी को ललिता, भट्टारिक और त्रिपुर
सुन्दरी की संज्ञा भी दी गई है। क्योंकि जगत् का जितना सौन्दर्य है, उन्हीं के कण
से है और वह पूर्ण अखण्ड सौन्दर्य की निकेतन हैं। शिव का प्रतीक 'अ' अक्षर माना
गया है और शक्ति का प्रतीक 'ह' अक्षर माना गया है। 'ह' अर्द्धकला है जो योनि के
आकार का अर्द्ध-भाग है। शिव के 'अ' से जब उसकी संयुक्तता होती है तभी 'काम-

कला' या 'त्रिपुरसुन्दरी' का आरोपण होता है जो शिव एवं शक्ति दोनों तत्वों से ही सम्भाव्य है। इसलिये देवी 'अहं' कही जाती है और उनके समस्त कार्य एवं सर्जन 'अहं' से युक्त हैं। संसार की समस्त आत्माएँ त्रिपुरसुन्दरी का ही रूप हैं। जब ये आत्माएँ देवी चक्रों के साथ काम-कला-विजय और ज्ञान की पूर्णता का आभास कराती हैं तब वे त्रिपुर सुन्दरी कही जाती है। 'अ' और 'ह' वर्णमाला के आरम्भिक और अन्तिम अक्षर हैं। सभी अक्षर इन दोनों के बीच में हैं। इस तरह समस्त भावों का विकास 'अहं' रूपी त्रिपुर सुन्दरी के माध्यम से होता है। इसीलिये उसे 'परा' कहा गया है जो वाक् के 4 प्रकारों में प्रथम हैं। सृष्टि उसका फल है जिसमें स्त्री तत्व की प्रधानता है। त्रिपुर सुन्दरी के साथ तदरूपता स्थापित करने वाले व्यक्ति अपने को भी स्त्री मानते हैं। शक्तों की यह मान्यता है कि ईश्वर स्त्री रूप है जिसकी प्राप्ति स्त्री बनने से ही सम्भव है। अतएव 'त्रिपुर सुन्दरी' ही 'ललिता' है। वही 'श्री विद्या' हैं और सौन्दर्य एवं आनन्द की परमधाम है।

शाक्त मत में 3 भाव एवं 7 आचारों का उल्लेख किया गया है। 3 भावों के अन्तर्गत पशुभाव, वीरभाव और दिव्य भाव हैं एवं 7 आचारों के अन्तर्गत, वेदाचार, वैष्णवाचार्य, शौवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार हैं। भाव का सम्बन्ध मन से है और आचार का बाह्य क्रियाकलाप से। भाव के माध्यम से भक्त द्वैत से अद्वैत की ओर प्रवृत्त होता है।

देवी की आराधना प्रायः 3 रूपों में की जाती है। पहले प्रकार की आराधना इस प्रकार की जाती है कि वह महापद्भवन में शिव के अंक में बैठी हैं। दूसरे प्रकार की आराधना में चक्र की पूजा की जाती है जिसे बाह्य पूजा कहा जाता है। योनि का चित्र बनाकर उसे चक्र के नाम से पुकारा जाता है। शाक्त इस चक्र की दो प्रकार से पूजा करते हैं—(1) जीवित स्त्री रूप से योनि की और (2) काल्पनिक रूप की। शाक्तों की दो शाखाएँ हैं—(1) कौल और (2) समयिन।

तीसरे प्रकार की आराधना में दार्शनिक धरातल पर ज्ञान के आधार पर देवी की उपासना की जाती है।

शाक्त तन्त्रों का सम्बन्ध अथर्ववेद के 'सौभाग्य काण्ड' से भी स्थापित किया जाता है। परन्तु वेदों से सम्बन्धित उपनिषदों में कौल, त्रिपुरा, महोपनिषद आदि मुख्य हैं। कुछ उपनिषदों पर भाष्य भी लिखे गये हैं। कौल, त्रिपुरा महोपरिषद पर 17वीं शताब्दी में भाष्करराय से भाष्य लिखा था। अप्पय दीक्षित ने त्रिहुर और भावना उपनिषदों पर 16वीं शताब्दी में भाष्य लिखा। इनमें भी शक्ति पूजा के ज्ञान तत्व का विस्तृत उल्लेख किया गया है।

मुद्रक—कैक्सटन प्रेस, बाई का बाग, इलाहाबाद—3

प्राचीन भारत में राज्यशासन-पद्धति : गणतंत्रात्मक व्यवस्था

(Ancient Indian Polity : Republic System)

प्रश्न (1) "हम निश्चयपूर्वक प्राचीन गणराज्यों को प्रजातन्त्र कह सकते हैं जिस प्रकार कि प्राचीन ग्रीस तथा रोम के राज्यों को कहा गया है।" इस कथन का विवेचन कीजिये।

प्राचीन भारत में गणराज्यों के स्वरूप का उल्लेख करते हुए उनके उत्थान और पतन की विवेचना कीजिये।

गणराज्य का स्वरूप

वैदिक-कालीन शासनव्यवस्था का मुख्य स्वरूप राजतन्त्र था। वैदिक युग के परवर्ती काल में लोगों की प्रवृत्ति अपने वर्ग का पृथक शासन स्थापित करने की ओर चली गयी थी। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप गणराज्यों का उदय हुआ। डॉ० जायसवाल के मतानुसार, "वैदिक युग के आरम्भ में केवल राजाओं के द्वारा ही शासन हुआ करता था। परन्तु वैदिक युग के उपरान्त यह साधारण राज्य व्यवस्था छोड़ दी गयी थी।" इस मत का समर्थन मेगस्थनीज के यात्रा विवरण तथा महाभारत के उल्लेखों द्वारा किया गया है। इस प्रकार, राजतन्त्र के साथ-साथ जिस दूसरी शासन-व्यवस्था का प्राचीन भारत में विकास हुआ, उसे गणराज्य (Republic) कहा जाता था। "गणराज्य" की धारणा को समझने के लिए, सर्वप्रथम "गण" शब्द के अभिप्राय को समझना आवश्यक है।

"गण" शब्द को स्पष्ट करते हुए डॉ० जायसवाल ने बताया है कि "गण" शब्द का मुख्य अर्थ है—समूह, और इसलिए गणराज्य का अर्थ होगा समूह के द्वारा संचालित राज्य अथवा बहुत से लोगों द्वारा होने वाला शासन। "बौद्ध ग्रन्थों में "गण" की रीति पर भिक्षुओं की गणना का उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त, बौद्ध साहित्य में "गणपूरक" शब्द भी अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है। जिसका तात्पर्य गण की संख्या की पूर्ति करने वाले से है। दूसरे शब्दों में गणपूरक उस अधिकारी को कहते थे जो कार्यवाही आरम्भ होने के पूर्व यह देखता था कि गण की नियमानुकूल संख्या की पूर्ति हो गयी है अथवा नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि गण का अभिप्राय लोगों के समूह अथवा समाज से होता था। इसमें उपस्थित होने वाले लोगों की गणना की जाती थी। इसी कारण इसका नाम "गण" प्रचलित हुआ। इसे स्पष्ट करते हुए

डॉ० जायसवाल ने बतलाया है, "गणराज्य उस शासन को कहते थे जो बहुत से लोगों के समूह या पार्लियामेन्ट के द्वारा होती थी। इस प्रकार गण का दूसरा अर्थ पार्लियामेंट या सिनेट हो गया और प्रजातन्त्र राज्य का शासन उन्हीं के द्वारा होता था, इसलिए गण का अर्थ स्वयं प्रजातन्त्र राज्य भी हो गया।"

पाणिनि ने "गण" तथा 'संघ' शब्दों को समानार्थक माना है। जातकों के अन्तर्गत 'गण' शब्द का प्रयोग, लोगों की संस्था अथवा समिति को दर्शाने के लिये किया गया है। महाभारत के अनुसार गण अपनी पर-राष्ट्रनीति और आन्तरिक सुव्यवस्था के लिए विख्यात थे। इसी प्रकार धर्मशास्त्रों के टीकाकारों ने "गण" शब्द का प्रयोग लोगों के कृत्रिम समूह को दर्शाने के लिये किया है। 'अवदान शतक' के अनुसार "गण" राजतन्त्र का विलोम है अर्थात प्रजातन्त्र है। इसी प्रकार जैन-ग्रन्थों में, गण शब्द का प्रयोग विवेक-युक्त संस्थाओं अथवा संगठनों के लिये किया गया है।

इस समस्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में राजतन्त्र के अतिरिक्त गणतन्त्र भी विद्यमान थे। दूसरे शब्दों में इसे प्रजातन्त्र कहा जा सकता है। कुछ लेखकों का कथन है कि प्राचीन भारत में इसे प्रजातन्त्र कहा जा सकता है। कुछ लेखकों का कथन है कि प्राचीन भारत में केवल राजतन्त्र था और जिन राज्यों को "गण" के नाम से सम्बोधित किया गया है वे राज्य न होकर जातियाँ थीं। कुछ लेखकों ने प्राचीन गणराज्यों को प्रजातन्त्र का स्वरूप न मानकर केवल कुलीनतन्त्र माना है जिसमें शासन सत्ता कुछ कुलीन व्यक्तियों के हाथ में निहित रहती थी। उदाहरणार्थ यौधेयों में शासन सत्ता 5000 लोगों की परिषद के हाथ में निहित थी। तथा लिच्छवियों में 7707 व्यक्तियों के समूह के हाथ में थी। किन्तु यदि हम प्राचीन विश्व के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें पता चलेगा कि प्राचीन रोम, एथेंस, स्पार्टा, मध्यकालीन वेनिस, संयुक्त नीदरलैण्ड तथा पोलैण्ड में शासन-सूत्र कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में था, किन्तु वे सब प्रजातन्त्र माने गये हैं। अतः शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दोनों आधारों से प्राचीन भारतीय गणराज्य प्रजातन्त्र कहे जायेंगे, उसी प्रकार जैसे प्राचीन इटली और यूनान के राज्य प्रजातन्त्र कहे जाते थे। इन राज्यों में शासनाधिकार एक ही व्यक्ति अथवा मुट्ठी भर आदमियों के हाथ में नहीं वरन् काफी बड़े वर्ग के हाथ में था। वैशाली का लिच्छवी गणराज्य आजकल के दो जिलों से बड़ा न था, फिर भी उसके शासक वर्ग में 7707 आदमी थे।

यदि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को लेकर चले तो हमें मालूम होगा कि वैदिक युग के प्रारम्भ में केवल नृपतन्त्र ही था। किन्तु वैदिक युग के परवर्तीकाल में प्रजातन्त्र की स्थापना होने लगी। बौद्धों के धर्मग्रन्थों में गणराज्यों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों में शूरसेन, वेदि, सात्वत्, कैकेय, मद्र, गान्धार, विदर्भ आदि का उल्लेख किया गया है तथा इनकी शासन-व्यवस्था के विषय में वैराज्य, भोजन व स्वराज्य शब्दों का प्रयोग किया गया है किन्तु इन शब्दों का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः वैदिक युग के परवर्ती काल में, राष्ट्रीय जीवन विभिन्न स्वाधीन संस्थाओं के रूप में प्रकट होने लगा था। इसी क्रमागत विकास के फलस्वरूप, शासन ने आगे चलकर वर्गीय संस्थाओं का रूप ग्रहण किया।

गणराज्यों के उत्थान-पतन—प्राचीन भारत में राजतंत्र के साथ-ही-साथ गणतांत्रिक

शासन-व्यवस्था भी प्रचलित थी। गणतंत्र का अर्थ प्रजातन्त्र से है। कुछ लेखक प्राचीन भारत में गणराज्य के अस्तित्व को मानने के लिये तैयार नहीं हैं। उनका कथन है कि गण से राज्य का बोध न होकर जाति का बोध होता है। उदाहरणार्थ मानियर विलियम ने "गण" शब्द का अंग्रेजी अनुवाद जाति (Tribe) किया है। इसी प्रकार डॉ० फ्लीट ने भी गण शब्द को जाति के अर्थ में अपनाया है। किन्तु इस रूपान्तर को प्रमाणित नहीं माना जाता है। लोग गणराज्यों को प्रजातन्त्र का स्वरूप न मानकर कुलीनतन्त्र मानते हैं, जिसमें शासन-सूत्र कुलीन व्यक्तियों के हाथ में होता है, जैसे यौधेयों के शासन-सत्ता में 5000 व्यक्तियों की परिषद् निहित थी तथा लिच्छवियों में यह सत्ता 7707 व्यक्तियों के हाथ में थी। किन्तु प्राचीन रोम, स्पार्टा, मध्यकालीन वैनिस, पोलैण्ड आदि राज्यों में शासन-सत्ता कुछ ही व्यक्तियों के पश्चात् लेखकों द्वारा प्रजातन्त्र की संज्ञा दी गयी है। अतः भारत के उन राज्यों की जहाँ शासन-सत्ता कुछ कुलीन व्यक्तियों के हाथ में थी, गणराज्य कहना कोई गलती न होगी।

वैदिक काल के प्रारम्भ में राजतन्त्र ही शासन-व्यवस्था का एकमात्र प्रचलित स्वरूप था। उस समय गणराज्य की कल्पना नहीं की जा सकती थी, क्योंकि शासन-व्यवस्था के विकास की वह प्रथम सीढ़ी थी। वैदिक युग के पश्चात् राजतन्त्र के साथ-ही-साथ गणराज्यों का उदय भी होने लगा।

मेगस्थनीज द्वारा गणराज्यों का उल्लेख—मेगस्थनीज ने अपने यात्रा विवरण में एक स्थान पर यह उल्लेख किया है कि राजा के द्वारा शासन करने की रीति भंग कर दी गयी तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में गणतन्त्र शासन की स्थापना हो गयी। वह लिखता है कि प्राचीन भारत में एक परम्परा का प्रचलन था जिसके अनुसार गणतंत्र का विकास राजतन्त्र के बाद माना जाता था। छठीं शताब्दी में मद्र, कुरु, पांचाल, शिवि आदि जो गणराज्य थे वे पहले राजा द्वारा ही शासित होते थे।

महाभारत में गणों की चर्चा—महाभारतकार ने गणों की विशेषताओं का उल्लेख किया है। यह कहा गया है कि गणों में मन्त्रणा का काम कठिन होता है। इसमें अधिक लोग होते थे। इस कारण इनका विनाश होता है।

ब्राह्मण वाङ्मय में गणराज्य—ब्राह्मण वाङ्मय के एक उदाहरण में कहा गया है कि उत्तर मद्र तथा उत्तर कुरु आदि हिमालय के उत्तर प्रदेशों में वैराज्य-व्यवस्था थी। दूसरे शब्दों में ये गणतन्त्र थे।

पाणिनि द्वारा गणराज्यों का उल्लेख—पाणिनि ने हिन्दू प्रजातन्त्रों के विषय में काफी लिखा है। डॉ० जायसवाल ने पाणिनि का काल 500 ई० के लगभग रखा है। गणराज्यों को उसने 'संघ' कहा है। निम्न संघों का उल्लेख पाणिनि ने किया है—(1) वृक, (2) दामिनि (आदि), (3) कौडोपरथ, (4) दांडकी, (5) कौष्टकी, (6) जालमानि, (7) ब्राह्मण गुप्त, (8) जानकी, (9) यौधेय, (10) पार्श्व (आदि)।

अन्य गणराज्यों में पाणिनि ने निम्नलिखित नियमों का उल्लेख किया है—

(1) माद्र, (2) वृज्जि, (3) गजन्य, (4) अंधक वृणि, (5) महाराज, (6) भर्ग।

उपर्युक्त सूची में जो कोडोपरथ से जानकी तक (3 से 8 तक) इन छः गणतन्त्रों का एक राज्य संघ या जिसे त्रिगर्तशष्ठ के नाम से सम्बोधित किया गया है।

इन्होंने अपनी मुद्रा भी चलायी थी। इस संघ की स्थिति के विषय में डॉ० अल्तेकर का कथन है कि सम्भवतः यह संघ जलंधर दोआब में स्थित था।

इस काल का एक मुख्य गणराज्य अर्जुनायन था, जो कि आगरा, जयपुर के प्रदेश में स्थित था। इस गणराज्य की मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं जिनमें 'अर्जुनायनाम् जयः' शब्द अंकित है।

दूसरा बड़ा गणतन्त्र यौधेय था जो कि तीन गणतन्त्रों का एक संघ था। व्यासपार एक उपजाऊ देश का जो वर्णन सिकन्दर के लेखकों ने किया है वह यौधेय ही है, यह प्रदेश अपनी वीरता के लिये विख्यात था। यौधेयों ने कुषाणों को करारा आघात दिया जिससे वे सँभल न सके। 250 ई० के पश्चात् इस गण का उल्लेख नहीं मिलता है।

सिकन्दर के आक्रमण के समय मालवा तथा क्षुद्रक दो शक्तिशाली गणराज्य थे। इन्होंने सिकन्दर से लोहा लिया था। इन दोनों गणों का उल्लेख महाभारत में भी किया गया है। 150 ई० में मालवों को शकों ने हरा दिया किन्तु आगे चलकर वे पुनः स्वतन्त्र हो गये। बाद में उन्होंने ताँबे की मुद्रायें भी चलाईं।

अम्बष्ट भी एक गणतन्त्र राज्य था जो पहले सिकन्दर से युद्ध करने को तत्पर था किन्तु बाद में अपना इरादा बदल दिया।

अंधक-वृष्णियों का राज्य भी एक गणराज्य था, जिसका उल्लेख महाभारत तथा अर्थशास्त्र में किया गया है।

बौद्ध-ग्रन्थ और गणराज्य—बौद्ध ग्रन्थों द्वारा भी गणों के विषय में काफी सामग्री प्राप्त होती है। बौद्ध ग्रन्थों में निम्नलिखित गणराज्यों का उल्लेख मिलता है—वृज्जि, मल्ल, शूरसेन, कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, मिथिला के विदेह, कुशीनारा के मल्ल, पावा के मल्ल, सुँसमार पर्वत के भग्ग, केसपुत्त के कालाम तथा वैशाली के लिच्छवि। इन गणराज्यों की शासन-व्यवस्था का भी विस्तार में उल्लेख किया गया है। ये सब गणराज्य बहुत छोटे थे।

विदेह, लिच्छवि तथा मल्ल बड़े गणराज्य थे जो कि मगध तथा कौशल से बचने के लिये परस्पर संघ बनाया करते थे। 500 ई० पू० मल्ल तथा विद्रोहों को मगध ने जीत लिया किन्तु आगे चलकर वे पुनः स्वाधीन हो गये। गुप्तकाल में लिच्छवि एक अत्यन्त शक्तिशाली गणराज्य बन गया।

अर्थशास्त्र और गणराज्य—ई० पूर्व 325 से पू० ई० 300 तक के गणराज्यों का उल्लेख अर्थशास्त्र से प्राप्त होता था। अर्थशास्त्र में दो प्रकार के संघ राज्यों का उल्लेख किया गया है—शास्त्रोपजीवी तथा राजशब्दोपजीवी। प्रथम के अन्तर्गत निम्नलिखित गणराज्यों का उल्लेख किया गया है—कामबोभ, सुराष्ट्र, क्षत्रिय, श्रेणी आदि। दूसरे प्रकार के संघ राज्य के अन्तर्गत निम्न गणराज्यों का उल्लेख किया गया है। लिच्छवि, वृज्जि, मद्र, मल्ल; कुकुर, कुँरु, आँचाल आदि। लिच्छवि अत्यन्त शक्तिशाली थे जो गुप्तकाल तक बचे रहे। मल्लों का प्रजातांत्रिक स्वरूप मौर्यों के समय से अथवा उनके कुछ बाद से समाप्त हो चला। पांचाल मौर्यों के बाद तक जीवित रहा। पतंजलि ने पांचालों का उल्लेख किया है। कुरु सम्भवतः समाप्त हो चले थे। कुकुर का उल्लेख महाभारत में मिलता है जिसमें उन्हें अंधक

वृष्णि संघ का एक अंग बताया गया है। पहली शताब्दी के अन्त तक कुकुरों का उल्लेख मिलता है।

यूनानी लेखक और गणराज्य—यूनानी लेखकों ने भी गणराज्यों के विषय में लिखा है। यूनानी लेखकों के वर्णन द्वारा अनेक प्रजातन्त्रों का उल्लेख मिलता है जैसे यौधेय आक्सीडकाय, मल्लीय, अम्बस्तई ओस्सडेओई, कथाइयन, सौभूति पटल।

मौर्य काल के गणराज्य—मौर्य काल में भी अनेक गणराज्य विद्यमान थे। इनके सम्बन्ध में मौर्यों की क्या नीति थी? इसका उल्लेख डा० जायसवाल ने निम्नलिखित शब्दों में किया है—"जो गण या प्रजातन्त्र राज्य बलवान होते थे और मिल कर अपना संघात बना लेते थे, मौर्य नीति उन्हें आदरपूर्वक रहने देती थी, क्योंकि उन पर विजय प्राप्त करना कठिन होता था। परन्तु जो संघात में सम्मिलित नहीं होते थे, बल्कि अलग रहते थे, वे भेदनीति के द्वारा निर्बल कर दिये जाते थे और तब बल प्रयोग करके उनका अन्त कर दिया जाता था।"

अशोक ने अपने शिलालेखों में निम्नलिखित राज्यों का उल्लेख किया है—योन, कम्बोज, गांधार, भोज, राष्ट्रिक, पितनिक, अंध्र एवं पुलिंद। काम्बोज, भोज तथा पितनिक की शासन-प्रणालियों में राजा नहीं होता था। दूसरे शब्दों में ये प्रजातन्त्रात्मक राज्य थे। ई० पू० 200 में गांधार में प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली थी। बिन्दुसार ने आन्ध्र को शक्तिहीन बनाकर अपने राज्य में मिला लिया था। किन्तु बाद में उन्हें अपना स्वयं का शासन करने के लिये स्वतन्त्र कर दिया गया। यवन काम्बोज आँध्र तथा पुलिंदों ने अपना प्रजातान्त्रिक स्वरूप ही खो दिया था और हिन्दू राजाओं की अधीनता में रहना शुरू कर दिया।

शुंगों के शासन-काल में गणराज्य—मौर्यों के उपरान्त इतिहास के क्षितिज में शुंगों का आगमन होता है। इस काल में भी प्रजातांत्रिक राज्यों का उल्लेख मिलता है। इनमें सबसे पहले यौदेहों का उल्लेख करना आवश्यक है। यह अत्यन्त शक्तिशाली गणराज्य था। रुद्रदामन (ईसवी दूसरी शताब्दी) ने उनके विषय में लिखा है :—

"सर्वत्रक्षत्राविष्कृतवीरशब्द जातोत्सेकाभिधेयानाम्—यौधेयानाम्।"

अर्थात् सभी क्षत्रियों के सम्मुख निज यौधेय नाम चरितार्थ करने के कारण जिन्हें अभिमान हो गया था, जो परास्त नहीं किये जा सकते थे। शुंग काल में उन्होंने अपने सिक्के चलाये, जिन पर "योधेयनाम्" अंकित होता था। दूसरे प्रकार के सिक्कों में "योधेयगण जय" अंकित है। सातवीं शताब्दी के कुछ पूर्व में ही सम्भवतः इनका अन्त हो गया।

दूसरा गणराज्य मद्रों का था। इन्होंने भी अपने सिक्के चलाये थे। ऐसा जान पड़ता है किइनका अंत गुप्त काल में हुआ। समुद्रगुप्त से इनका युद्ध हुआ था। मालव तथा क्षुद्रकों का उल्लेख भी शुंग काल में आता है। मालवों ने भी अपने सिक्के जारी किये थे। अन्य गणराज्यों में शिवि, अर्जुनायन, वृष्णि आदि उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त कुछ नये गणतन्त्र राज्यों का उदय भी इस काल में हुआ। उनमें वामरथ तथा शालंकायन उल्लेखनीय है।

गुप्तकाल में गणराज्य—यद्यपि गुप्तकाल में भी कुछ गणराज्य अवशेष थे, जैसे लिच्छवि, जिनके साथ सम्बन्ध स्थापित कर गुप्तों ने अपने साम्राज्य की जड़

जमाई किन्तु फिर भी इन गणराज्यों का अन्त होने लगा। लिच्छिवि लोग नेपाल में जाकर बस गये। छठी शताब्दी के पश्चात् भारत में कोई गणराज्य दृष्टिगोचर नहीं होता। गणराज्य शनैः शनैः महाराजाओं के अधीन हो गये तथा अपने अस्तित्व को सदैव के लिये खो बैठे।

गणराज्यों का पतन—अब प्रश्न उठता है कि गणराज्यों का पतन इतनी शीघ्र क्यों हो गया? इसका सबसे बड़ा कारण उनका अत्यधिक छोटा होना है। छोटे राज्यों को हड़प जाना अत्यन्त आसान होता है। और यही दशा अधिकतर गणराज्यों की हुई। पारस्परिक मतभेद ने भी गणों को दुर्बल बना दिया। राजनीतिज्ञों का विरोधी दलों में विभक्त होना भी इनके पतन का कारण बन गया। मौर्यों की तो यह नीति रही है जो गणराज्य संघात् में सम्मिलित नहीं है उनमें भेद उत्पन्न कर उन्हें निर्बल बनाया जा सकता है। तत्पश्चात् उनका अन्त किया जा सकता है। इससे सभी गणराज्य अपना स्वरूप खो बैठें। इसके अलावा चन्द्रगुप्त मौर्य ने तथा बाद में गुप्त सम्राटों ने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया है। ऐसी अवस्था में गणराज्यों का स्वतन्त्र रूप में जीवित रहना प्रायः असम्भव ही था। जो किसी प्रकार जीवित भी रह पाये थे वे स्वतः विलीन हो गये। लिच्छवि गणराज्य इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

प्रश्न (2) महाभारत और अर्थशास्त्र में गणराज्यों के सम्बन्ध में किये गये उल्लेखों का संक्षिप्त विवेचन कीजिये।

अथवा

प्राचीन भारत में गणराज्यों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उनके गुण-दोषों को बताइये।

वैदिक युग के प्रारम्भ में राजतन्त्र को ही शासन का सर्वोत्तम स्वरूप समझा जाता था। किन्तु वैदिक युग के परवर्ती काल में वर्ग के आधार पर शासन को संगठित करने की प्रवृत्ति बढ़ी। फलस्वरूप गणतन्त्रों का उदय हुआ। ये गण लोगों के संगठन थे, जिनके द्वारा शासन का संचालन किया जाता था। प्राचीन ग्रन्थों में इन गणराज्यों की विशेषताओं का उल्लेख विभिन्न स्थलों पर किया गया है, इनमें महाभारत मुख्य हैं, जिसमें गणराज्यों के गुण-दोषों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। गुण दोषों के इस विवेचन में, डा० जायसवाल के मतानुसार, "कुछ ऐसी बातें भी हैं, जिनमें यह सूचित होता है कि मुख्य-मुख्य बातें अथवा गुण बहुत कुछ प्राचीन या आरम्भिक काल से सम्बन्ध रखते हैं।" अतः गणराज्यों के गुणों व दोषों के विवेचन की दृष्टि से महाभारत के उल्लेख को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है।

महाभारत और गणराज्य—महाभारत काल में जहाँ एक ओर राजतंत्र प्रचलित है, वहाँ दूसरी ओर अनेक गणराज्यों के अस्तित्व का भी उल्लेख मिलता है। इन गणराज्यों ने कभी भी 'एकराज्य' की अधीनता नहीं की। महाभारत में जिन गणराज्यों का उल्लेख किया गया है—उनके नाम हैं—यौधेय, मालव, शिवि, औदुम्बर, अन्धक, वृणि, यादव, कुकर तथा भोज। इनमें अंधक, वृणि, यादव, कुकर तथा भोज ने परस्पर एक संघ का निर्माण कर लिया था।

महाभारत के विवेचन के अनुसार, राजा का अभिप्राय राजनैतिक वर्ग से है।

गणों द्वारा शासन का संचालन तथा नीति का निर्धारण किया जाता था। शासन कार्य के अन्तर्गत 'गण' एक विशिष्ट संख्या होती थी। प्रस्तुत सन्दर्भ में, महाभारत में आया हुआ लेख निम्न प्रकार से है।

युधिष्ठिर ने कहा, "हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ (अब) मैं आपके ग्रन्थों के विषय में जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ। गण किस प्रकार उन्नतिशील होते हैं, किस प्रकार के भेद-नीति से बचे रह सकते हैं (और) हे भारत ! किस प्रकार वे शत्रुओं पर विजय पा सकते हैं तथा किस प्रकार निज सुहृदय अथवा मित्र प्राप्त कर सकते हैं। मेरी समझ में गणों का विनाश पारस्परिक फूट के कारण होता है। मेरी समझ में अनेक के हाथ में मन्त्र का गुप्त रहना कठिन होता है। हे पार्थिव ! मुझे यह बताइये कि वे किस प्रकार स्वयं को भेद या फूट से बचा सकते हैं ? इस सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक जानने की आकांक्षा रखता हूँ।"

भीष्म ने उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा, "हे नराधिप, लोभ तथा क्रोध गणों में एवं कुलों के राजाओं में पारस्परिक द्वेष उत्पन्न करता है। पहले गणों अथवा कुलों में लोभ उत्पन्न होता है तथा उसके अनन्तर अमर्ष आता है, तब इन दोनों के कारण क्षय तथा व्यय होता है। जिससे एक दूसरे का विनाश होता है। फिर वे क्रोध के वशीभूत होकर गुप्तचरों, शक्ति के प्रयोग, धन के प्रदान, साम, दाम, विभेद यथा क्षय, व्यय और भय के उपायों द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध प्रयत्न करते हैं। जो अनेक गण अपना एक संघ बना लेते हैं उनमें इन्हीं उपायों से भेद या फूट पैदा होती है। उनके व्यक्ति परस्पर विभक्त हो जाते हैं तथा अन्त में भय के वश में होकर वे शत्रु के अधीन हो जाते हैं। इस प्रकार फूट पैदा हो जाने के कारण वे अवश्य नाश हो जाते हैं। पृथक्-पृथक् हो जाने के कारण शत्रु सुगमता से उन पर विजय पा लेते हैं। अतः गणों को यह सदा यत्न करना चाहिए कि उनकी संघ शक्ति बनी रहे। संघात् के रूप में संगठित हो जाने पर गणों को अर्थ की प्राप्ति तो होती ही है तथा बाहरी लोग भी संघात् वृत्ति वालों से मैत्री स्थापित करते हैं।"

"उत्तम गणों में सब परस्पर एक-दूसरे की सुश्रूषा करते हैं जिससे ज्ञानीजन उनकी प्रशंसा करते हैं। परस्पर पूर्ण उत्तम रीति से व्यवहार करते रहने के कारण उत्तम गण सब प्रकार का सुख प्राप्त करते हैं। जो उत्तम गण होते हैं, वे शास्त्र द्वारा प्रतिपादित धर्म तथा व्यवहार को स्थापित रखते हैं तथा परस्पर एक-दूसरे के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। गण तभी उन्नति करते हैं जब उनके कृत, नेता निज पुत्रों एवं भ्राताओं को वश में रखें, उनको नियन्त्रण में रखें तथा उन्हें नियन्त्रित करके उनसे काम लें।"

"हे महाबाहु, सदैव निज गुप्तचरों, मंत्र एवं राजकोष का सब कार्य उचित रूप में करते रहने से गण सदा सब प्रकार से उन्नति करते रहते हैं। निज प्राज्ञों, शूरों, महोत्साहियों एवं कर्त्तव्य-पालन में दृढ़ रहने वाले राजपूतों का सदा उचित मान करते रहने से गण उन्नति करते रहते हैं। धनिक, शूर, शास्त्र, शास्त्रपारंगत गण संकटों एवं कष्टों में पड़े हुए असहायों की सहायता करते हैं।"

"क्रोध, भेद, भय, अविश्वास, दंड, कष्पर्ण, दमन तथा वध का उपयोग यदि गणों में किया जाय तो वे शीघ्र शत्रु के वशीभूत हो जाते हैं। अतः गण के गणमुख्यों

का सदा सम्मान होना चाहिये; उनकी आज्ञा का पालन होना चाहिए हे राजन् ! लोक यात्रा अथवा समाज के संचालन का अधिकार प्रधान तथा उन्हीं के हाथ में रहना चाहिये । हे शत्रुओं का दमन करने वाले ! मंत्र गुप्ति अथवा राजकीय मंतव्यों को गुप्त रहने का कार्य गणों के प्रधानों के हाथ में रहना चाहिये । हे भारत, यह उचित नहीं है कि सारे गण के सामने मंत्र को उपस्थित किया जाय । गण मुख्य एकत्र होकर गणों के हित के कार्य करें ।''

''जो गण दूसरे गणों से पृथक् रहता है, गणों के संघात को पृथक् कर लेता है अथवा अन्य गणों के साथ उचित व्यवहार नहीं करता, उसकी गति इससे भिन्न हुआ करती है, जब वे एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं तथा निज व्यक्तिगत शक्ति पर निर्भर करते हैं तब उनका वैभव नष्ट हो जाता है तथा अनर्थ होने लगता है ।''

''मारपीट, लूटपाट आदि के वादों का न्याय गण के प्रधान के द्वारा पण्डित के हाथों तथा उचित प्रकार से होना चाहिये । यदि कुलों में कलह पैदा हो तथा कुल वृद्ध उसकी उपेक्षा करें तो वे गोत्र का नाश करते हैं और गण का भी नाश करते हैं ।''

'गणों के लिये आन्तरिक भय ही विनाशकारी है, बाह्य भय तो निःसार है । क्योंकि हे राजन, आन्तरिक भय ही उसकी जड़ों वाला होता है । जब (किसी गण के सदस्य) अचानक पैदा हो जाने वाले क्रोध, मोह अथवा स्वभावतः पैदा होने वाले लोभ के आन्तरिक भय के कारण परस्पर बातचीत या वाद-विवाद करना छोड़ दें तो इसे पराभव या लक्षण समझना चाहिये ।''

''जाति एवं कुल की दृष्टि से भी लोग समान हैं । उन लोगों में उद्योग, बुद्धि अथवा रूप के लोभ से अन्तर नहीं उत्पन्न किया जा सकता है । हाँ, शत्रु लोग भेद तथा धन के प्रभाव के द्वारा ही भेद-भाव पैदा कर सकते हैं । अतः संघात ही एक ऐसा उपाय है जिससे गणों की रक्षा हो सकती है ।''

प्रमुख तथ्य—गणों के बारे में महाभारत के उपर्युक्त विवेचन द्वारा निम्नलिखित बातों पर प्रकाश पड़ता है ।

(1) **कुलों का महत्व**—गणों के शासन में कुलों का महत्व होता था जो कि केवल जाति की दृष्टि से समान होते थे, यद्यपि उनमें शक्ति, बुद्धि तथा धन की असमानता होती थी, किन्तु शासन में उनकी समान स्थिति होती थी । इसी कारण धन आदि का लोभ देकर उनमें फूट डाली जा सकती थी ।

(2) **मंत्रणा की कठिनाई**—गण के सदस्यों की संख्या काफी होती थी । अतः मन्तव्यों को गुप्त रखना असम्भव होता था ।

(3) **संघ रचना**—अनेक गण मिलकर अपना एक संघ बनाते थे ।

(4) **ज्ञान चर्चा**—विद्या की भी चर्चा गण में होती थी ।

उन्नति के उपाय—महाभारत में निम्नलिखित बातें गण की रक्षा एवं उन्नति के लिये आवश्यक मानी गयी हैं ।

(1) शास्त्र-सम्मत धर्म-पूर्ण व्यवहार का पालन होना चाहिये । पुत्रों एवं भ्राताओं को मर्यादित रहना चाहिये तथा सदैव विनयी बनाने की शिक्षा दी जानी चाहिये ।

(2) गणों में गुप्तचरों, मन्त्र तथा राजकोष का कार्य ठीक तरह से सम्पन्न होना चाहिये।

(3) प्राज्ञों, शूरों, महोत्साहियों तथा कर्त्तव्य के पालन में दृढ़ रहने वाले राज पुरुषों का सदा उचित मान किया जाना चाहिए।

(4) गण के प्रधान द्वारा गणराज्यों या गण के भले लोगों को आज्ञा का पालन होना चाहिये तथा उनका उचित सम्मान होना चाहिये। गण की उन्नति एवं रक्षा उन्हीं पर निर्भर करती है।

(5) राजकीय मन्तव्यों को गुप्त रखना चाहिये। इन मंतव्यों को समस्त गणों के सामने उपस्थित न किया जाना चाहिये।

(6) गणों के प्रमुखों को एकत्र होकर गणों के हित का कार्य करना चाहिये।

(7) गणों में फूट को न आने देना चाहिए क्योंकि इससे गण शक्तिहीन हो जाता है और शीघ्र ही शत्रु के वश में हो जाता है। अतः गण को फूट से बचाये रखना चाहिए।

(8) गणों को आन्तरिक भयों से अपनी रक्षा करनी चाहिये।

(9) गणों में निग्रह या फौजदारी मुकदमों का निर्णय, गण के प्रधान के द्वारा धर्मशास्त्र के पन्डितों के हाथों उचित प्रकार से होना चाहिये।

(10) गणों के संघ बनाकर रहना चाहिये। महाभारत में कहा गया है कि—"तस्मात् संघात में वाहुर्गणानां शरणं महत्"। अर्थात् गणों की सबसे अधिक रक्षा संघात् में ही समझी जाती है।

गणराज्यों के गुण—महाभारत के उपर्युक्त विवरण के अनुसार, गणों के गुणों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) **परस्पर सेवा**—गणों में परस्पर सब एक दूसरे की सुश्रुषा करते थे। परस्पर एक-दूसरे के साथ उत्तम रीति से व्यवहार करते थे।

(2) **आवश्यक नियन्त्रण** गणों में कुल-वृद्ध अपने भाइयों तथा पुत्र पर नियंत्रण रखते थे, तथा उन्हें विजयी बनने की शिक्षा देते थे।

(3) **उत्तम न्याय-व्यवस्था**—गणों की न्याय-व्यवस्था तथा शासन की प्रशंसा सभी यूनानी लेखकों ने की है। फौजदारी मुकदमों का न्याय, गण के प्रधान द्वारा पंडितों के हाथों में होता था।

(4) **समानता**—गणों में समानता के सिद्धांत का अनुसरण किया जाता था। जाति तथा कुल की दृष्टि से सब लोग समान समझे जाते थे।

(5) **पर्याप्त कोष**—गणों के कोष धन से सदैव परिपूर्ण रहा करते थे।

(6) **उत्तम सैनिक व्यवस्था**—गणों की सैनिक व्यवस्था का वर्णन करते हुये डॉ० जायसवाल ने उल्लेख किया है, 'गणों के राजनैतिक बल का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि गण के सभी लोग सैनिक और योद्धा हुआ करते थे। उनका समस्त समाज या समस्त नागरिक सैनिक होते थे। उनमें नागरिकों की ही सेनाएँ हुआ करती थीं, और इसीलिए वह राजाओं की किराये पर भरती की हुई सेनाओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ होती थीं। जब कुछ गण किसी पर आक्रमण करने के लिए अथवा किसी के आक्रमण

से अपनी रक्षा करने के लिए अपना एक संघ बना लेते थे तो उस दिशा में वे अजेय हो जाते थे ।''

(7) **सर्वांगीण विकास**—गण के लोग केवल राजनीति में ही रुचि नहीं रखते थे, वरन् व्यापार तथा कृषि में भी ध्यान रखते थे। उनमें ''सन्धि की विद्या और युद्ध की विद्या सुव्यवस्था या शांति और अध्यवसाय, शासन करने का अभ्यास और युद्ध की विद्या सुव्यवस्था या शांति और अध्यवसाय, शासन करने का अभ्यास तथा शासित होने का अभ्यास, विचार तथा कार्य, घर और राज्य सभी बातें बराबर-बराबर और साथ चलती थीं । इस प्रकार का जीवन-निर्वाह करने का परिणाम यही होता होगा कि सब लोग व्यक्तिशः और नागरिक दृष्टि से उच्चकोटि के कर्मशील और दक्ष हुआ करते थे । जिनमें इतने गुण और विशेषताएँ हों, यदि उनके सम्बन्ध में महाभारत में यह कहा गया हो कि लोग उनके साथ मित्रता करने और उन्हें अपने पक्ष में मिलाने के लिये उत्सुक रहा करते थे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।''

गणराज्यों के दोष—महाभारत के अनुसार गण जहाँ उपर्युक्त गुणों की दृष्टि से विख्यात थे, वहाँ दूसरी ओर गणों में अनेक आन्तरिक दोष भी विद्यमान थे । वस्तुतः गणराज्यों की समाप्ति में, इन दोषों का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व होता था । गुणों के इन दोषों को निम्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) **लोभ**—धन, शक्ति, बुद्धि की विषमता होने के कारण भी एक गण में सबका स्थान समान होता था । इस कारण धन आदि का लोभ देकर शत्रु आसानी से उसमें भेद-भाव या फूट पैदा कर सकता था ।

(2) **पारस्परिक फूट**—अक्सर क्रोध, लोभ, मोह आदि से फूट उत्पन्न कर गणों को शक्तिहीन बना दिया जाता था । यह गणों की सबसे बड़ी दुर्बलता थी । अजातशत्रु ने वृज्जिगण पर इसी के परिणामस्वरूप विजय पायी थी ।

(3) **सीमित आकार**—गणों का तीसरा दोष अथवा कमजोरी उनका अत्यधिक छोटा होना था । बड़े-बड़े राज्य उनको बड़ी आसानी से हड़प सकते थे ।

(4) **षड्यन्त्र**—षड्यन्त्र द्वारा भी गणराज्य नष्ट हो जाया करते थे । यह भी उनका एक दोष था ।

(5) **सदस्यों की अधिक संख्या**—गणों के अन्तर्गत कार्य समितियों में सदस्यों की संख्या अधिक होती थी, फलस्वरूप शासन सम्बन्धी गोपनीयता को बनाये रखने में कठिनाई होती थी । महाभारत के कर्त्ता की सम्मति में यह गण शासन-प्रणाली का महत्वपूर्ण दोष था ।

सारांश में हम कह सकते हैं, ''हिन्दू प्रजातन्त्र राजनीति की दुर्बलताएँ यह थीं कि गणराज्य छोटे-छोटे हुआ करते थे तथा उनकी प्रवृत्ति भी छोटे ही होने की ओर होती थी । उनके राजनीतिज्ञों और राज्य संचालकों में परस्पर ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्विता पैदा हो जाती थी और सब लोगों को सबके सामने सब कुछ कहने का अधिकार होता था ।

गणराज्यों पर कौटिल्य का दृष्टिकोण—यद्यपि कौटिल्य राजतंत्रात्मक शासन का समर्थक था फिर भी उसने अर्थशास्त्र में गणराज्यों का उल्लेख किया है, लेकिन इन गणराज्यों के प्रति उसका व्यवहार उपेक्षा का ही रहा है । उस समय भारत में अनेक

गणराज्य थे जिनमें प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था प्रचलित थी। इसका उल्लेख मेगस्थनीज ने भी अपनी पुस्तक "इण्डिका" में किया है।

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने वैराज्य का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार द्वैराज्य यथा वैराज्य जल्दी नष्ट हो जाता है क्योंकि एक ही राज्य में दो राजाओं के होने से उन दोनों में पारस्परिक राग द्वेष तथा संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। प्रजा द्वैराज्य शीघ्र नष्ट हो जाता है। वैराज्य प्रजा के चित्त के अनुकूल होता है जिससे स्वयं शासन करती है। अतः यह स्थायी होता है। वैराज्य का अभिप्राय लोकतंत्रात्मक राज्य से ही है।

द्वैराज्य तथा वैराज्य पर वैराज्य बाह्य शत्रुओं द्वारा सरलता से विजय प्राप्त की जा सकती थी। प्रजातन्त्रात्मक स्वरूप होने के कारण विजेता शासक उसे अपना राज्य नहीं समझता था क्योंकि राजतन्त्रात्मक तथा प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। इसी कारण विजेता राजा उसे क्षीण कर देता था।

कौटिल्य द्वारा वर्णित संघ नीति का लोकतन्त्रात्मक राज्यों से घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिये सैन्यबल तथा मित्र बल अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु इन दोनों की तुलना में कौटिल्य संघ बल को अधिक महत्व प्रदान करता है। कौटिल्य का मत है कि संघात् में संगठित होने वाले राज्य स्थायी होते हैं, उन पर शत्रु द्वारा विजय प्राप्त नहीं की जा सकती है। इसी का उल्लेख महाभारत में किया गया है कि गणों की सबसे अधिक रक्षा संघात् में ही समझी जाती है। संघ में भेद उत्पन्न होने की दशा में दण्ड तथा भेद की नीति का आश्रय लेना चाहिये।

कौटिल्य ने कुछ ऐसे छोटे-छोटे गणतन्त्र राज्यों की ओर संकेत किया है जो कि अपनी सुरक्षा के लिये सम्बद्ध हो गये थे। कतिपय ऐसे संघ भी थे जिनमें वे गण राज्य सम्मिलित थे, जिनकी प्रजा कृषि, व्यापार तथा शास्त्रों द्वारा जीविका उपार्जन करते थे।

कौटिल्य ने अपने "अर्थशास्त्र" में संघों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है—(1) शास्त्रोपजीवी संघ, (2) राजशब्दोपजीवी संघ। इनमें प्रथम प्रकार के संघों के शासक राजा की उपाधि धारण करते थे। दूसरे प्रकार के संघों के शासकों में राजा की उपाधि धारण करने का प्रचलन नहीं था। प्रथम प्रकार के संघ जिनके शासक राजा की उपाधि धारण करते थे, उनमें कौटिल्य ने निम्नलिखित का उल्लेख किया है—

(1) लिच्छविक, (2) वृज्जिक, (3) मल्लक, (4) मुद्रक, (5) कुकुर, (6) कुरु, (7) पांचाल इत्यादि।

उपर्युक्त संघों के अतिरिक्त, जिन संघों के शासक राजा की उपाधि धारण नहीं करते थे, उनमें नामों का उल्लेख कौटिल्य ने निम्न प्रकार किया है—

(1) काम्बोज, (2) सुराष्ट्र, (3) छत्रिये, (4) श्रेणी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के रचनाकाल तक दो प्रकार के संघों का अस्तित्व था। प्रथम प्रकार के संघों के शासक राजा की उपाधि को धारण करने का कोई नियम प्रचलित नहीं था। इस प्रकार के संघों में युद्ध विद्या में निपुणता प्राप्त करना नागरिकों का कर्तव्य माना जाता था। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के

संघों में शिल्प तथा कृषि की ओर भी ध्यान दिया जाता था। फलस्वरूप इन संघों के नागरिक अधिक धनवान और सम्पन्न होते थे।

प्रश्न (3) भगवान् बुद्ध के समय में पूर्वोत्तर भारत के प्रजातांत्रिक राज्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिये।

बुद्ध के समय में प्रजातन्त्र राज्यों का वर्णन कीजिये।

प्राचीन भारत में गणराज्यों के विधान का वर्णन कीजिये।

बौद्ध-कालीन प्रजातन्त्रों के विधान और शासन के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

छठी शताब्दी से भारत के इतिहास में एक बड़ा परिवर्तन होना शुरू हुआ। इस काल में दो बड़े धर्मों का उदय हुआ—वे थे, बौद्ध तथा जैन। इनका अपना एक विशाल साहित्य था, जिनमें यद्यपि-धर्म सम्बन्धी अधिक बातें थीं फिर भी उनमें हमें अन्य विषयों के बारे में सूचना प्राप्त होती है। इस काल के साहित्य से हम एक क्रम-बद्ध इतिहास निर्माण कर सकते हैं। ऐतिहासिक तथ्यों को एकत्र करने के लिये जिन साधनों का अभाव था उनकी पूर्ति बौद्ध साहित्य द्वारा की गयी है। साहित्य से ही हमें कतिपय अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं। तत्कालीन राजनीतिक दशा का भी उल्लेख इसी साहित्य के आधार पर किया जा सकता है।

बौद्ध साहित्य में गणराज्यों का उल्लेख

महात्मा बुद्ध का जन्म एक ऐसे जनपद में हुआ था जहाँ प्रजातान्त्रिक शासन पद्धति प्रचलित थी। अतः यह सम्भव है कि जिन प्रजातन्त्रों ने बौद्ध साहित्य का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया, वे वही प्रजातन्त्र थे जिनके बीच महात्मा बुद्ध ने अपना जीवन व्यतीत किया। बौद्ध साहित्य में दो प्रकार के राज्यों का उल्लेख किया गया है—राजतन्त्र तथा गणतन्त्र। स्थान-स्थान पर सोलह महाजनपदों का उल्लेख बौद्ध साहित्य में किया गया है, जिनमें कुछ राजतंत्र थे तथा कुछ गणतंत्र थे। गणतंत्र राज्यों में निम्नलिखित राज्यों का उल्लेख किया जा सकता है।

(1) **कपिलवस्तु के शाक्य**—शाक्य गणराज्य में अनेक राज्य सम्मिलित थे। इनकी राजधानी कपिलवस्तु थी जो गोरखपुर जिले में है। इस गणराज्य का बौद्ध साहित्य में अपूर्व महत्व इस कारण है कि यह महात्मा बुद्ध की जन्मभूमि थी। शाक्य लोग क्षत्रिय जाति के थे। इसका सम्बन्ध इक्ष्वाकु वंश से था। शाक्य गणराज्य के अन्य नगरों का उल्लेख भी बौद्ध साहित्य में मिलता है, जिनमें से निम्नलिखित का उल्लेख किया जा सकता है—सक्वर, सीलावती, खोमदुस्स, उलुम्पा, देवनह आदि।

यहाँ प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का प्रचलन था जिसमें राज्य के प्रधान का राजा के नाम से सम्बोधित किया जाता था। वह निर्वाचित होता था। शुद्धोधन राजपद के लिये निर्वाचित किये गये थे।

शासन संचालन के हेतु एक सभा या काउंसिल होती थी जिसमें 500 तक सदस्य हुआ करते थे। इस सभा का अधिवेशन कपिलवस्तु से होता था। कपिलवस्तु के सभा भवन का उल्लेख अनेक स्थानों पर आया था ' ऐसे सभा भवन अन्य शाक्य नगरों में भी विद्यमान थे। जहाँ पर प्रजा अपने स्थानीय नियमों की व्यवस्था करती थी। रार्कहिल ने एक अत्यन्त रोचक नियम का उल्लेख किया है कि प्रत्येक शाक्य

नागरिक केवल एक ही विवाह कर सकता था। काफी समय तक गणतन्त्र एक अत्यंत सम्पन्न राज्य था किन्तु आगे चलकर इसकी स्वाधीनता का विड्डभ ने अन्त कर दिया।

शाक्य तथा अन्य गणतन्त्रों की शासन-व्यवस्था के विषय में रीज डेविड्स लिखते हैं, "पदाधिकारियों के रूप ने एक मुखिया निर्वाचित होता था। यह हम नहीं जानते कि उसका चुनाव किस प्रकार होता था तथा कितने दिनों के लिये होता था? वही प्रधान सब अधिवेशनों का सभापति होता था, जिस समय अधिवेशन नहीं होते थे उस समय वह राज्य संचालन का सब कार्य करता था। वह राजा की उपाधि धारण करता था जो सम्भवतः रोमन के कौंसल अथवा यूनान के आरकन के रूप में होता होगा।"

(2) **राजग्राम के कोलिय**—यह एक अत्यन्त छोटा गणराज्य था जिसके विषय में बहुत अधिक सामग्री प्राप्त नहीं होती है। इसका क्षेत्र आजक की तहसील से बड़ा नहीं था।

(3) **लिच्छवि गणराज्य**—लिच्छवियों का महत्व जैन तीर्थंकर महावीर के कारण बढ़ गया। महावीर का जन्म वैशाली में हुआ था।

लिच्छवियों की राजधानी वैशाली थी जो आजकल बसाढ़ के नाम से संबोधित की जाती है। इसका संस्थापक इक्ष्वाकु का पुत्र विशाल माना जाता है जिसके कारण इसक नामकरण वैशाली हुआ। वैशाली एक अत्यन्त सम्पन्न नगर था। "वैशाली तीन भागों में बँटी थी। पहले भाग में सात हजार मकान थे, जिनके बुर्ज स्वर्ण से मढ़े हुए द्वितीय भाग में चौदह हजार घर थे, जिनके बुर्ज रजत निर्मित थे। तीसरे भाग में इक्कीस हजार घर थे, जिनके बुर्ज ताँबे द्वारा निर्मित थे।"

सम्भवतः यह विभाजन आर्थिक आधार पर किया गया था। सोने के मीनारों वाले मकानों में उच्च वर्ग के लोग रहा करते होंगे, दूसरे वर्ग अर्थात् जिनमें चाँदी के बुर्ज थे, मध्य वर्ग के लोग रहा करते होंगे। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि वास्तव में वैशाली एक अत्यन्त धन-सम्पन्न तथा समृद्धिशाली नगर था। यह वज्जि राज्यसंघ की राजधानी भी थी।

शाक्यों की तरह यहाँ भी प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली थी। जातक में इसके शासकों को "गणराज्य कुलानाम्" अर्थात् गण शासक कहा गया है। शासन की सर्वोच्च सत्ता एक केन्द्रीय समिति के हाथ में थी जिसकी सदस्य संख्या 7707 थी यह सदस्य संख्या यूनान की एथेनियन असेम्बली की तुलना में बहुत कम थी। इस समय एक असेम्वली में 42,000 सदस्य हुआ करते थे। लिच्छवि समिति की सभाओं में सब सदस्यों को भाग लेने का अधिकार था, किन्तु संभवतः दस प्रतिशत से अधिक सदस्य इन बैठकों में भाग नहीं लेते थे। समिति का अधिवेशन सभा भवन में होता था। उपस्थित सदस्य परस्पर वाद-विवाद करते थे। इन वाद-विवादों का विषय राजनीतिक, सैनिक तथा व्यापार से सम्बन्धित होता था। इन सदस्यों को समान अधिकार थे। ललित विस्तार में एक स्थान पर कहा गया है कि सब लोग अपने को राजा समझते थे। डॉ० जायसवाल के अनुसार, "इससे स्पष्टतः यही सिद्ध होता है कि उनकी राज-सभाओं में या काउन्सिलों में सभी लोगों को बोलने तथा मत देने का समान रूप से अधिकार

प्राप्त था और प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता था कि अबकी बार मैं राजा हो जाऊँ।''

बौद्ध ग्रन्थों में चार उच्चतम अधिकारियों के नामों का उल्लेख किया है—राजा, उपराजा, सेनापति तथा भांडागारिक। इन्हीं के द्वारा सम्भवतः लिच्छवियों की समिति निर्मित हुई थी।

एक शासनाधिकारी का उल्लेख भी बौद्ध साहित्य में आया है और वह है, नायक जिसका निर्वाचन होता था। ''सम्भव है, कि यह नायक ही लिच्छवि राजाओं में प्रधान व राष्ट्रपति का कार्य करता हो, सम्भवतः इसका कार्य लिच्छवि राजसभा के नियमों को क्रिया में परिणित करना होता था।''

न्याय का सर्वप्रथम राजा होता था। इसके अतिरिक्त न्याय विभाग में निम्नलिखित कर्मचारी होते थे—मंत्री विनिच्चय महामात्य, वोहारिक, सुत्तधर, अट्ठकुलक। इसके अतिरिक्त सेनापति तथा उपराजा न्याय विभाग से सम्बन्ध रखते थे। मन्त्री किसी अन्य देश का भी हो सकता था तथा उसे वेतन भी मिलता था। उपर्युक्त कर्मचारियों के निश्चित अधिकार थे किन्तु जिस अपराधी के विषय में यह निश्चित हो जाय कि उसने अपराध नहीं किया है तो उसे छोड़ देने का अधिकार उपर्युक्त सभी कर्मचारियों को था। फैसलों का पूरा लेखा सुरक्षित रखा जाता था।

न्यायालयों की अत्यन्त संगठित व्यवस्था थी। ''न्यायाधीशों (विनिश्चय महामात्त) का एक स्वतन्त्र न्यायालय होता था, जिसमें मुकदमों की आरम्भिक जाँच की जा सकती थी और सम्भवतः इन्हीं में दीवानी तथा साधारण फौजदारी मुकदमों की सुनवाई भी हुआ करती थी। जिस न्यायालय में अपील हुआ करती थी, उसमें के न्यायाकर्त्ता (बोहारिक) व्यावहारिक, व्यवहार या कानून के ज्ञाता हुआ करते थे। सर्वप्रधान न्यायालय अथवा हाईकोर्ट के न्यायाधीश सूत्रधर कहलाते थे। जिसका अर्थ है व्यवहारशास्त्र के आचार्य। इन सबके ऊपर एक और काउन्सिल हुआ करता थी जो अष्टकुलक कहलाती थी और जिसमें आठ न्यायकर्त्ता हुआ करते थे, और इनमें से प्रत्येक को इस बात का अधिकार था कि वह किसी नागरिक को निरपराध ठहराकर छोड़ दे।

लिच्छवियों ने अनेक राज्यों के साथ संयुक्त संघात् बनाये थे। उनका एक संयुक्त संघात् मल्लों के साथ भी लिच्छवियों ने बनाया था। लिच्छवियों का गुप्त सम्राटों से भी सम्बन्ध स्थापित हुआ।

(4) **विदेह गणराज्य**—विदेह राज्य अत्यन्त प्राचीन राज्य था, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराणों आदि में किया गया है। बौद्ध राज्यों में भी इसका उल्लेख किया गया है। विदेहों की राजधानी मिथिला थी, जो कि एक अत्यन्त प्रसिद्ध नगरी थी।

विदेह पहले राजतंत्रात्मक राज्य था। किन्तु बौद्ध युग में यहाँ प्रजातंत्रात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना हुई इन्होंने लिच्छवियों से मिलकर एक संघात् का निर्माण किया जो कि मिलकर 'सवज्जी' कहलाये।

वज्जि संघ में कुल आठ गण सम्मिलित थे। उनमें से लिच्छवि, विदेह तथा जातक उल्लेखनीय हैं।

(5) **मल्ल गणराज्य-मल्ल राज्य दो भागों में विभक्त था**—कुशीनारा का

मल्ल राज्य तथा पावा का मल्ल राज्य एक राज्य की राजधानी कुशीनारा थी तथा दूसरे की पावा। बौद्ध साहित्य में इसकी गणना महाजनपदों में की गयी है। लिच्छवियों के साथ इन्होंने एक लीग बनायी थी। ई० पू० 500 में मल्ल पर मगध का अधिकार हो गया।

मल्ल गणराज्य का उल्लेख यूनानी लेखकों ने मल्लोई के नाम से किया है। कौटिल्य ने इसकी गणना राज्य शब्दोपजीवी संघ के अन्तर्गत की है। यह राज्य अत्यंत निश्चित था जोकि गोरखपुर [पावा] से पटना तक फैला हुआ था।

(6) **पिप्लीवन के मोरिय**—यह एक छोटा गणराज्य था जिसका क्षेत्रफल आधुनिक तहसीलों से बड़ा न था।

(7) **अल्लकप्प के बुली**—यह कुशीनारा के समीप स्थित था। इसका बौद्ध साहित्य में विशेष उल्लेख नहीं है।

(8) **सुँगुमार पर्वत के भाग**—कौशाम्बी के वत्सों के राज्य के निकट ये लोग बसे थे।

(9) केसपुत्त के कालाम।

हम सारांश में कह सकते हैं कि उपर्युक्त गणराज्यों में भाग, बुला कौटिल्य, और मोरिया राज्य तो आधुनिक तहसीलों से बड़े न थे। शाक्य, मल्ल, लिच्छवि और विदेह राज्य कुछ बड़े थे, पर सब मिलाकर भी इनका विस्तार लम्बाई में 200 और चौड़ाई में 100 मील से अधिक न था। पश्चिम में गोरखपुर के पूर्व में दरभंगा तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में गंगा तक इन गणराज्यों का विस्तार था।

प्रजातन्त्रों का विधान और शासन—बौद्ध साहित्य में लिखे हुये प्रजातन्त्रों का वर्णन करने के उपरान्त यह आवश्यक हो जाता है कि हिन्दू प्रजातन्त्रों की शासन-प्रणाली या हिन्दू गणराज्यों की कार्य-विधि का विवेचन किया जाय। इस विषय में हमें बौद्धों के धार्मिक संघ से बहुत सामग्री प्राप्त होती है। महात्मा बुद्ध ने अपने धार्मिक संघ में उन्हीं राजनीतिक संघ की कार्य-विधि को विशेषकर दृष्टि में रखकर तत्कालीन गणराज्यों की शासन-व्यवस्था का उल्लेख कर सकते हैं।

इसके पूर्व कि हम बौद्ध संघ की कार्य-विधि का उल्लेख करें, प्रशासन संबन्धी उन तथ्यों का उल्लेख करना आवश्यक है जिनकी सूचना हमें अन्य सूत्रों से प्राप्त होती है। अतः इन विभिन्न सूत्रों को संकलित कर, गणराज्यों की शासन-व्यवस्था का वर्णन किया जा सकता है। गणराज्यों की शासन-व्यवस्था के विवरण को हम निम्न प्रकरणों में विभक्त कर सकते हैं।

केन्द्रीय समिति—गणराज्यों में शासन की सर्वोच्च सत्ता एक केन्द्रीय समिति होती थी जिसकी सदस्य संख्या भिन्न-भिन्न गणों में पृथक्-पृथक् होती थी। लिच्छवियों की समिति में 7707 सदस्य थे तथा यौधेयों की समिति-सदस्य संख्या 5000 थी। समिति का अधिवेशन संघागार में होता था। लिच्छवि केन्द्रीय समिति के 7707 सदस्य 'राजा' कहलाते थे। इनके अतिरिक्त उपराजा, सेनापति, भण्डागारिक आदि अधिकारियों का उल्लेख भी आया है। लिच्छवि लोग अपने संघागार में प्रवेश करते थे, उस समय वहाँ घड़ियाल बजाया जाता था। उपर्युक्त सदस्यों में से कुछ ही लोग संघागार में उपस्थित होते थे। ये अपने समय के अत्यन्त धनिक लोग हुआ करते थे।

केन्द्रीय समिति मन्त्रिमण्डल के सदस्यों तथा सेनानायकों का निर्वाचन करती थी। विदेशी नीति का निर्धारण भी इसी के हाथों में रहता था। संकटकालीन राजदूत साधारणतः समिति के प्रमुख सदस्य ही हुआ करते थे। इसका उल्लेख एक स्थान पर मेकिडल ने किया है। क्षुद्रकों ने अपनी केन्द्रीय समिति के प्रमुख 150 सदस्य दूत बनाकर सिकन्दर के पास भेजे थे।

मन्त्रि-मण्डल—गणराज्यों के मंत्रिमंडल के सदस्यों की कोई निश्चित संख्या नहीं थी। लिच्छवियों के मंत्रिमंडल में नौ सदस्य, थे, मल्लों की मंत्रि-परिषद् में चार, मंत्री थे, लिच्छवि विदेह राजसंघ की मंत्रि-परिषद् में अट्ठारह सदस्य थे। सारांश में कहा जा सकता है कि गणराज्यों के मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या चार सौ बीस के बीच होती थी। इन मंत्रियों का निर्वाचन केन्द्रीय समिति द्वारा होता था।

गणराज्य में स्वायत्त शासन को भी महत्व दिया जाता रहा होगा। नगरों की स्वायत्त परिषदों का उल्लेख मिलता है।

ज्ञप्ति—विचारार्थ विषय संघ में प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। इसकी सूचना पहले से ही दी जाती थी। इसको 'ज्ञप्ति' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। प्रस्ताव पर फिर से वाद-विवाद होता था। प्रस्ताव, जिसे बौद्ध ग्रन्थों' में प्रतिज्ञा' कहा गया है, के पक्ष में रहने वाले सदस्य शांत रहते थे तथा प्रस्ताव के विरोधी अपनी असहमति प्रकट करते थे। प्रस्ताव तीन बार उपस्थित एवं स्वीकृत किया जाता था जब प्रस्ताव पर विरोध होता था तो उस पर मत लिया जाता था तथा समस्त निर्णय बहुमत मतों द्वारा होते थे। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। राजगृह की महासभा को सम्बोधित करते हुये आयुष्मान महाकश्यप ने कहा 'भिक्षुओं, संघ मेरी बात सुनो। यदि संघ को पसन्द हो, तो संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं को राज गृह में वर्णावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करे। इस काल में अन्य भिक्षु लोग राजगृह में न जाये। यह ज्ञाप्ति (सूचना) है।''

शिक्षों, संघ मेरी बात सुनो। यदि संघ को पसन्द हो तो संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं की राजगृह में वर्णावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करें। इस काल में अन्य भिक्षु लोग राजगृह में न जाये। जिस आयुष्मान् को पाँच सौ भिक्षुओं का राजगृह में वर्णावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करना और इस काल में अन्य भिक्षुओं को राजगृह में न आना पसन्द हो वह चुप रहे। जिसको पसन्द न हो, वह बोले।'' यह वाक्य दो बार दुहराया गया। फिर महाकश्यप बोले, संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्सावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करने तथा इस काल में अन्य भिक्षुओं के राजगृह में न जाने के प्रस्ताव से सहमत हैं। संघ को यह पसन्द है। इसलिये संघ के व्यक्ति चुप हैं।

उपर्युक्त उद्धरण से पता चलता है कि प्रस्ताव के पक्ष वाले सदस्य चुप रहते थे तथा उसके विपक्ष वाले सदस्य आपत्ति प्रस्तुत करते थे। इस उदाहरण में समस्त संघ चुप रहा। अतः प्रस्ताव सबको मान्य समझा गया। परन्तु ऐसा गणराज्य की समितियों में न होता होगा। वहाँ तो दोनों में वाद-विवाह होते होंगे। प्रस्ताव बहुमत द्वारा स्वीकृत होगा। शाक्यों की राजधानी पर कोशल नरेश ने जब आक्रमण किया तब

आत्म-समर्पण के प्रश्न पर मतभेद हो गया। कुछ आत्म-समर्पण के पक्ष में थे और कुछ विपक्ष में थे। इसके लिये मत संग्रह किया गया। बहुमत आत्म-समर्पण के पक्ष में था। अतः आत्म-समर्पण कर दिया गया।

मतदान की प्रथा—वोट या मतदान के लिये बौद्ध ग्रन्थों में "छन्द" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ होता है "स्वतन्त्रता" अर्थात् मतदाता के विषय में स्वतन्त्र रहता था। अनुपस्थित लोगों का मत एकत्र कर लिया जाता था और यदि यह कार्य न होता तो कार्यवाही भी ठीक नहीं समझी जाती थी। किन्तु उपस्थित लोगों की आपत्ति पर इस प्रकार एकत्र किये छन्द अस्वीकृत कर दिये जाते थे। मतदान के निम्नलिखित रूप थे—गुहम्क, सकर्णजपक तथा विवतक।

शलाका तथा शलाकाग्राहक—वोट के टिकटों को शलाका कहा जाता था जो कि प्रत्येक को दी जाती थी तथा अनेक रंग की होती थीं। यह लकड़ी की बनी होती थी। वोट लेने तथा एकत्र करने के लिये एक कर्मचारी होता था जिसे शलाकाग्राहक कहा जाता था। शलाकाग्राहक में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक बताया गया है।

(1) उसे पक्षपात रहित होना चाहिए।
(2) उसके मन में किसी प्रकार का द्वेष न होना चाहिये।
(3) जो किसी प्रकार की मूर्खता न करे।
(4) जिसमें किसी का भय न हो अर्थात् जो किसी से न डरे।
(5) जो यह जाने कि कौन से छन्द लिये गये तथा कौन से नहीं लिये गये ?

चुल्लवग्ग में शलाकाग्राहक की नियुक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्धति का उल्लेख किया गया है—

"प्रथम उस भिक्षु से विनय को जायगी (कि आप शलाकाग्राहक का पद ग्रहण करना चाहते हैं अथवा नहीं) तब कोई योग्य एवं विचारशील भिक्षु इस विषय को संघ के सम्मुख यह कह कर रखेगा—आदरणीय संघ सुने। यदि संघ को समय प्राप्त हो तो संघ नाम के भिक्षु को शलाकाग्राहक नियुक्त करे।" उपर्युक्त उद्धरण से प्रकट होता है कि पहले शलाकाग्राहक पद के हेतु प्रस्तावित नाम के भिक्षु से यह पूछा जाता था कि इस पद को ग्रहण करेगा या नहीं। इसके पश्चात् कोई योग्य तथा विचारशील भिक्षु उस नाम को संघ की स्वीकृति के लिये संघ के सम्मुख रखता था।

उद्वाहिक—ऐसे विवादों के संबन्ध में जिन पर निर्णय सम्भव नहीं हो पाया था, एक उपसमिति का निर्माण किया जाता था जिसे उदवाहिक' कहा गया है। यही समिति विवादग्रस्त विषयों का निपटारा,करती थी।

आसन की व्यवस्था—संघ में उपस्थित होने का अधिकार रखने वाले सदस्यों के लिये पृथक् आसनों की व्यवस्था की जाती थी। इसके लिये एक विशेष कर्मचारी होता था जिसे" आसन प्रज्ञापक" के नाम से सम्बोधित किया जाता था। चुल्लबग्ग में अजित नामक आसन प्रज्ञापक का उल्लेख आया है।

सम्भवतः गणप्रमुख मंच पर बैठता होगा तथा अन्य सदस्य उसके सामने बैठते होंगे। गणप्रमुख ही अधिवेशन का अध्यक्ष होता था तथा उसी के नियन्त्रण में सब कार्यवाही की जाती थी।

गणपूरक अथवा कोरम--गणपूरक के नियम का दृढ़ता से पालन किया जाता था

इसका उल्लेख करते हुए डॉ० जायसवाल ने बतलाया है कि, सदस्यों में एक सदस्य पर इस बात का भार होता था कि वह कम-से-कम उतने सदस्यों को उपस्थित करने का उद्योग करें, जितने सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक होती थी।" गणपूरक संख्या 20 थी। दूसरे शब्दों में संघ की बैठक के लिये 20 सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। निश्चित कोरम के अभाव में किये गये कार्य को मान्यता नहीं दी जाती थी। एक सदस्य गणपूरक का कार्य करता था अर्थात् वह कोरम को पूरा करने के हेतु भिक्षुओं को एकत्र करने का प्रयत्न करता था।

संघ के अधिवेशनों की प्रायः सभी बातें लिपिबद्ध कर ली जाती थीं। इसके लिये लेखक हुआ करते थे, जो कि प्रस्तावों तथा भाषणों को लिखा करते थे। महा-गोविन्द सुतान्त में इस प्रकार के चार लेखकों का उल्लेख है जोकि महाराज की उपाधि से विभूषित थे तथा वे चारों लिखने वाले महाराज अन्त तक बराबर अपने स्थान पर रहे और वहाँ से नहीं उठे।

संघ में वाद-विवाद के बीच में यदि कोई वक्ता भावावेश में आकर परस्पर विरोधी बातों का उच्चारण करे अथवा भद्दी बातों को मुख से निकालता है, अथवा बातों को दुहराये तो वह दोषी समझा जाता था।

उपर्युक्त वर्णन से प्रकट होता है कि बौद्ध भिक्षु संघ एक अत्यन्त विकसित संस्था थी तथा जिसके नियम अत्यन्त उच्चकोटि के थे। बैठने का क्रम (आसन) मतदान शलाकाग्राहक की नियुक्ति, गणपूर्ति का नियम तथा संघ के अन्दर व्यर्थ की बातों का बोलने में रोक आदि यह प्रदर्शित करते हैं कि उस समय नियमों के पालन को बहुत मान्यता दी जाती थी जो कि नागरिकता की भावना के विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक थी। संघ में बड़ा अनुशासन रहता था। राजनीतिक क्षेत्र में भी ऐसी ही व्यवस्था थी तो वास्तव में वह एक आदर्श शासन पद्धति थी।

●

2

प्राचीन भारत में राज्यशासन पद्धति : राजतन्त्रात्मक व्यवस्था

(Ancient Indian Polity : Monarchial System)

प्रश्न (1) प्राचीन भारत में राजतन्त्र के विभिन्न सिद्धांतों की विवेचना करते हुए राजा के कर्तव्यों का उल्लेख कीजिये।

अथवा

प्राचीन भारत में राजा के देवत्व की विवेचना कीजिये और स्पष्ट कीजिये कि यहाँ राजपद न्यास या थाती समझा जाता था।

प्राचीन भारत में राजतंत्रात्मक व्यवस्था का प्राधान्य था। राज्य शब्द की उत्पत्ति 'राजन' से हुई है और इसके मूल 'राज' का शब्दार्थ शासक है। वैदिक युग में राजतन्त्र ही प्रचलित था और इसके बाद भी भारतीय इतिहास में राजतन्त्र ही प्रचलित रहा। प्राचीन भारतीय राजनीति के अध्ययन के हेतु राजतंत्र के अध्ययन और विकास का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है और इसलिये यहाँ इसकी विवेचना की जा रही है। वास्तव में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रतिपादित है, वही सिद्धान्त राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी है। इस कारण यहाँ राजतंत्र की उत्पत्ति के सिद्धान्तों की विवेचना की जा रही है।

(1) **राजतन्त्र की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त**—प्राचीन भारत में राजा की उत्पत्ति के संबंध में दैवीय सिद्धांत ही अधिकतर प्रचलित हुआ। यद्यपि प्राचीन भारत में विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं किन्तु राजतन्त्र शासन का सबसे अधिक प्रचलन था। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत राजतंत्र की उत्पत्ति के बारे में अनेक प्रकार की कल्पनायें की गयी हैं। कहा जाता है कि एक बार देव और दानवों के मध्य निरन्तर युद्ध चल रहा था। देवता बराबर परास्त हो रहे थे। देवताओं ने अपनी पराजय का कारण ज्ञात करने के लिए एक स्थान पर एकत्रित होकर विचार-विमर्श किया। इस पर उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका कोई राजा नहीं है। यही उनकी पराजय का एकमात्र कारण है। अतः उन्होंने सोम को अपना नेता और राजा बनाया। इस बार देवताओं की विजय हो गयी। एक अन्य स्थान पर यह उल्लेख किया गया है कि देवताओं ने इन्द्र को अपना राजा बनाया और वे युद्ध में विजयी हो गये। यह उल्लेख इस बात की ओर संकेत करता है कि प्राचीन भारत में युद्ध को राजतन्त्र की उत्पत्ति का कारण माना जाता था।

वैदिक साहित्य और दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त—ऊपर हमने यह उल्लेख किया है कि वैदिक साहित्य में राजतन्त्र की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। ऋग्वेद में राजा को अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि के नामों से सम्बोधित किया गया है और राजा के हेतु 'वैश्नवाण' शब्द आया है जिसका अर्थ है 'विष्णु की विभूतियों से युक्त' अर्थात् 'विष्णु भगवान का स्वरूप'। राजा को इन्द्र, वरुण, विष्णु का अवतार माना गया है। वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी इस प्रकार का उल्लेख है। तैत्तरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि इन्द्र ने प्रजापति में राज्य सत्ता प्राप्त की। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि राज्याभिषेक के बाद मनुष्य देवत्व की प्राप्ति करता है और वह भी एक देवता हो जाता है और इस तरह उसमें भी राजा को प्रजापति का प्रतिनिधि माना गया है। यजुर्वेद में राजा को वरुण, यम, कुबेर आदि देवताओं के रूप में प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि वैदिक साहित्य में राजा की गरिमा दिखलाने के लिए ही उसे देवताओं के समकक्ष रखा गया है परन्तु राजा में देवत्व की कल्पना बाद में ही की गयी।

मनु के अनुसार दैवीय सिद्धान्त—मनु ने राज्य रहित अवस्था में राजा का अस्तित्व नहीं माना था। मनु ने इस अवस्था को प्राकृतिक अवस्था के नाम से पुकारा है। मनु का मत है कि राज्य के अभाव में, समाज का जीवन अव्यवस्थित रहता था। उसमें भय विद्यमान रहता था अतएव इस अराजक दशा से मुक्ति के लिये ईश्वर ने राजा की उत्पत्ति की। मनु के अनुसार परमात्मा ने समस्त देवताओं के गुणों को राजा में निहित कर दिया। इन गुणों के प्रभावस्वरूप राजा समस्त प्राणियों पर शासन करता था। इस प्रकार मनु के मतानुसार राजा को ईश्वर ने बनाया है। वह राजा के रूप में ईश्वर है। उसकी रचना मे इन्द्र, वायु, सूर्य, यम, अग्नि, चन्द्र, वरुण तथा कुबेर के अंशों का समावेश किया गया है। इसो कारण राजा सूर्य के समान क्रान्ति वाला है। पृथ्वी का कोई व्यक्ति राजा की ओर नहीं देख सकता, दैवी गुणों के कारण, राजा स्वयं भी सूर्य, वायु, अग्नि, सोम, कुबेर, वरुण तथा महेन्द्र है। इसलिए, मनु के अनुसार, "राजा यदि बालक भी है तो उसका निरादर नहीं करना चाहिये। वह नर के रूप में देवता है।" मनु के अनुसार अग्नि केवल उस व्यक्ति का दाह करती है, जो उसे कुचलता है। लेकिन राजा उन व्यक्तियों का दाह करता है जो उसकी नीति के विरुद्ध कार्य करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को राजा पशु, कुल एवं धन सहित समाप्त कर देता है। इसका उल्लेख मनु ने निम्नलिखित प्रकार से किया है—

एक भेष दहत्यग्निनरं दुरष सर्पिणय।
कुलं दहषि राजाग्निः स पशु द्रव्य सच्चयम् ॥

मनु ने राजा की सत्ता को सर्वोच्च स्वीकार किया है। इस प्रकार मनु ने राज्य के दैवी सिद्धान्त का निरूपण किया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में देवत्व का सिद्धान्त—कौटिल्य ने राजा को 'परमदेव' माना है। उसके अर्थशास्त्र में राजा के दैवीय स्वरूप का सबसे सुन्दर निरूपण हुआ है। अर्थशास्त्र में कहा गया है—

इन्द्रयम स्थानमेतत् राजनः प्रत्यक्ष हेतुप्रसादा।
तानक्कमन्यानाम् देवोऽपि दण्ड स्पृशति तस्मान्रावमन्तव्या ॥

अर्थात् राजा इन्द्र तथा यम का स्थानीय रूप है। इसमें प्रत्यक्ष रूप से कुबेर का कोष विद्यमान रहता है। उसका अपमान करने वाले को दैवीय दण्ड मिलता है। इस कारण राजा का अपमान नहीं करना चाहिये।

अर्थशास्त्र में कहीं-कहीं तो राजा को देवों से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। इन्द्र, वायु, यम आदि प्रधान देवों के प्रधान गुणों को संग्रहीत कर राजा को देवों से भी ऊँचा स्थान प्रदान किया गया है।

रामायण और महाभारत में दैवीय सिद्धान्त—रामायण और महाभारत में भी राजा के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। रामायण के अनुसार राजा मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर विचरण करता है। इसलिये उसकी हत्या नहीं की जानी चाहिये, निन्दा नहीं करनी चाहिये, तिरस्कार नहीं करना चाहिये और उसके प्रतिकूल नहीं बोलना चाहिये, क्योंकि राजा देवता है। रामायण में राजा को इन्द्र का चौथा भाग कहा गया है।

महाभारत में देवताओं के अंश से राजाओं की उत्पत्ति मानी गयी है। उसमें

राजा को मनुष्य समझकर उसका तिरस्कार किये जाने का निषेध किया गया है तथा राजा परमदेव है जो मनुष्य का रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होता है। राजा की उपेक्षा देवों को भी नहीं करनी चाहिये।

पुराण और दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त—पुराणों में भी राजा के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की विवेचना हुई है। विष्णु पुराण में राजा 'वेन' (वृणु) के मुख से कहलवाया गया है तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, धाता, पूषा, पृथ्वी और चन्द्रा तथा इसके अतिरिक्त जितने देव हैं, सभी राजा के सिर में वास करते हैं, और राजा सिर पर दैवीय रूप हैं।

राजतन्त्र की दैवीय उत्पत्ति का पाश्चात्य और भारतीय स्वरूप—राजतन्त्र की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त केवल भारत में ही नहीं पाया जाता, बल्कि मध्यकालीन यूरोप में भी राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। राजा के विरुद्ध विद्रोह करना, ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करना माना जाता था। लेकिन इस समानता के बावजूद भी, यूरोपीय तथा भारतीय सिद्धान्त में अनेक भिन्नतायें हैं। यूरोपीय सिद्धान्त राजा को निरंकुश बना देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, यदि राजा अत्याचारी है तो प्रजा को राजा का विरोध करने का अधिकार नहीं है। राजा प्रजा से ऊपर है। प्रजा पर लागू होने वाले कानून को राजा पर लागू नहीं किया जा सकता। अतः राजा को केवल ईश्वर ही दण्ड दे सकता है। वह अपने शासन के लिये, केवल राज्य के प्रति उत्तरदायी है, प्रजा के प्रति नहीं। राजा यदि अत्याचारी है तो प्रजा के पापों के कारण होता है। इसके विपरीत, भारतीय विचारक नृप को देवत्व का रूप केवल तभी तर्क प्रदान करता है, जब तक कि वह प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। उसका देवत्व उच्च विचारों, कर्मों तथा उच्च आचरण पर निर्भर है। मनु का मत है कि राजा को केवल ऐसे कार्य करने चाहिये, जो सर्वत्र पूजनीय हों। मनु केवल उसी राजा को योग्य मानता है, जो प्रजावत्सल है। वह तभी तक अपने पद पर रह सकता है, जब तक वह नैतिकता और सदाचरण का अनुसरण करते हुए प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। मनु के अनुसार, ईश्वर ने राजा की उत्पत्ति प्रजा के कल्याण के लिये। की। अतः जिस प्रकार देवता विविध कार्यों से लोगों को लाभ पहुँचाते हैं, उसी प्रकार राजा को भी चाहिए कि वह जो भी कार्य करे, वह प्रजा के लिए कल्याणकारी हो।

प्राचीन भारत में राजा का देवत्य—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजा के देवत्व को काफी महत्व दिया गया है। वास्तव में देवत्व की भावना वैदिक काल में इस रूप में वर्तमान न थी, जिस रूप में कि बाद में पाते हैं। यद्यपि अथर्ववेद में राजा पुरुकुत्ज को अर्थदेव (Semin Divine) कहा गया है और राजा परीक्षित को मनुष्यों में देवता कहा गया है। किन्तु इन उल्लेखों से राजा के प्रति देवत्व की भावना का स्पष्टीकरण नहीं होता है। वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत अन्य किसी राजा को देवता नहीं कहा गया है। इसके अतिरिक्त डॉ० जायसवाल के अनुसार 'समिति' वैदिककाल की सर्वोपरि संस्था थी। यह राजा को पदच्युत कर सकती थी। अतः राजा के देवत्य की कल्पना का प्रश्न नहीं उठा।

राजा के देवत्व की भावना वैदिक काल के बाद विकसित हुई। ब्राह्मण काल

में इस भावना के विकास के अनुकूल वातावरण की सृष्टि हुई। युद्ध की विजय को, इन्द्र की कृपा का फल माना जाने लगा। फलस्वरूप राजा की देवता के साथ तुलना की जाने लगी। अतः वैदिक काल के उपरान्त, राजा को देवाधिदेव प्रजापति का प्रत्यक्ष प्रतीक माना जाने लगा। ब्राह्मण स्वयं अपने को भूदेव कहकर, देवत्व का दावा करने लगा। फलस्वरूप देवत्व के दावे से राजा को भी पृथक नहीं किया जा सका।

इसके बाद ईसवीं प्रथम शताब्दी में कुषाण राज्य की स्थापना के बाद राज्य के देवत्व की भावना को अधिक बल मिला। कुषाण के राजा अपने को देवपुत्र' कहते थे। राज्य के राजाओं ने अपनी मुद्राओं में अपने को दैवी ज्योति के साथ अवतरित होते हुये दर्शाया है।

अनेक स्मृतियों तथा पुराणों द्वारा भी राजा के देवत्य का दावा किया गया है। मनु के अनुसार—

यष्पादेषां सुरेन्द्राणां मात्रभिनिमितो नृपः।
तस्पादभिवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ।।

अर्थात् राजा नर के रूप में 'महान देवता है। ब्रह्मा ने आठों दिशाओं के दिग्पालों का अंश लेकर, उसके शरीर की रचना की है। इसी प्रकार, विष्णु पुराण में भी राजा के देवत्व को निम्न प्रकार दर्शाया गया है—

ब्रह्मा जनार्दनी रुद्रो इन्द्रो वायुर्यमो रविः।
हुतभुग्वरुणो धाता पूषा भूमिनिशाकिरः ।।
एते चान्ये च ये देवाः शापानुग्रहकारिणः।
नृपस्येते शरीरस्थाः सर्वदैवमयो नृप ।।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि विष्णु पुराण के अनुसार, राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते थे। इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में राजा को 'सम्मुति-देव' कह कर सम्बोधित किया गया है।

इसके बाद 'अवतारवाद' के सिद्धान्त का प्रसार हुआ। अतः राजा को ईश्वर का अवतार माना जाने लगा। अनेक शिलालेखों में गहड़वाल वंश के राजा चन्द्र तथा गोविन्दचन्द्र को ब्रह्म तथा हरि का अवतार दर्शाया गया है।

इस प्रकार स्मृतियों तथा पुराणों में राजा के देवत्व को स्वीकार किया गया है। किन्तु बहुत कमस्मृतिकारों ने राजा को ईश्वर का साक्षात् अवतार स्वीकार किया है। स्मृतियों में प्रायः राजा तथा देवता के कार्यों में समानता दर्शाने की चेष्टा की गयी है। पुराणों के अनुसार, राजा अपने तेज से दुष्टों को नष्ट कर देता है। अतः वह अग्नि के समान है। वह अपने चरों द्वारा सब कुछ देख लेता है, अतः वह सूर्य के समान है। राजा अपराधियों को दण्ड देता है, इसलिये यम के समान है। वह योग्य व्यक्तियों को पुरष्कार देता है, अतएव राजा कुबेर के तुल्य है। इस प्रकार अधिकांश ग्रंथकार राजा को ईश्वर के समान बतलाते हैं, किन्तु यह नहीं बतलाते कि वह साक्षात् ईश्वर है। अतः देवत्व का सम्बन्ध राजा से नहीं है, बल्कि राजपद से सम्बन्धित है। प्रो० अल्तेकर के शब्दों में, "बहुत से विद्वानों के अनुसार राजा और अन्य देवताओं में कार्यों की समानता है। वे यह नहीं कहते कि राजा स्वयं देवता है, बल्कि यह मानते हैं कि उसके बहुत से काम देवतुल्य हैं। इस प्रकार बहुत से हिन्दू शास्त्रकारों ने

देवत्य गुणों की उपस्थिति राजा के व्यक्तित्व में नहीं, बल्कि उसके पद में माना है क्योंकि राजा और देवताओं के कार्यों में समानता थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजपद को देवत्व माना गया था न कि राजा को, प्रजा द्वारा वर्णाश्रम का पालन करवाना राजा का कर्त्तव्य था। राजपद को दैवी मानने से, प्रजा द्वारा आज्ञापालन करवाने में अधिक सुगमता होती थी। इसके अतिरित्त राजपद को देवी मानने से राजा की प्रतिष्ठा बढ़ी थी। लेकिन इसके साथ-साथ राजा यदि अत्याचारी होता था, तो उसे राक्षस का अवतार भी कहा जाता था। इस प्रकार भारतीय राज्यशास्त्र में, राजा को देवत्य का सिद्धांत, पाश्चात्य सिद्धान्त की तरह राजा की निरंकुशता का समर्थन नहीं करता बल्कि आवश्यकता पड़ने पर यह प्रजा को राजा का विरोध करने का अधिकार भी देता है। केवल नारद ही एकमात्र ग्रंथकार हैं जो राजा के अत्याचार का समर्थन निम्न प्रकार करते हैं—

राजनि प्रहरेदास्तु कुतागस्यपि दुर्मति।
शूले तमग्नौ विपचैदं ब्रह्मत्या शताधिरम्॥

अर्थात् दुष्ट राजा पर भी प्रहार करना पाप है क्योंकि राजा में देवत्व है। लेकिन अन्य ग्रन्थकारों ने राजा को निरंकुशता का समर्थन करने वाली इस युक्ति को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने केवल उसी राजा को देवत्व प्रदान किया जो धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता है। वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करता है। प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है।

(2) **सामाजिक संविदा का सिद्धांत**—राजा की उत्पत्ति के सामाजिक संविदा सिद्धान्त का विवरण शान्तिपर्व में मिलता है। महाभारत के रचयिता के अनुसार राजा की उत्पत्ति के पहले जो विधि प्रचलित थी वह पवित्र एवं श्रेष्ठ थीं। शनैः-शनैः अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो गये और फलस्वरूप नियमों को लागू करने के लिये राजा नामक संस्था का निर्माण करना पड़ा।

राजा को निर्धारित प्रतिबन्धों के साथ राज्य मिलता था। राजा को ब्राह्मण द्वारा केवल लक्षित किया गया था, उसे स्वीकार करना जनता के अधिकार में था। कौटिल्य ने लिखा है कि मत्स्य न्याय से व्याकुल मनुष्यों ने वैवस्वत के पुत्र मनु को राजा बनाया। महाभारत में राजा के अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाया गया है और कहा गया है कि चूंकि राजा जनता के हित के लिये है अतएव उसे जनता की इच्छा पर निर्भर रहना होगा। राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित ये 9 विशेषतायें मानी जा सकती हैं—

(1) प्राकृतिक राज्य की अवस्था जब कि सर्वत्र सुख और सन्तोष का जीवन।
(2) विकारों का जागृत होना।
(3) शिष्टाचार सम्बन्धी नियम बनाना।
(4) नियम लागू करने हेतु सर्वश्रेष्ठ अधिकारी की आवश्यकता।
(5) ब्राह्मण द्वारा मन को प्रस्तुत करना एवं जनता द्वारा उसकी स्वीकृति।
(6) विधि एवं नियम लागू करने एवं उन्हें भंग करने वालों का दंड देना।
(7) राजपद ग्रहण करना।
(8) राजा की सेवा के लिये पूजा द्वारा धन दिया जाना।
(9) राजा द्वारा प्रजा भक्ति की शपथ लेना।

महाभारत में समझौते के सम्बन्ध में अत्यन्त सुन्दर वर्णन मिलता है उसमें कहा गया है कि जनता ने राजा के साथ समझौता किया कि राजा उनकी रक्षा एवं पालन करेगा और वे उसके बदले में राजा को अपनी आमदनी का एक अंश देंगे। मत्स्य न्याय की दशा से व्याकुल होकर ही प्रजा ने राजा के साथ समझौता किया।

(3) **युद्ध-मूलक सिद्धान्त**—ऐतरेय ब्राह्मण में राजा ने उत्पत्ति के सम्बन्ध में युद्ध-मूलक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। देवासुर संग्राम में पराजित होने के पश्चात् देवताओं को राजा का अभाव खटका और फलस्वरूप राजा की उत्पत्ति हुई। शक्तिशाली होने के फलस्वरूप इन्द्र देवता को राजा बनाया गया। राजा की उत्पत्ति का कारण सामरिक व्यवस्था थी और वही व्यक्ति राजा बनाया जाता था जिसमें युद्ध में नेतृत्व करने की क्षमता हो। राजसूय यज्ञ उस समय का स्मरण दिलाता है जबकि राजपद के हेतु शक्ति की परीक्षा रथ की दौड़ से की जाती थी।

(4) **पैतृक सिद्धान्त**—राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पैतृक सिद्धान्त भी प्रचलित था। जन्माधिकार सिद्धान्त का प्रतिपादन महाभारत और रामायण में किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा की नियुक्ति वंश-परम्परा के आधार पर होनी चाहिये।

राजा की उत्पत्ति चाहे जिस प्रकार हुई हो उसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं है कि प्राचीन काल में राजा का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था और उसे देवतुल्य माना जाता था।

राजा के कर्त्तव्य

प्राचीन भारत में राजपद को देवतुल्य माना जाता था। उसकी उत्पत्ति प्रजा के पालन के लिये हुई थी, अतः राज्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों के अनुसार राजा का मुख्य कार्य प्रजा के जीवन की रक्षा करना तथा प्रजा की सम्पत्ति को बढ़ाना था। इस लक्ष्य की प्रप्ति के लिये राजा को दण्ड का आधार ग्रहण करना पड़ता था। इस दण्ड के आधार पर राजा प्रजा पर शासन करता था। दण्ड के भय से प्रजा भी राजा की आज्ञा का पालन करती थी। अतः प्राचीन आचार्यों ने राज्य से सम्बन्धित अध्ययन को 'दण्डनीति' के नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य के शब्दों में, 'शत्रु को वश में करना दण्डनीति पर निर्भर है। दण्ड नीति का आश्रय लेता हुआ राजा समस्त प्रजा की रक्षा करता है। दण्ड से सम्पत्ति बढ़ती है। दण्डशक्ति के अभाव में मन्त्रि समूह निस्तेज हो जाता है। दण्डशक्ति के कारण, वे लोग न करने योग्य कार्यों को नहीं करते हैं, मनुष्य की सुरक्षा भी दण्डनीति पर निर्भर है।''

इस प्रकार दण्ड का आधार लेता हुआ राजा, प्रजा के पालन-पोषण में समर्थ होता था। धर्म की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य था। जो राजा अव्यवस्था को मिटा कर, सुव्यवस्था को स्थापित करता था, उसे धार्मिक कहा जाता था। धर्मपूर्वक राज्य करने वाले राजा में ही देवत्व माना गया है। राजा वेण के बारे में यह उल्लेख है कि उसने धर्म का पालन करने तथा मनमानी न करने का संकल्प किया था। इसी प्रकार महाभारत में प्रजा का पालन करना ही राजा का धर्म बतलाया गया है। राजा के कार्यों का उल्लेख करते हुये, कामन्दक ने बतलाया है कि उसे प्रजा को पाँच प्रकार के भयों से (राजकर्मचारियों का भय, चोरों का भय, शत्रुओं का भय, राजा के प्रिय लोगों का

भय तथा राजा के लोभ का भय) मुक्त करना चाहिये। उसका मूल धर्म साधु की रक्षा तथा असाधु का दमन है। वह प्रजा का सेवक है। प्रजा से कर के रूप मे जो प्राप्त करता है, वह उसका वेतन है। शुक्र के अनुसार, प्रजा सेवक के रूप में राजा को जो भरपूर द्रव्य प्रदान करती है, वह उसका वेतन है, अत: उसे दास के रूप में प्रजा की सेवा करनी चाहिये। प्रजा की रक्षा करना ही राजा का मूलधर्म था। इस कार्य में वह प्रजा का नेतृत्व करता था। प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करती थी। अत: धर्म का अनुकरण करना राजा के लिये अनिवार्य था।

वैदिक काल में राजा के कर्त्तव्य—वैदिक काल में राजा प्रजा से धन तथा वैभव प्राप्त करता था। अत: उसे प्रजा के पालन के लिये सम्पत्ति का विभाजन करने वाला भी कहा गया है। वह प्रजा की रक्षा करने वाला प्रमुख व्यक्ति होता था। अत: उसके लिये कामना की जाती थी कि वह ध्रुव की भाँति निरन्तर शासन करे। उसके शासन की कोई निश्चित अवधि नहीं होती थी और धर्म का पालन करते हुये वह अनेक वर्षों तक शासन कर सकता था। अथर्ववेद में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि ''दशमी मुग: सुमता वशह'' अर्थात् राजन तुम प्रसन्नता से इस राष्ट्र पर दसवीं अवस्था तक शासन करते रहो। इसका अभिप्राय राजा द्वारा वृद्धावस्था तक शासन करने से नहीं है, बल्कि राजा से यह आशा की जाती थी कि वह दीर्घकाल तक, धर्मपूर्वक प्रजा पर शासन करता रहे। जहाँ एक ओर प्रजा द्वारा राजा के स्थायी शासन की कामना की जाती थी, वहाँ दूसरी ओर प्रजा द्वारा राजाओं को निर्वासन किए जाने का उल्लेख भी वेदों में किया गया है। राजा राज्य कृषि, समृद्धि एवं पुष्टि के हेतु सौंपा जाता था। राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति करना ही राजा का कर्त्तव्य समझा जाता था। राजा को विश के विरुद्ध विद्रोह न करने की भी शपथ खानी पड़ती थी।

शासन के संचालन के लिये राजा को परामर्श देने के हेतु वैदिक काल में दो संस्थाएँ थीं। इन्हें क्रमश: समिति एवं सभा कहा जाता था। इन दोनों का उल्लेख आगे किया जायगा। यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि राजा के लिये समिति के समक्ष उपस्थित होना जरूरी होता था। यह राजा का कर्त्तव्य माना जाता था कि वह समिति की बैठकों में भाग ले। जो राजा समिति में उपस्थित नहीं होता था, उसे सच्चा राजा नहीं माना जाता था। समिति अधिकतर राजनैतिक विषयों पर वाद-विवाद करती थी।

वैदिक युग की सभा तथा समिति का उल्लेख करते हुए विद्यालंकार जी ने एक स्थान पर उल्लेख किया है कि ''वैदिक युग के राज्यों में सभा और समिति नामक संस्थाओं की सत्ता थी, जिनका राज्य के शासन में महत्वपूर्ण भाग होता था···सभा में जहाँ न्याय कार्य होता था, वहाँ साथ ही उसमें एकत्र ''पितर'' या कुल मुख्य राजा को महत्वपूर्ण विषयों पर परामर्श देने का कार्य किया करते थे।'' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में राजा का यह कर्त्तव्य था कि शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये वह सभा एवं समिति जैसी प्रजातान्त्रिक संस्थाओं से परामर्श एवं सहयोग ले। वास्तव में राजा की निरंकुशता के लिये ये दोनों संस्थायें नियन्त्रण का

कार्य करती थीं। अपने कर्त्तव्यों को उचित रूप से सम्पन्न करना राजा के लिये अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। उसे अपने कर्त्तव्यों से विमुख न होने की शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा एक स्थान पर कहता है कि "जिस रात्रि को मैं पैदा हुआ हूँ तथा जिसमें मरूँगा उसके मध्य में जो भी शुभ कार्य मैंने किए हों, वे सब नष्ट हो जाएँ···यदि मैं किसी प्रकार से आपके विरुद्ध द्रोह करूँ।" यह शपथ राजा को अपने कर्त्तव्यों का स्मरण कराती रहती थी।

महाभारत काल में राजा के कर्त्तव्य—महाभारत काल में प्रजा का रंजन करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य माना गया है। शान्ति पर्व में कहा गया है कि :—

तेन धर्मोत्तरश्चाय कृतो लोको महामना।
रन्जिताश्च प्रजाः सर्वार तैन राजेति शब्दायते ॥

अर्थात् उस महात्मा ने धर्मानुकूल शासन किया। समस्त प्रजा का रंजन किया। इसी कारण वह राजा कहलाता है। शान्तिपर्व में राजा वैन्य को महर्षियों ने उपदेश देते हुये कहा, "तुम्हें क्या अप्रिय है तथा क्या प्रिय है—इसको भूल कर सबके साथ समान व्यवहार करो। काम, क्रोध तथा मान का तुम त्याग कर दो। जो कोई भी मनुष्य धर्म के मार्ग से विचलित हो, उसे तुम शाश्वत् धर्म का अनुसरण करते हुए दण्ड दो। मन, वाणी, एवं धर्म द्वारा इस प्रतिज्ञा का पालन करो। "भूमि व प्रजा को ब्रह्म मानकर मैं सदैव उसका पालन करूँगा।—दण्डनीति में जिन बातों का धर्मानुकूल प्रतिपादन किया गया है—मैं उनका अंशक रूप से अनुसरण करूँगा।" यह बात भी ध्यान में रखूंगा कि सम्पूर्ण प्रजाजन की मुझे सब प्रकार की विपत्तियों तथा संकटों में रक्षा करनी है।"

इस उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट होता है कि राजा अपने प्रिय तथा अप्रिय का ध्यान न रख कर प्रजा के साथ उचित एवं समान व्यवहार करने का सदैव प्रयास करता था। प्रजा एवं राष्ट्र का पालन उसका महत्वपूर्ण कर्त्तव्य था। स्वेच्छाचारी न बनने की उसे प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। साराँश में कहा जा सकता है कि राजा का मुख्य कार्य प्रजा की विपत्तियों एवं संकटों से रक्षा कर उनका पालन करना था। महाभारत में उल्लेख है कि राजा वैन्य के शासन-काल में दुर्भिक्ष, चोरी आदि का प्रजा को भय न था तथा समस्त धराधान्य से परिपूर्ण थी, क्योंकि वैन्य ने दण्डनीति द्वारा प्रतिपादित मर्यादा के अनुसार शासन किया था। राजा वेण ने (वैन्य के पिता) प्रजा का पालन नहीं किया। इस कारण लोगों ने उन्हें राज-पद से अपदस्थ कर दिया।

अर्थशास्त्र के अनुसार राजा के कर्त्तव्य—अर्थशास्त्र के अनुसार दण्डनीति प्रयोग करने के लिये अर्थात् प्राणियों में दण्ड प्रयोग करने के हेतु राज की उत्पत्ति हुई है। अतः प्रजा को प्रसन्न करना राजा का मुख्य उद्देश्य माना गया है। प्रजा के सुख एवं कल्याण में राजा का सुख एवं कल्याण निहित है। कौटिल्य ने एक स्थान पर कहा है कि—प्रजा के सुख तथा उसके हित में ही राजा को अपना हित समझना चाहिये। प्रजा का प्रिय और हितकारी कार्य होता है। अतः राजा का कर्त्तव्य प्रजा के सुख की व्यवस्था करना एवं कल्याण को ध्यान में रखना होता है। राजा को एक आदर्श व्यक्ति होना चाहिये जो कि प्रजा के सम्मुख अपने आदर्शों को रख कर, उनसे उसका

अनुसरण करने के लिये कह सके। राजा का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वह उन गुणों को धारण करे जिससे वह प्रजा को आकृष्ट कर सके। राजा को अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिये। कौटिल्य का कथन है कि काम, क्रोध, लोभ, मान, मद तथा हर्ष के त्याग से राजा को अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। इन्द्रियों की विजय से क्या तात्पर्य है? इस विषय में कौटिल्य कहता है कि कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना तथा प्राण, इन्द्रियों को शब्द, स्पर्श रूप, रस तथा गन्ध विषयों में प्रवृत्त न होने देना इन्द्रिय-जन्य कहलाता है। दूसरे शब्दों में शास्त्रों में प्रतिपादित कर्तव्यों के सम्यक् अनुष्ठान को ही इन्द्रिय-जन्य कहते हैं। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् ही राजा अपने कार्यों को उचित प्रकार से कर सकता है।

कौटिल्य का कथन है कि राजा बुद्ध विद्वानों के सम्पर्क में आकर बुद्धि को विकसित करे, गुप्तचरों के द्वारा योग तथा क्षेत्र सम्पादन करे। राजकीय नियमों द्वारा प्रजा का उसके धर्म में नियन्त्रण करे, विद्या के प्रचार द्वारा प्रजा को शिक्षित बनाएँ, आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता देकर प्रजा का प्रिय बना रहे तथा प्रजा के हित के साथ अपनी लोकयात्रा करे।

कौटिल्य ने राजा के कृत्यों को राजा के व्रतों के नाम से सम्बोधित किया है। अर्थशास्त्र में राजा के कर्त्तव्यों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। प्रत्येक प्रकार की उन्नति, यज्ञ, प्रजा द्वारा किए जाने वाले कार्यों की उचित व्यवस्था करना अथवा उनके परस्पर मतभेदों एवं कलह सम्बन्धी विषयों में निर्णय देना, दान देना, सम्पूर्ण प्रजा पर समदृष्टि रखना और उसके सम्यक् पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था करना अथवा शत्रु, मित्र और उदासीन की देख-रेख करके तद्नुकूल उनसे व्यवहार करना तथा विधिवत् दीक्षा प्राप्त किए हुए व्यक्तियों को राज्य के विभिन्न पदों पर नियुक्त करना आदि राजा के व्रत माने गये हैं।

शुक्रनीति के अनुसार राजा के कर्त्तव्य—शुक्रनीतिसार के अनुसार राजा को किसी भी कारण प्रजा के धन को अपहरण नहीं करना चाहिए। राजा को प्रजा के सुख में सुखी तथा दुःख में दुखी होना चाहिए। राजा को अपने सब कार्य खेल के सहारे करना चाहिए। राज को चाहिए कि वह प्रत्येक वर्ष अपने समस्त राज्य में भ्रमण कर इस बात का पता लगाए कि उसके अधिकारियों ने किन-किन को प्रसन्न किया था तथा किन-किन लोगों को दुःखी किया। उसे अधिकारियों का पक्ष न लेकर प्रजा का पक्ष लेना चाहिये। जिस अधिकारी से सौ मनुष्य घृण करे राजा का कर्त्तव्य है कि उस अधिकारी को पद्च्युत कर दे।

शुक्राचार्य के अनुसार राजा को दो प्रमुख कार्य करने चाहिये। उसे प्रजा की रक्षा तथा दुष्टों का नाश करना चाहिए। इसके लिए राजा के हेतु नीतिशास्त्र का अभ्यास करना आवश्यक बताया गया है। इसी के द्वारा नृप प्रजा का कल्याण कर सकता है। राज्य के विभिन्न अंगों में परस्पर एकता स्थापित करना भी राजा का कर्त्तव्य है। अपने कठोर स्वभाव तथा दण्ड के परिणामस्वरूप ही प्रजा के धर्म का नियोजन करता है। राजा को प्रजा के कर्मों का प्रेरक माना गया है।

शुक्रनीति ने राजा के आठ प्रकार के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। दुष्ट को दण्ड देना, प्रजा का परिपालन, राजसूय यज्ञों का अनुष्ठान, न्याय के आधार पर कोष

की बुद्धि, राजाओं से कर प्राप्ति, राष्ट्र की उन्नति करना, शत्रुओं का विनाश करना तथा भूमि का प्रबन्ध करना। राजा को बहुमुखी प्रतिभाशाली होना चाहिए तथा उसे प्रत्येक विषय को खूब समझ-बूझ कर करना चाहिए। उसे अपने कार्य में मन्त्रियों की सहायता लेनी चाहिये। शुक्र ने राजा के ये महत्वपूर्ण सहायक बताये हैं। पुरोहित, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्राड्विवाक, पण्डित, सुमन्त तथा दूत। इन सभी की सहायता से राजा योग्यतापूर्वक प्रशासन करता है। शुक्रनीति में कहा गया है कि राजा को अभी प्रजा के धर्म में संलग्न रहना चाहिए। राजा का प्रमुख कार्य न्याय करना है ऐसी धारणा अनेक प्राचीन राज्य-शास्त्रियों की थी।

राजा के कार्यों के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजा को प्रजा का सेवक समझा जाता था। प्रजा का पालन करना ही उसका परम् कर्त्तव्य था। धर्मराजा को कर्त्तव्य-पालन के मार्ग में निदेशक की भूमिका सम्पन्न करता था। प्रस्तुत सन्दर्भ में, राज्यों के कार्यों के बारे में, उपर्युक्त वर्णन से जो तथ्य स्पष्ट होते हैं, निम्न प्रकार हैं—

(1) **प्रजा का पालन करना**—राजा का मुख्य कर्त्तव्य प्रजा का पालन करना था। उसका यह भी कार्य था कि वह समस्त प्रजा के साथ समान व्यवहार करे। इस कारण उसे अपने प्रिय एवं अप्रिय का ध्यान त्यागना पड़ता था और जो कार्य प्रजा के हेतु हितकर हो वही करना होता था।

(2) **धर्म की रक्षा करना**—धर्म से विचलित मनुष्यों को दण्ड देना भी उसका एक मुख्य कार्य समझा जाता था, किन्तु इस कार्य के लिये उसे शाश्वत् धर्म का अनुसरण करना होता था।

(3) **निष्पक्षता का व्यवहार करना**—शासन कार्य में निष्पक्षता की प्रतिस्थापना के लिये यह आवश्यक समझा जाता था कि राज काम क्रोध, तथा मान को त्याग कर अपना कर्त्तव्य निर्वाह करे।

(4) **स्वेच्छाचारिता का त्याग करना**—उसे राष्ट्र एवं प्रजा को ब्रह्म मानकर उसका पालन करना पड़ता था और स्वेच्छाचारी न बनने का वचन देना पड़ता था। राजा यदि स्वेच्छाचारी बन कर कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता था तो उसे पदच्युत कर दिया जाता था। राज वेण का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। जिससे राग द्वेष के वशीभूत होकर प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करना शुरू कर दिया था।

(5) **प्रजा की भौतिक उन्नति करना**—प्रजा की भौतिक उन्नति को सम्भव बनाना भी राजा का एक कार्य था। धर्म-ग्रन्थों के अनुसार राजा को देख-रेख उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार एक माता अपने गर्भ में स्थित सन्तान की देख-रेख करती है। अतः राज्य सत्ता का भार वहन अत्यन्त कठिन है, क्योंकि राजा को प्रजा के सम्पूर्ण हितों का ध्यान रखना पड़ता है। राजा को सदैव प्रजा की भलाई एवं प्रसन्नता का ध्यान रखना पड़ता है। प्राचीन भारत में राजा के बहुमुखी कर्त्तव्य होते थे।

राजपद एक न्यास के रूप में—प्राचीन भारत के राजपद को न्यास या थाती (Trustee) समझा जाता था। इस विषय में अल्तेकर का विचार है, "राजपद को एक न्यास के रूप में समझना प्राचीन भारत में विद्यमान था। कोषागार राजा का

व्यक्तिगत सम्पत्ति न था। यह एक सार्वजनिक न्यास था जो जनता की भलाई में ही काम आता था। यदि कोई राजा जनता के धन का दुरुपयोग करता था या अपने व्यक्तिगत कामों में खर्च करता था तो वह पाप का भागी होता था और नरक की यातनायें भोगता था।

राजा का निर्वाचन सबल प्रजा के हित के लिये होता है।। इसी को राजधर्म कहा जा सकता है : उसका मुख्य उद्देश्य जनहित होना चाहिये। अग्निपुराण में एक स्थान पर कहा गया है कि :—

नित्यं राज्ञ तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणी।
यथा स्वयं सुखमृत्सृज्य गर्भस्व सुखमावकत्॥

अर्थात् जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने पेट में विद्यमान शिशु को हानि पहुँचने के भय से अपनी इच्छाओं को दबाती है तथा सुखों का त्याग करती है, उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा के हित के सम्मुख, सुख तथा इच्छाओं की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार महाभारत में कहा गया है कि—

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वयं प्रियं मातसो अनुगम।
गर्भस्य हितमात्ते यथा राज्ञाप्यसंशयनम्॥

अर्थात् गर्भवती स्त्री जैसे अपने मन के अनुसार कार्य करके सदैव अपने गर्भ के हित का ध्यान रखती है, वैसे ही राजा अपने मनमाने कार्य न करके ही कार्य करे जिनसे प्रजा का हित हो। राजा को प्राणियों का रक्षक एवं विनाशक दोनों ही बतलाया गया है। जो धर्मानुकूल कार्य करता है वह रक्षक कहलाता है। जो धर्म के विरुद्ध कार्य करता है वह विनाशक का रूप धारण करता है। श्वेतकेतु के अनुसार, "राजा का सनातन धर्म प्रजारंजन, सत्यरक्षण और व्यवहार की सत्यता है। वह दूसरों का धन हरण न करे, वरन् यथाशक्ति आप दे और औरों से दिलावे। राजा को चाहिये कि वह पराक्रमी, क्षमावान, सत्यवादी और सत्यपद से अविचलित हो, चित और क्रोध को वश में रखे, शास्त्र का कर्म जाने, चातुर्वर्ण्य की शांति और वेदाध्ययन में नित्य यत्नशील हो। यन्त्रणा सदा गुप्त रखे। उसे विचारपूर्वक चातुर्वर्ण्य और धर्मों की रक्षा करनी चाहिये। धर्मसंकरता से प्रजा की रक्षा करना राजा का सनातन धर्म है)" दूसरे शब्दों में श्वेतकेतु ने भी प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य बताया है।

जो राजा अपने कर्त्तव्यों का उचित रूप से पालन करता है, धर्मानुकूल शासन करता है, प्रजा के हितों का ध्यान रखता है, दुष्टों को दण्ड देता है, उनका राष्ट्र प्रसन्न एवं सन्तुष्ट रहता हैं। प्रत्येक दिशा में समृद्धि होती है और प्रजा राजभक्त हो जातो है। यही राज्य स्थायित्व का मूल है। महाभारत में कहा गया है कि—

यस्य योद्धा सुसंतुष्टा सान्त्वितः सूएधस्थितः अल्पनिप स दण्डेन महीं जपति पार्थिवः।

अर्थात जिस राजा के सैनिक भली-भाँति सन्तुष्ट, वशीभूत तथा आज्ञा-पालन में तत्पर होते हैं, वह लघु सेना से ही पृथ्वी की विजय कर लेता है। सम्भवतः धर्मानुकूल शासन करके कलिंग के जैन सम्राट खारवेल ने प्रजा का रंजन किया।

प्रश्न (2) प्राचीन भारत में राजा की शक्ति पर लगाये गये नियन्त्रणों का उल्लेख कीजिये।

प्राचीन भारत में राजा को अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। मनु ने राजा को नर रूप में महान् देवता माना है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि राजा के अंग में अनेक देवता निवास करते हैं। पुराणों में कहा गया है कि राजा अपने तेज से दुष्टों को भस्म कर देता है। अतः वह अग्नि तुल्य है, यह अपने घरों द्वारा सब कुछ देख लेता है अतः वह सूर्य के समान है तथा योग्य मनुष्यों को पुरस्कार देता है अतः वह कुबेर के समान है। इस प्रकार प्राचीन भारत में राजा को देवता का स्थान प्रदान किया गया है। महाभारत में एक स्थान पर कहा गया है कि जो व्यक्ति राजा को कष्ट पहुँचाने का केवल विचार-मात्र करता है उसे पृथ्वी में दुःख सहन करना पड़ता है तथा नर्क भोगना पड़ता है। राजा को मनुष्य के रूप में देवता माना गया है।

परन्तु राजा के देवत्व का उल्लेख करते समय यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि प्राचीन भारत में राजा को अपरिमित अधिकार प्राप्त होने पर भी, वह जनहित में ही कार्य करता था। उसकी शक्ति पर अनेक नियन्त्रण थे। राजा का प्रमुख कार्य प्रजा की भलाई करना ही था और इसलिये जो राजा इस प्रकार का कार्य नहीं करता, उसे जनता का कोपभाजन भी बनना पड़ता था। अनेक कारणों से राजा की अपरिमित शक्ति प्रतिबन्धित थी। यहाँ हम उन नियंत्रणों की चर्चा संक्षेप में कर रहे हैं जो राजा की निरंकुशता को रोकने के लिये थे :—

(1) **सभा और समिति**—वस्तुतः वैदिक काल से ही राजा की शक्तियों पर नियंत्रण रखा जाने लगा था। सभा एवं समिति दो ऐसी संस्थायें थीं, जोकि राजा के अधिकारों पर अत्यधिक रोक रखती थीं और निरंकुश बनने का अवसर नहीं देती थीं। वास्तव में समिति द्वारा ही राजा का निर्वाचन किया जाता था। जायसवाल महोदय का मत है कि राजकीय संगठन की दृष्टि से समिति सर्वप्रधान संस्था होती थी। यह वैदिक काल में सब लोगों का प्रतिनिधित्व करती थी। समिति को भी अधिकार था कि वह एक निर्वाचित राजा का पुनः निर्वाचन कर सके। समिति के समान ही दूसरी महत्वपूर्ण संस्था सभा थी। किन्तु राजा की शक्तियों पर वास्तविक नियन्त्रण समिति का ही था। यदि राजा समिति के विरुद्ध हो जाता तो समिति उसको पदच्युत भी कर सकती थी।

किन्तु समिति नामक संस्था दीर्घकाल तक न रह सकी। क्रमशः इस संस्था की शक्ति कम होती थी तथा 500 ई० पू० तक वह प्रायः लुप्त हो गयी और उसके स्थान पर कोई दूसरी लोकप्रिय संस्था स्थापित न की जा सकी। डॉ० अल्तेकर के शब्दों में, "जैन सभा की शक्तियों का ह्रास समय के साथ होता गया। 500 वर्ष ई० पू० तक इसका अस्तित्व समाप्त हो गया। कोई इस प्रकार का दूसरा संगठन नहीं बना जो उसका स्थान ले सकता था।"

(2) **मन्त्रिमण्डल**—राजा की निरंकुशता पर मन्त्रि-मंडल द्वारा नियंत्रण रखने का प्रयास किया गया। मन्त्रि-मंडल का विस्तृत उल्लेख आगे किया जायगा। किन्तु इस मन्त्रि-परिषद् की शक्ति भी राजा को निरंकुश होने से नहीं रोक सकती थी। क्योंकि मन्त्रियों का पद राजा की इच्छा पर निर्भर करता था। राजा मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। अतः वह जब चाहता उनको हटा सकता था। दूसरे शब्दों में मन्त्रियों का कार्य-काल, राजा की स्वेच्छा पर निर्भर रहता था। इस प्रकार, राजा की

कृपा पर निर्भर होने के कारण, मंत्रीगण, सदैव राजा को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते । राजा की इच्छा के विरुद्ध कभी नहीं करते थे, अतः उसकी निरंकुशता पर रोक लगाना उनकी सामर्थ्य के बाहर था ।

(3) **राज्याभिषेक**—राजा के स्वेच्छाचारी बनने की सम्भावना राज्याभिषेक उत्सव से भी कुछ कम हो जाती थी । प्रजा स्वयं राजा का वरण करती थी । राजा से राज्य का अधिकार छीना जा सकता था । इस सम्बन्ध में विद्यालंकार का मत इस प्रकार है, "इस प्रकार विश द्वारा वरण करके और उसके साथ एक निश्चित इकरार करके जो राजा राष्ट्र का शासन करता था, वह निरंकुश व स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था । उसकी स्थिति 'सामानों ज्येष्ठ' के सदृश होती थी और इसी कारण वैदिक युग के इन राष्ट्रों के शासन को 'जनराज्य' (जन या जनता का राज्य) कहा जाता था ।"

इसी विषय पर अल्तेकर महोदय का मत है कि राजा के पद को कुछ सीमा तक दिव्य मानते थे । किन्तु विधि, नियम तथा रूढ़ियों को उससे ज्यादा दिव्य मानते थे । राज्याभिषेक के समय राजा को प्रजा के पालन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी । उनको बदलने का उसे अधिकार न था । उन्होंने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में लिखा है । "यद्यपि राजा देवीय व्यक्ति था परन्तु नियम और परम्परायें उससे भी शक्तिशाली थीं । राजा को अभिषेक के समय शपथ लेनी पड़ती थी कि अब अबाध गति से उनका पालन करेगा । उसे इन्हें स्वेच्छा से बढ़ने का अधिकार न था ।

(4) **जनमत**—प्राचीन काल में राजा की निरंकुशता को रोकने के लिये जनमत भी एक प्रभावशाली साधन था । शुक्र ने कहा है कि :—

अधर्मशीली नृपतिर्यदा तं भीषण येज्जनः ।
धर्मशीलाति बलवद्रिपोराश्रयतः सदा ॥

अर्थात् अत्याचारी राजा को प्रजा द्वारा यह चेतावनी देनी चाहिये कि यदि तुम अपना व्यवहार नहीं बदलते तो हम भी तुम्हारा राज्य छोड़ कर दूसरे सुशासित राज्य में चले जायेंगे । प्रजा को यह भी अधिकार था कि वह दुराचारी राजा को गद्दी से उतार दे । महाभारत में तो अत्याचारी राजा के वध तक की अनुमति दे दी गई है । इस अधिकार का उल्लेख करते हुए अल्तेकर कहते हैं कि···प्रजा को राजा के वध का अधिकारी मानने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन शास्त्रकार प्रभुता या सार्वभौमिकता का स्रोत जनता को ही मानते थे । पर विद्रोह के सिवा इसके उपयोग का कोई शांतिमय उपाय न था । अतः इसे वैधानिक न कहकर विधानातीत ही कहना पड़ेगा । यह भी मानना होगा कि यह उपाय काम में लाना कठिन था ।

(5) **धर्म**—प्राचीन काल में राजा को नियन्त्रित रखने के लिए धर्म तथा अध्यात्म का आश्रय भी अत्यधिक सीमा तक लिया गया था । प्राचीन विचारकों ने राजा की शक्ति पर नियन्त्रण रखने के हेतु इस भावना का पूर्ण उपयोग किया । राजा को गलत कार्य करने पर नरक भोगने का भय दिखलाया जाता था, इससे राजा गलत कार्य करने के हिचकते थे । प्राचीन शास्त्रियों ने घोषणा की कि यदि राजा बिना अनुमति जुर्माना करना है तो उसे जुर्माना की गयी राशि का तीन गुना वरुण को स्वयं जुर्माना के रूप में देना होगा । पाप तथा नरक के डर से राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो पाता था ।

(6) **शिक्षा**—प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्रियों द्वारा राजा की शिक्षा पर अत्यधिक जोर दिया गया है क्योंकि शिक्षा के अभाव में राजा के स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश हो जाने की अधिक संभावना रहती थी। अतः बचपन में ही उचित शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। शिक्षा द्वारा उसमें विनय, शांति सदाचार आदि धार्मिक, गुणों का बीजारोपण किया जाता था। शिक्षा प्राप्त राजा कभी भी अपनी प्रजा को कष्ट नहीं दे सकता, ऐसी धारणा हमारे विचारकों की थी। प्लेटो ने भी राजा की उचित शिक्षा व्यवस्था पर जोर दिया था। क्योंकि उसका विचार था कि एक शिक्षित राजा अपने कर्त्तव्य का उचित रूप से पालन कर सकता है। उसमें स्वार्थ की भावना पैदा न होगी। किन्तु उचित शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् भी राजा कभी-कभी स्वेच्छाचारी हो जाते थे। ऐसे राजाओं की निरंकुशता को रोकने के लिए विद्रोह के अतिरिक्त कोई साधन न था।

(7) **शक्ति का विकेन्द्रीकरण**—राजा की शक्तियों को विकेन्द्रीकरण कर प्रशासन व्यवस्था द्वारा नियंत्रित करने का सराहनीय प्रयास प्राचीन भारत में किया गया। ग्राम, नगर, प्रादेशिक पंचायतों तथा सभाओं द्वारा राजा का अधिकार-क्षेत्र काफी सीमित कर दिया गया। इन संस्थाओं में प्रजा का जोर रहता था जिससे राजा और भी शक्तिहीन हो जाता था। अल्तेकर का कथन है कि, "इन संस्थाओं में जनता को पूरा हाथ रहता था···राजा चाहे कितने ही कर लगा दे, पर प्रायः वसूली केवल उन्हीं की हो सकती थी जिसे ग्राम सभा वसूल करने को तैयार होती थी। इन स्थानीय संस्थाओं को न्याय के भी पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे, जिससे राजा के हाथ से एक और विभाग निकल जाता था जो कि अत्याचार का प्रमुख साधन बन सकता था। स्थानीय संस्थाओं का अपनी सीमाओं में उगाहे जाने वाले भूमि का तथा अन्य करों के पर्याप्त अंश पर भी अधिकार रहता था, अस्तु ग्राम और नगर संस्थाएँ बहुतांश में छोटे-छोटे प्रजातन्त्र ही थे जिनमें जनता की ही इच्छा चलती थी।"

इन नियन्त्रणों के बावजूद यह अवश्य स्वीकार किया जायगा कि राजा यदि चाहता तो उसे स्वेच्छाचारी बनने से कोई भी नहीं रोक सकता था। जो भी नियन्त्रण प्राचीन काल में राजा पर लगाये गये उनमें से अधिकतर तो अत्यन्त प्रभावहीन थे। समिति जैसी संस्था का लोप हो गया। मंत्रियों की नियुक्ति राजा द्वारा होने पर उनका राजा के ऊपर कोई भी प्रभाव न था। पाप और नरक भय की अत्याचारी राजा को स्वेच्छाचारी होने से न रोक सकता था।

परन्तु यह अवश्य था कि अधिकतर राजा स्वेच्छाचारिता का अनुसरण नहीं करते थे। कुछ को छोड़ कर प्राचीन भारत में अधिकतर राजाओं ने जनहित में ही कार्य किया और प्रजा की भलाई में अपनी भलाई समझी। हाँ, यह अवश्य स्वीकार किया जायगा कि राजा के अधिकार इतने व्यापक थे कि जब कभी वह स्वेच्छाचारी बनना चाहते थे तो अनेक नियन्त्रणों के बावजूद उसे रोकना असम्भव था।

प्रश्न (3) प्राचीन भारत में राजत्व के मुख्य विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन कीजिये।

अथवा

हिन्दू एकराजत्व की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए विभिन्न युगों में हिन्दू राजाओं की स्थिति पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

हिन्दू एकराजत्व की विशेषताओं को स्पष्ट करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना अनिवार्य है कि हिन्दू राज्य का मूल आधार धार्मिक था। धर्म को राजा से भी बढ़ कर और सब राजाओं का राजा माना जाता था। धर्मसूत्रों में, राजा के कार्यों का निरूपण करते समय, उन्हें धर्म का अंग माना गया है। जिन दिनों हिन्दू एकराजत्व अपने विकास के सर्वोच्च शिखर पर था उन दिनों भी राजा को धर्म से बढ़ कर नहीं माना गया। अतः हिन्दू एकराजत्व शासन-प्रणाली में न्याय-विभाग सदैव शासन से पृथक् रखा गया था। धर्मशास्त्र के ज्ञाता लोगों को ही न्यायाधीश नियुक्त किया जाता था। राजा को धर्म का रक्षक माना जाता था। इसलिये समस्त न्याय राजा की ओर से राजा के नाम पर किया जाता था। राजा राज्य का संरक्षक मात्र था। राज परिवार के सदस्यों के लिये वृत्तियाँ बंधी रहती थीं। राष्ट्र संगठन की दृष्टि से राजा प्रजा का सेवक मात्र माना जाता था। इन सभी तथ्यों को दृष्टि में रखते हुये डा० जायसवाल के अनुसार हिन्दू एकराजत्व की विशेषताओं को निम्न-लिखित श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) **राज्य एक थाती था**—राज्याभिषेक के समय यह कहा जाता था कि "यह राष्ट्र तुम्हें दिया जाता है। तुम इसके संचालक, नियामक तथा इस उत्तर-दायित्व के दृढ़ वहनकर्त्ता हो। यह राज्य तुम्हें कृषि (की वृद्धि), कल्याण, सम्पन्नता (प्रजा के) पोषण (अर्थात् सफलता) के लिये दिया जाता है।" अतः राज्य रूपी थाती राजा को प्रजा के कल्याण के लिये दी जाती थी। यदि राजा प्रजा का कल्याण न कर सके तो प्रजा को चाहिये कि ऐसे राजा को छोड़ दे। राजा को बता दिया जाता था कि राजकोष पर उसका कोई अधिकार नहीं है। यह उसकी निज की सम्पत्ति नहीं है। कोष प्रजा का है तथा उसका प्रयोग भी प्रजा के कल्याण के लिये होना चाहिये। शुक्र ने कहा है कि यदि राजा सार्वजनिक धन का दुरुपयोग करता है तथा उसे अपने कार्यों में व्यय करता है तो उसे नरक प्राप्त होता है। डॉ० जायसवाल ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है, "हिन्दू राज्य का संगठन ही हमें उसके विशेष गुण का परिचय कराता है। राज्य का लक्ष्य जनता में शान्ति और समृद्धि था। राज्य भावना भार न था······समृद्धि से आशय वास्तव में लौकिक आर्थिक समृद्धि था। जो समृद्धि उचित प्रबन्ध और न्याय द्वारा होती थी उसमें अत्यधिक उन्नति प्राकृतिक रूप में निहित थी।"

(2) **एकराजत्व नागरिक राज्य था**—हिन्दू राज्य कभी सैनिक राज्य नहीं रहा। यह सदैव से ही नागरिक राज्य रहा है। प्रान्तीय शासक नागरिक अधिकारी ही होते थे तथा उन्हीं के नाम पर आज्ञायें जारी की जाती थीं। राजा बनाने में भी सैनिक का कोई हाथ नहीं रहता था। राजा को पदच्युत भी केवल नागरिक लोग ही करते थे। सेना के प्रयोग को ही प्राचीन काल में अनुचित बताया गया। युद्ध करना अनुचित समझा जाता था। राजा यदि दूसरे का देश जीतने के लिये युद्ध करता है तो वह एक अनुचित कार्य करता है। यह धारणा हमारे यहाँ काफी प्राचीन काल से चली आ रही है। हमारे यहाँ धर्म पर अधिक जोर दिया गया। डॉ० जायसवाल के शब्दों में, "हमारे यहाँ सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि राजतन्त्र में धर्म या कानून का स्थान सबसे बढ़ कर और उच्च था महाभारत में राज्याभिषेक की प्रतिज्ञा है उसमें भी धर्म का बहुत अधिक महत्व हम देख ही चुके हैं। हमारे यहाँ धर्म पर जो

इतना जोर दिया गया है, उसी से यह सूचित होता है कि हिन्दू एकराज्यतन्त्र का विशिष्ट स्वरूप नागरिक ही था, सैनिक नहीं था ।

(3) **विजय तथा न्याय का भाव**—प्राचीन भारत में विजय की तुलना में धर्म तथा नैतिकता के सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया जाता था । किसी राज्य को जीत लेने के पश्चात् पुनः वहाँ का शासन विजित राजा को सौंप दिया जाता था । इसी का उल्लेख मुसलमान यात्री सुलेमान ने किया है, वह "वे लोग (हिन्दू राजा) जिन पड़ोसी राजाओं के साथ जो युद्ध करते हैं, वह प्रायः उनके राज्यों पर कब्जा कर लेने की नियत से नहीं किये जाते थे । जब कोई राजा किसी दूसरे राज्य पर कब्जा कर लेता है, तब वह वहीं के राजवंश के किसी व्यक्ति को वहाँ का राजा तथा शासन सौंप देता था ।" इण्डिका में भी इसी बात की ओर संकेत किया गया है । "वे (हिन्दू) कहते हैं कि न्यायशीलता किसी हिन्दू राजा को भारत की सीमाओं के बाहर जाकर विजय प्राप्त करने से रोकती हैं ।" इस प्रकार, हिन्दू एकराजत्व में युद्ध की अपेक्षा नैतिकता को अधिक महत्व दिया जाता था ।

डॉ० जायसवाल के मतानुसार, "मानव धर्मशास्त्र में यह विधान एक ऐसे राज्य का अनुभव करने के उपरान्त किया गया था, जो प्रायः समस्त भारत में और एक राजा के अधीन था और जो एक सागर से दूसरे सागर तक और मद्रास से हिन्दू कुश तक विस्तृत था । उसका आधार उचित उत्तराधिकार का कानूनी सिद्धान्त था। यह कोई ऐसा कोरा सिद्धान्त नहीं था, जो एक बार शुभ भावना के रूप में प्रतिपादित कर दिया जाता था और बाद में भुला दिया जाता था—

(4) **राज्यों का दीर्घायु होना**—हिन्दू राजतन्त्र का स्वरूप नागरिक एवं धर्मयुक्त होने के फलस्वरूप, हिन्दू राज्यों की आयु साधारण रूप से दीर्घ होती थी । युद्ध को निन्दनीय दृष्टि से देखा जाता था। इसी कारण शासक तथा प्रजा में किसी प्रकार के संघर्ष होने की कोई सम्भावना नहीं रहती थी । राजा प्रायः वही कार्य करते थे जिनसे प्रजा का अधिकतम कल्याण हो । प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्रियों ने भी इस विषय पर राजा को अनेक उपदेश दिये हैं । प्रजा की समृद्धि, सुरक्षा एवं शान्ति को ध्यान में रखकर जो शासन किया जायगा उसका दीर्घायु या स्थायी होना स्वाभाविक ही है ।

यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देना उचित है कि प्राचीन भारत में राजा को प्रजा का सेवक समझा जाता था । उसकी सेवा के बदले प्रजा की आय का निश्चित भाग उसे करके रूप में दे दिया जाता था । नारद का विचार है कि राजा जो प्रजा की रक्षा करता है उसके बदले में उसे करके रूप में वेतन दिया जाता है । इसी कारण शुक्र ने कहा है कि "सर्वतः पलभुग भुत्वा दासवत्स्यातु रक्षणों" अर्थात् प्रजा राजा को वेतन देती है । अतः उसे भी मृत्यु और दास के समान उसकी सेवा करनी चाहिये ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दू राज्यतंत्र का स्वरूप नागरिक और धर्मयुक्त था । प्रजा का पालन करना राजा का धर्म था । अतः राजा और प्रजा में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होता था । इस धार्मिक भावना के फलस्वरूप राज्य को थाती माना जाता था । राज्य की नीति प्रसारवादी नहीं होती थी ।

हिन्दू राजा की स्थिति—राज्य-शासन के मध्य राजा की स्थिति का स्पष्टी-

करण पहले परिच्छेद में किया जा चुका है, किन्तु यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि राजा की स्थिति में निरन्तर परिवर्तन होते रहे।

(1) **वैदिक काल**—वैदिक काल में राजा को राष्ट्र का मुखिया माना जाता था। समिति में एकत्र होने वाले लोगों द्वारा उसका निर्वाचन किया जाता था और उससे शासनाधिकार ग्रहण करने की प्रार्थना की जाती थी। अर्थर्ववेद के एक श्लोक में राजा से निम्न प्रकार निवेदन किया गया है—

आत्वाहार्यमंयर मूर्श्रवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वांछन्तु मां स्वद्रष्ट्रमाश्रिभ्रंशत्॥

अर्थात् तुम हर्षपूर्वक हम लोगों में आओ, अविचल रूप से स्थित हो, सब लोग तुम्हें चाहते हैं, तुम राष्ट्र से भ्रष्ट न हो। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में प्रजा राजा का वरण करती थी और उससे शासनाधिकार ग्रहण करने की प्रार्थना करती थी।

वैदिक काल में राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था यद्यपि उसका अत्यधिक सम्मान था। उसका निर्वाचन तथा सभा एवं समिति का उस पर नियन्त्रण होने से उसके स्वेच्छाचारी बनने की सम्भावना नहीं रहती थी। उसे पदच्युत भी किया जा सकता था।

(2) **उत्तर वैदिक काल**—उत्तर वैदिक काल में राजा के अधिकार अत्यन्त विस्तृत हो गये। राजपद वंश परम्परागत चलने लगा। किन्तु अभी तक दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का उदय नहीं हुआ था और वह दण्ड के ऊपर न होकर दण्ड के अधीन माना जाता था। यद्यपि इस काल में प्रजा उसे हटा सकती थी किन्तु पहले से अब उसको प्रतिष्ठा बढ़ा चुकी थी। उत्तर वैदिक काल में उसे नियमित रूप से कर मिलने लगा था। उसे अतुल्य योद्धा माना जाने लगा था सम्पूर्ण प्रजा पर उसका स्वामित्व स्थापित ही चुका था। लोग उससे डरने लगे थे।

(3) **रामायण और महाभारत काल**—रामायण काल में प्रजा का प्रिय बनने के लिये राजा सब कार्य करने को तैयार रहता था। राजा सगर ने इसी कारण अपने पुत्र को देश से निकाल दिया जिससे वह प्रजा का प्रिय बन सके।

महाभारत काल में राजा की यह शपथ लेनी पड़ती थी कि वह स्वेच्छाचारी न बनेगा। इस काल में राजा की दैवी सत्ता का सिद्धान्त पैदा हो गया था। यद्यपि राजा के अधिकार इस काल में भी असीमित नहीं थे और उसे पद से पृथक भी किया जा सकता था। राजा के लिये यह आवश्यक था कि वह स्वस्थ हो। राजा की दैवी शक्ति पर लोगों को पूर्ण विश्वास था। उसकी देवता-स्वरूप माना जाता था। उसे इन्द्र, यम तथा धर्म माना जाता था। वह समय-समय पर अग्नि, आदित्य, मित्र, यम तथा वैष्णव आदि का स्वरूप धारण करता है, राजा को प्रजा का हृदय संरक्षक, ख्याति तथा सर्वोच्च प्रसन्नता बताया गया है। महाभारत में कहा गया है कि लोगों को राजा का सत्कार करना चाहिये। राजा को कष्ट पहुँचाने वाले को कष्ट मिलेगा। इस काल में राज्य-कार्य में राजा ही मुखिया बन गया था। सभा तथा समिति जैसी संस्थाओं का उल्लेख नहीं मिलता है। विदेशी नीति का निर्धारण सेना तथा कोष पर नियंत्रण आदि राजा के ही कार्य थे। राजकाज में सहायता करने के लिये उसे मंत्रियों

का नियुक्ति करनी पड़ती थी। शान्तिपर्व में 47 सदस्यों की एक सभा का उल्लेख मिलता है। मन्त्रिगण राजा को शक्ति की किसी प्रकार प्रभावित नहीं करते थे। उनका स्वयं का पद राजा की स्वेच्छा पर निर्भर रहता था। राजा उन्हें निकाल भी सकता था।

(4) **अर्थशास्त्र के अनुसार राजा की स्थिति**—कौटिल्य के अर्थशास्त्र द्वारा भी राजा की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य का कथन है कि नृप प्रत्यक्ष ही प्रजा का कल्याण एवं विकास करता है। राजा का स्थान यम तथा इन्द्र के समान माना गया है। उसका तिरस्कार करने वाले पर दैवी विपत्ति आती है।

(5) **शुक्रनीतिसार के अनुसार राजा की स्थिति**–शुक्रनीति के अनुसार, "राजा राज्य वृक्ष का मूल है, मन्त्रि-परिषद उसका धड़ या स्कन्ध है, सेनापति उसकी शाखाएँ हैं, सैनिक उसके पल्लव हैं, प्रजा उसके पुष्प हैं, देश की सम्पन्नता उसके फल हैं तथा समस्त देश उसका बीज है।"

निष्कर्ष—वैदिक काल के उपरान्त राजा की महत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। वैदिक काल की प्रतिनिधि संस्था में समिति तथा सभा का महत्व भी कम हो गया। फलस्वरूप राजा के अधिकारों में क्रमशः वृद्धि होने लगी। मौर्य काल में राजा की शक्ति एकाधिकार के चरम सीमा पर पहुँच गयी। राजा को दैवी रूप प्रदान किया गया। गुप्त काल तक में राजा का सम्बन्ध देवताओं से स्थापित किया गया। वास्तव में इसका उद्देश्य केवल राजतन्त्र को दृढ़ एवं शक्तिशाली बनाना था।

प्रश्न (4) वैदिक समिति तथा सभा के बारे में आप क्या जानते हैं ? स्पष्ट कीजिये। क्या ये किसी प्रकार राजा के ऊपर नियन्त्रण कर सकती थीं।

अथवा

वैदिक युग में सभा तथा समिति के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिये।

अथवा

वैदिक राजनीति में 'सभा' एवं समिति के वैधानिक महत्व को स्पष्ट कीजिये।

वैदिक काल में यद्यपि राजा जनपद का प्रधान होता था और प्रजा उसका वरण करती थी, किन्तु शासन कार्य की दृष्टि से वह स्वतन्त्र नहीं होता था। उसकी सहायता के लिये समिति तथा सभा नामक दो संस्थायें होती थीं। अर्थवेद के अनुसार, समिति और सभा प्रजापति की दुहिताएँ हैं जो राजा की रक्षा करती हैं। अथर्ववेद के एक मुक्त के अनुसार पहले विराट (अराजक) दशा थी। विराट दशा में उत्क्रान्ति हुई और गार्हपत्य दशा का आविर्भाव हुआ। इसके बाद उत्क्रान्ति में 'दक्षिणाग्नि' की स्थिति आयी। इसके बाद दक्षिणान्ति की दशा में उत्क्रन्ति के बाद सभा को दशा आयी। सभी की दशा से उताक्रन्ति के बाद समिति की दशा आयी। उल्लेख से तत्कालीन संस्थाओं के क्रमिक-विकास पर प्रकाश पड़ता है और यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल के सामाजिक और राजनैतिक संगठन में इन संस्थाओं का अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान है। प्रस्तुत सन्दर्भ में इन दोनों संस्थाओं का पृथक् उल्लेख आवश्यक है।

समिति—वैदिक काल में विभिन्न सामूहिक संस्थाओं द्वारा राष्ट्रीय जीवन के कार्यों का संचालन किया जाता था। इन संस्थाओं में समिति को सबसे बड़ी संस्था माना जाता था। डॉ० जायसवाल के अनुसार, "यह समिति जनसाधारण अथवा दिशा की राष्ट्रीय सभा थी, क्योंकि हमें पता चलता है कि सब लोगों का समूह अथवा समिति

ही राजा का पहली बार भी और फिर से चुनाव करती थी। माना जाता था कि समिति में सभी लोग उपस्थित हैं।

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर समिति का उल्लेख किया है, जिसमें यह स्पष्ट होता है कि समिति के अन्तर्गत प्रजा का प्रतिनिधित्व रहता था। समिति के अध्यक्ष का 'ईशान' कहते थे। राजा को समिति के समक्ष उपस्थित होना पड़ता था। समिति के सदस्यों में पारस्परिक सहयोग आवश्यक समझा जाता था। शासन कार्यों के संचालन के लिये समिति को राजा के अनुकूल होना आवश्यक होता था। राजा समिति की इच्छा के बिना अपने पद पर नहीं रह सकता था।

ऋग्वेद से राजा द्वारा समिति के समक्ष उपस्थित होने का प्रमाण मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि राजा समिति की इच्छा के अनुसार समिति में उपस्थित होता था। ऐसा करना राजा के लिये आवश्यक था। जो राजा समिति के समक्ष उपस्थित नहीं होता था उसे सच्चा नहीं समझा जाता था।

समिति वैदिक काल के राष्ट्रीय जीवन की सर्वोच्च संस्था होती थी। अतः उसे राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण कार्य करने पड़ते थे। इसमें सबसे प्रमुख कार्य राजा का चुनाव करना होता था। यदि किसी राजा को एक बार पदच्युत कर दिया जाता था तो उसका दुबारा चुनाव भी समिति के द्वारा ही किया जाता था। ऋग्वेद में ऐसे अनेक उल्लेख हैं, जहाँ प्रार्थना की गयी है कि राज्य तथा समिति की नीति में मतभेद न हो। उनमें पारस्परिक एकता हो। इससे यह स्पष्ट होता है कि राज्य सम्बन्धी विधि विषयों पर विचार करना समिति का कार्य था।

डॉ० जायसवाल के अनुसार, "समिति में विविध सदस्यों के बीच वाद-विवाद भी होते रहते थे। सदस्य इस बात के आकांक्षी होते थे कि समिति के अन्य सदस्यों को उनका भाषण सुन्दर और प्रिय प्रतीत होते। प्रत्येक वक्ता अपने को श्रेष्ठ साबित करने का प्रयास करता था। अर्थववेद में अनेक ऐसी प्रार्थनाएँ हैं जिनमें यह उल्लेख किया गया है कि मेरा विपक्षी विवाद में मुझे जीत न सके···जो लोग मेरे विरुद्ध होकर विवाद करं तू उसके विवाद को दबा दे, उन्हें शक्तिहीन कर दे।" समिति में राजनीतिक विषयों के अतिरिक्त, अन्य विषयों पर विचार-विमर्श होता था।

समिति के सम्बन्ध में ऋग्वेद के केवल उन अंशों में उल्लेख मिलता है जिन्हें बाद को समझा जाता है। इसके आधार पर डॉ० जायसवाल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि, समिति आरम्भिक दैनिक युग की नहीं थी, बल्कि परवर्ती तथा विकसित समाज की उपज थी। वाद-विवाद को उन्नत अवस्था, वाद-विवाद करने का पूर्ण अधिकार, दूसरों की सम्मति पर विजय प्राप्त करने की वक्ता की चिन्ता आदि उच्चकोटि की उन्नति और सभ्यता के सूचक हैं।

वैदिक काल में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था। राज्याभिषेक के समय कर ग्रामीण, वणिक, आदि सभी वर्गों के प्रतिनिधियों के सम्मिलित होने का उल्लेख मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि समिति में सभी वर्गों के लोग सम्मिलित रहते थे। यह समझा जाता था कि समिति में सभी लोग उपस्थित हैं। ग्राम समिति संगठन के प्रमुख आधार होते थे।

समिति का कार्य-काल दीर्घ हुआ करता था। इसे प्रजापति की कन्या कहा

गया है, जिससे समिति की प्राचीनता के ऊपर प्रकाश पड़ता है। समिति के अस्तित्व का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद और अथर्ववेद में मिलते हैं। इसके बाद छान्दोग्य उपनिषद में भी समिति का कोई उल्लेख नहीं है। इस प्रकार समिति के अस्तित्व के बारे में ऋग्वेद के अन्तिम काल से लेकर ई० पू० 700 तक उल्लेख मिलते हैं। इसमें डॉ० जायसवाल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि समिति का अस्तित्व लगभग एक हजार वर्ष तक था। इसके बाद साम्राज्य का युग प्रारम्भ होता है, जिसमें समिति के ध्यान पर उल्लेख मिलता है।

सभा—वैदिक युग में जिस महत्वपूर्ण संस्था का उल्लेख मिलता है उसे 'सभा' कहा जाता था। समिति की भाँति ही सभा को भी प्रजापति की दो कन्याओं में से एक कहा गया है। अनेक वैदिक ग्रन्थों में सभा के सदस्यों को एक मत होने के लिए प्रार्थना की गयी है। सभा में होने वाले विरोध को बड़ा अप्रिय समझा जाता था। सभा का निश्चय सब लोगों के लिये मान्य होता था। इसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था।

सभा प्रजा के चुने हुये लोगों के एक संगठन के रूप में होती थी और समिति मातहत कार्य करती थी। सभा के सदस्य विशेष आदर और सम्मान के पात्र होते थे। सभा का प्रधान अधिकारी सभापति कहा जाता था।

सभा के अन्तर्गत विशेष रूप से न्याय सम्बन्धी कार्य सम्पन्न होते थे। यह राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य करती थी। अथर्ववेद में सभा को 'गरिष्ट' कहा गया है। सरिष्ट का अभिप्राय एक ऐसी संस्था से है जिसके निर्णय का अतिक्रमण नहीं किया जाता। सभा द्वारा निर्णय के गलत हो जाने की सम्भावना रहती थी। इसलिये ऋग्वेद में सभा में किये गये पाप से मुक्ति की प्रार्थना भी की गयी है।

समिति की भाँति ही वैदिक साहित्य के विभिन्न स्थलों पर सभा शब्द का उल्लेख किया गया है। इस आधार पर डॉ० जायसवाल ने सभा का आरम्भ काल ऋग्वेद का अन्तिम काल माना है। उनके अनुसार सभा का अस्तित्व भी प्रायः उतने ही समय तक था जितने समय तक समिति का अस्तित्व था। वैदिक युग के उपरान्त समिति तथा सभा के कार्य विभिन्न वर्गीय संस्थाओं द्वारा सम्पन्न होते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक सामाजिक संगठन में समिति तथा सभा नामक दो महत्वपूर्ण संस्थाओं का अस्तित्व था। इनके राज्य के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। समिति सम्पूर्ण विश को संस्था होती थी। इसके द्वारा राजा का वरण किया जाता था, राजा का अपदस्थ किया जाता था। इसके विपरीत सभा में न्याय कार्य सम्पन्न किया जाता था। इसके निर्णय का उल्लंघन नहीं हो सकता था। समिति तथा सभा की इच्छानुसार कार्य करना राजा के लिये आवश्यक होता था। इन दोनों संस्थाओं द्वारा राजा को शासन संचालन में सहायता तथा परामर्श प्रदान किया जाता था।

भारत में जाति-व्यवस्था

(Caste System in India)

प्रश्न (1) भारतीय जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति एवं विकास का परिचय दीजिये और उसके गुण-दोषों की संक्षिप्त विवेचना कीजिये।

अथवा

प्राचीन भारतीय जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

भारतीय समाज के निर्माण में जाति का महत्वपूर्ण योगदान है। जाति के स्वरूप और उसकी विशेषताओं में यथासम्भव अन्तर होता गया। जाति के स्वरूप-विभिन्नता के कारण जाति की परिभाषा करना कठिन रहा। जाति-प्रथा परिवर्तनशील एवं प्रवाहमान होती है। अतएव उसमें यथासमय विकास हुआ करता है। आज जाति प्रथा में परिवर्तन प्रतिलोभ-विवाह के कारण भी हुआ। राजनीतिक प्रभाव के कारण भी अनेक स्तर की जातियाँ बन गई, हैं जिसके कारण भी जाति की परिभाषा करने में कठिनाइयाँ दिखाई देती हैं। वास्तव में जाति-प्रथा एक जटिल रूप से युक्त सामाजिक संरचना है जिसमें अनेक सांस्कृतिक पक्ष तथा आधार भिन्न हैं। आर्थिक प्रणाली के साथ रक्त सम्बन्ध का भी जाति के विश्लेषण में महत्व है।

जाति की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों ने जाति की परिभाषा विभिन्न रूप में दी है। हरबर्ट रिजले जाति को परिवारों के समूह का संकलन बतलाता है। ब्लण्ट के अनुसार जाति अन्तर-वाह वाला समूह है, जिसकी सदस्यता वंशानुगत है। केलकर के अनुसार जाति एक सामाजिक समूह है जिसमें सदस्यता वहीं तक सीमित होती है जो सदस्य से उत्पन्न होती है। होकार्ट के अनुसार जाति परिवारों का समूह है जिसको कि उत्तराधिकार में एक से कार्य प्राप्त हुये हैं। मैकाइवर और पेज ने जाति की परिभाषा देते हुये लिखा है—"जब स्तर का इस प्रकार पूर्णतया निर्धारण हो जाता है जिससे लोग जिस वर्ग में पैदा हुये हैं उसी वर्ग में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता तो वह वर्ग जाति का रूप ले लेता है।

जाति-प्रथा की उत्पत्ति

भारतीय जति-प्रणाली एक अनोखी चीज है जिसके उद्‌भव के सम्बन्ध में अनेक विचार प्रचलित हैं। जाति-प्रथा हिन्दू समाज का आधार है जिसके स्वरूप में परिवर्तनशीलता, विभिन्नरूपता सदैव से पाई गई है। जाति-प्रथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आठ विचारधारायें प्रचलित हैं।

(1) **परम्परागत सिद्धान्त**—जाति-प्रथा की उत्पत्ति सम्बन्धी यह सिद्धान्त अति प्राचीन है। इस सिद्धान्त की व्याख्या वेदों, उपनिषदों, संहिताओं, धर्मशास्त्रों तथा महाकाव्यों में मिलती है। इस सिद्धान्त का आदि-स्रोत वेद के दशम मण्डल का

19वाँ मन्त्र है जो पुरुष-सूक्त कहलाता है जिसमें चारों वर्गों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया गया है। ग्रन्थों की 11वीं और 12वीं रचनाओं के अनुसार जगत-स्रष्टा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से राजन्य या क्षत्रिय की, जंघा से वैश्यों की, पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। बृहदारण्यकोपनिषद के अनुसार ब्रह्मा ने देवताओं में चार वर्ण बनाये उसी प्रकार मनुष्यों में भी वर्ण बन गये। महाभारत में एक स्थान पर भृगु जी ने कहा है कि ब्रह्म ने ब्राह्मणों का सृजन किया। तत्पश्चात अन्य जातियाँ विकसित हुईं। महाभारत में वर्णों का उल्लेख है तथा आदेश है कि अपने वर्ण में ही विवाह होना चाहिए। मनु ने भी जाति-उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने विचार रखे तथा अनुलोम विवाहों को भी स्पष्ट किया।

परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार स्रष्टा के शरीर से जातियाँ हुईं, अवैज्ञानिक है। मनु ने वर्णसंकरों से जातियों की जो उत्पत्ति बताई वह पूर्ण नहीं ज्ञात होती। इसमें जन-जातियों का कोई उल्लेख नहीं हुआ है।

(2) **धार्मिक सिद्धान्त**—सेनार्ट ने जाति-प्रथा की उत्पत्ति के लिये धार्मिक सिद्धान्त बताये। उसने आर्थिक सिद्धान्त की आलोचना करते हुए पैसे पर आधारित श्रेणियों को इनकार किया है। सेनार्ट ने वर्ण-व्यवस्था को भी जाति-प्रणाली का आधार नहीं माना। इसमें ग्रीस तथा रोम के प्रजातीय व्यवस्था की भारतीय समाज से तुलना की गयी है। सेनार्ट के अनुसार प्रत्येक समाज में परिवार एक धार्मिक समूह होता है। परिवार में संस्कारों तथा पवित्रता का ध्यान रखा जाता है। परिवार में धार्मिक भावना के कारण अन्तर्विवाह के नियम स्थापित हुए।

सेनार्ट के अनुसार एक जाति एक वंश अथवा परिवार से बनी, जो उचित नहीं ज्ञात होता। अन्तर्विवाह की भावना केवल आर्यों में ही नहीं पाई जाती। उपयुक्त परिवार की विशेषता आर्यों के अतिरिक्त अन्य प्रजातियों में भी पाई जाती है।

होकार्ट के अनुसार जाति प्रथा की उत्पत्ति देवताओं को भेट चढ़ाने की भावना के कारण हुई। किन्तु केवल बलि देने की भावना के आधार पर जाति की उत्पत्ति की बात ठीक नहीं दिखाई देती। देवताओं को भेट चढ़ाने के अनेक उदाहरण होकार्ट ने भारतीय धार्मिक पुस्तकों से उद्धृत किये हैं।

प्रजातीय सिद्धान्त—रिजले के अनुसार इण्डो-आर्य प्रजाति प्रागैतिहासिक काल में फारस से भारत आयी और फारस के चार वर्णों के आधार पर आर्यों ने भारतीय सामाजिक-व्यवस्था में चार वर्णों को स्थान दिया। आर्यों का संघर्ष मूलजातियों से हुआ और उन्होंने अनुलोभ विवाह किये। धीरे-धीरे अन्तर्जातीय विवाह ग्रहण कर अनुलोभ विवाह बन्द कर दिये गये। इस प्रकार समाज में अनेक वर्गों का जन्म हुआ।

घुरिये के अनुसार इण्डो-आर्य लोग ईसा से 5 हजार वर्ष पूर्व यूरोप और एशिया के विभिन्न भागों से अन्य स्थानों में गये। वहाँ के निवासियों को पराजित किया और दास बनाया, जिन्हें बाद में शूद्र वर्ण का माना गया। आर्यों में अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा प्रचलित थी, बाद में अनुलोभ विवाह प्रचलित हुये। आर्यों द्वारा विकसित सभ्यता ब्राह्मण सभ्यता कहलाई।

मजूमदार ने पुर्तगाली भाषा के शब्द 'कास्टास (Castas) से बने अंग्रेजी के शब्द केस (Case) की व्याख्या की। आक्रमणकारी आर्य अपने साथ स्त्रियाँ नहीं

लाये थे। प्रजातीय मिश्रण के आधार पर द्रविण संस्कृति से प्रभावित हाकर सामाजिक समूह बने। बाद में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों ने प्रजातीय तत्वों को शुद्ध रखने के लिये अन्तर्विवाह किया। किन्तु हट्टन के अनुसार इस पद्धति में खान-पान सम्बन्धी निषेधों को स्थान नहीं दिया गया। इस सिद्धान्त में आर्थिक पक्ष के साथ भौगोलिक तथा भाषा सम्बन्धी भेदों को स्थान नहीं है।

(4) **आदिम संस्कृति का सिद्धान्त**—हट्टन के अनुसार अब भारत में ऐसी अनेक जातियाँ हैं जिन पर धर्म या किसी विचारधारा का प्रभाव नहीं पड़ा है। नागा जाति में खान-पान सम्बन्धी निषेध पाया जाता है। जिसे 'माना' या 'जीवनशक्ति' सिद्धान्त कहा गया है जिसके अनुसार अन्य व्यक्तियों के हाथ का भोजन करना हानिकारक हैं। इसी प्रकार के न्यूजीलैण्ड तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी पाये जाते हैं। आक्रमणकारियों के सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभावों से भारतीय समाज की रचना हुई जिनमें निश्चित श्रेणियाँ तथा 'माना' का सिद्धान्त भारतीय जाति-प्रणाली की उत्पत्ति के विषय में कहाँ तक योगदान दे सकता है, सन्देहास्पद है।

(5) **सांस्कृतिक एकी भाव का सिद्धान्त**—श्री शरद्चन्द्र राय का विचार है कि सब वर्णों के अलग-अलग आध्यात्मिक मूल्य थे। इण्डो-आर्यों तथा प्राग्द्रविणों में यह विशेषता मिलती-जुलती थी। इसी कारण वर्ण-व्यवस्था को ग्रहण किया गया। इण्डो आर्य द्रविण प्राग्द्रविण की संस्कृतियों के एकीभाव से, विभिन्न देशों, सम्प्रदायों तथा जातियों को चार वर्णों में रखने का प्रयत्न किया गया। यह दृष्टिकोण रिजले के प्रजातीय एकीभाव हट्टन के अनुजातीय संस्कृति की महत्ता तथा धुरिये के ब्राह्मणों के प्रभाव को उचित स्थान नहीं देता है।

(6) **उद्‌विकासीय सिद्धान्त**—इवेरेशन महोदय के अनुसार आर्थिक कार्यों के कारण जातियों ने विशेष पेशों को अपनाया। वह व्यवस्था श्रेणी-व्यवस्था (Guild stage) थी। ये श्रेणी के लोग एक दूसरे की रक्षा करते थे। इन पेशों के संघों में संघर्ष होता रहा जिसमें पुरोहितों की विजय हुई जिसके कारण उन्हें सम्मान तथा अधिकार मिला। शनैः-शनैः पेशे के आधार पर अन्तर्विवाह करने वाली इकाइयाँ जाति के उद्‌भव में सहायक हुईं। अनेक देशों की जनजातियाँ पाई जाती हैं। उनमें श्रेणी हैं, व्यक्ति के आधार भी हैं कि वहाँ जाति-प्रथा का उद्‌भव नहीं हो पाया। हट्टन ने अवेटन के सिद्धान्त की आलोचना की हैं।

श्री रामशरण शर्मा ने भी उद्‌विकासीय सिद्धान्त को माना और मार्क्स के समाज-विकास से सिद्धान्त से प्रेरणा ली। शर्मा ने ब्राह्मणों को शोषक वर्ग के रूप में माना है जो ठीक नहीं है। इस सिद्धान्त में आर्थिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया गया है, अन्य पक्षों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

(7) **आर्थिक सिद्धान्त**—नेशफील्ड ने जाति-प्रथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आर्थिक सिद्धान्त को स्पष्ट है इसके अनुसार रंग जाति-व्यवस्था का आधार नहीं हो सकता। जातियों का भेद केवल पेशों या कार्यों के आधार पर हो सकता है। ऊँचे पेशे वालों ने भारतीय जातियों ने उच्च स्थान तथा निम्न श्रेणी के व्यवसायियों ने निम्न स्थान पाया है। हट्टन, मजूमदार, बोल (Bougle) आदि ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है। इसके अनुसार पेशों के आधार पर जातियाँ ऊँचो-नीची नहीं पायी

जाती हैं । सोनार भी निम्न जाति में आते हैं । नेशफील्ड की यह योजना सामाजिक परिस्थिति को स्पष्ट नहीं करती ।

(8) **राजनीतिक सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अब्बेडुबाय (Abbe-Dubbois) थे । अब्बेडुबाय ने भारतीय जाति-व्यवस्था का अध्ययन किया तथा उसकी चीन, मिस्र, ग्रीस आदि देशों से तुलना की । उन्होंने स्पष्ट किया है कि भारतीय जाति-व्यवस्था धर्म पर आधारित थी और ब्राह्मणों ने अपने ढंग से जाति-प्रथा का निर्माण किया और सम्पूर्ण देश में अपनी प्रभुता स्थापित कर सके । अबबेडुबाय के सिद्धान्त में एकतन्त्रीय व्यवस्था का आभास मिलता हैं तो इसमें सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख नहीं मिलता है तथा यह दृष्टिकोण अवैज्ञानिक प्रतीत होता है ।

जाति-प्रथा का विकास

प्राचीन काल में व्यक्ति आसानी से जाति बदल सकता था । कोई व्यक्ति अपना वर्ण बदल सकता था । परन्तु परशुराम जन्म से ब्राह्मण थे और कर्म से क्षत्रिय थे । इसी प्रकार विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे किन्तु कर्म से ऋषियों में उच्च बन गये थे । वशिष्ट भी वैश्यों के पुत्र थे । महर्षि व्यास भी धीवरी के पुत्र थे । समय के साथ जाति-प्रथा कठोर बनती गई और उसमें परिवर्तन कम होता गया । साथ ही एक जाति का दूसरी जाति में वर्ण-परिवर्तन भी कम होता गया । ये जातियाँ जातिगत बन गयीं उनका कर्मगत रूप छिप गया । धीरे-धीरे इनकी उप-जातियाँ भी बनती गयीं और उप-जातियाँ एक निश्चित स्थान पर निवास करती गईं । वैदिककालीन वर्ण-व्यवस्था ने उत्तर-वैदिक काल में अपना रूप बदल लिया । यज्ञ आदि कार्यों में जटिलता आ गई और एक वर्ग ही इसको करता रहा । ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण कहलाता था और वह अपने पिता के कार्य में हिस्सा बटाता था । यदि वह ब्राह्मण का कार्य पुरोहितगीरी नहीं करता था तब भी उसे ब्राह्मण ही कहा जाता था । आर्य जाति-व्यवस्था के द्वारा समाज के वर्गों में स्थायित्व लाना चाहते थे । इसलिए उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को वंशानुगत बनाया । जाति-प्रथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दिनकर का कथन है—''आर्यों ने जातिवाद का आश्रय इसलिए लिया कि उन्हें इस देश के अनेक वर्गों और लोगों को एक ही समाज के अन्दर अपनी-अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुसार, उचित स्थानों पर बिठाना था । असल में जातिवाद के रूप में आर्यों ने समाज के भीतर 'गैलरी' खड़ी कर दी जिसमें नीचे से ऊपर तक सभी श्रेणियों के लोग अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार आसानी से बैठ सकते थे ।'' जाति-प्रथा का जन्म आर्यों से अनार्यों के बीच घृणा की प्रवृत्ति के कारण हुआ । 'दिनकर' जी ने पुनः स्पष्ट किया है ''जो लोग आर्यों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन और उनके सामाजिक आचार सीख लेते थे, जाति की गैलरी में उनकी तरक्की आसानी से हो जाती थी । यह बात इससे भी सिद्ध है कि सुयोग्य द्रविड़ आरम्भ से ही ब्राह्मण मान लिये गये थे और आरम्भ से ही उनमें से अनेक लोग केवल द्रविड़ों के ही नहीं आर्यों के भी पुरोहित का काम करने लगे थे । उन्होंने आगे लिखा है, ''जाति-प्रथा के चालू करने में आर्यों का यह उद्देश्य नहीं था कि वे द्रविड़ औष्टिक अथवा नीग्रो समाज की छूत से बच सके, बल्कि यह कि इन तमाम जातियों के लोगों को वे आर्य सभ्यता में लाना चाहते थे और जो भी उनकी सभ्यता सीख लेते थे, समाज में उनकी उन्नति आसानी से हो जाती थी । आर्यों ने अपनी जाति-व्यवस्था में द्रविड़ों को प्रगति करने के लिए अनेक अवसर दिये ।''

उत्तरवैदिक काल में जाति-व्यवस्था के जटिल रूप होते के साथ-साथ ऊच नीच के विचारों के साथ-साथ व्यक्ति व्यवसायों में तो परिवर्तन कर सकते थे किन्तु जाति को नहीं बदल सकते थे।

आर्य समाज के विकास के साथ-साथ विभिन्न व्यवसायों का जन्म हुआ। इस प्रकार वैश्य जाति भी अनेक उपवर्गों में बँट गई। श्री बी० जी० गोखले का कथन है, "एक बढ़ता हुआ समाज होने के नाते आर्यकालीन इस समाज में काफी सामाजिक गतिशीलता थी और परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब ऋग्वेद में भी मिलता है। जैसे-जैसे विभिन्न व्यवसायों का विकास होता गया और व्यावसायिक कौशल पिता से पुत्र को उत्तराधिकार में मिलने लगा" वैसे-वैसे इन वर्गों में पृथक् समुदायों के रूप में घनीभूत होने की प्रवृत्ति आती गयी और समय की गति के साथ यह जाति-व्यवस्था की स्थापना का एक उपकरण बन गया।"

व्यवसाय के अनुसार बनी बढ़ई, सुनार आदि जातियों ने अलग रहना भी प्रारम्भ कर दिया। छठी शताब्दी ईसा-पूर्व में विभिन्न व्यवसायी अलग-अलग ग्रामों में रहते थे। विदेशी जातियों के आने से भी नयी जातियाँ बनीं जैसे जाट, गूजर आदि कभी-कभी एक जाति के लोगों ने कुछ वे निकाल दिया और उन्होंने नवीन जाति बनाई ये उपजातियाँ चारों ओर फैल गई।

जाति-व्यवस्था से लाभ

(1) **धर्म की सुरक्षा**—हिन्दू समाज में जाति-प्रथा तीन हजार से भी अधिक वर्ष से विद्यमान है। इस जाति-प्रथा ने आज तक हिन्दू धर्म तथा संस्कृति को अणुण्ण बनाये रखा। अनेकों विदेशियों ने आक्रमण किये तथा यहाँ के निवासियों का धर्म परिवर्तन करने की चेष्टा की। उसका हिन्दू जाति के उच्च लोगों ने विरोध किया। छोटी तथा निम्न जातियों ने भी अनेक प्रयत्न यथासमय किये। मुस्लिम शासन की दृढ़ता के बाद भी हिन्दू जाति व्यवस्था दृढ़ रही। औरंगजेब के कठोर इस्लामी नीति के बाद भी हिन्दू धर्म का नाश नहीं हो सका। जातियों के अपने संगठन के प्रति प्रेम ने बड़े साहस के साथ दूसरी जातियों का मुकाबिला किया।

(2) **प्राचीन परम्पराओं की रक्षा**—जाति-व्यवस्था ने प्राचीन परम्पराओं की सदैव रक्षा की। कोई भी जाति प्राचीन परम्परायें नहीं छोड़ती। यदि जाति परिवर्तन सम्भव होता तो ये परम्परायें समूल नष्ट हो जाती। लोगों ने अनेक विरोधों तथा कठिनाइयों के बाद भी परम्पराओं की रक्षा की है।

(3) **विदेशी जातियों का समन्वय**—हिन्दू जाति में विभिन्न विदेशियों का समन्वय होना भी जाति प्रथा के कारण हुआ। विदेशी आक्रामक समाज की विभिन्न श्रेणियों में आ सकते थे। मुसलमान हिन्दुओं की भाँति अनेक कार्यों को अपना सके। विदेशी हूण हिन्दू समाज में जाट बन सके। श्री 'दिनकर' का कथन है—"इस प्रथा का उद्देश्य भारतीय संस्कृति के ढाँचे में जहाँ आने वाली हर एक जाति का थाल लेना था। मंगोल, सूनानी, शक, आभीर हूण तथा मुस्लिम आक्रमण के पहले आने वाले तुर्क जाति-प्रथा के जन्म के बाद जो भी लोग इस देश में आये यह समस्या ही नहीं थी कि नवागन्तुक जाति के लोग समाज में कहाँ पर रखे जाये। जातियों की श्रेणियाँ अनेक थीं और वे दिनों-दिन बढ़ती जा रही थीं। अतएव नवागन्तुक लोगों में से हर एक को अपनी वैयक्तिक अथवा पारिवारिक संस्कृति के अनुसार जाति के ढाँचे में उपयुक्त स्थान आसानी से मिल जाता था।"

(4) **जातीय पवित्रता**—जाति-प्रथा केकारण हिन्दू जाति विभिन्न वर्गों में बँटी हुई थी जिनमें रक्त की पवित्रता बनी रही। जाति के वैवाहिक नियम कठोर थे, अन्तर्जातीय विवाह वर्जित थे। इस प्रकार जातीय पवित्रता बनी रही।

(5) **प्रेम की भावना व सहायता का विकास**—जाति-प्रथा के कारण आपस में प्रेम की भावना तथा सहायता की भावना का उदय हुआ। एक जाति के लोग अन्य जाति के सदस्यों में प्रेम रखते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर बड़े से बड़ा त्याग करने के लिये प्रस्तुत रहते हैं। एक लेखक ने कहा है, "जातीयता की भावना से प्रेरित होकर लोगों ने, बहुत से अच्छे-अच्छे कार्य किये हैं। जाति का धनी वर्ग अपनी जाति के वित्तहीन, दीन, असहायों की सहायता करता है और उसकी दशा सुधारने का सतत् प्रयत्न करता है। इससे जाति सेवा तथा त्याग के प्रशासनीय भाव जागृत होते हैं और सम्पूर्ण जाति की उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है और उसके सदस्यों का व्यक्तित्व गुरुतर होता जाता है। लोग अपने व्यक्तिगत हित को जातिगत हित के लिये त्यागने को उद्यत रहते हैं।"

(6) **सामाजिक संगठन के विरुद्ध विद्रोह की भावना को समाप्त करना**—जाति-व्यवस्था के रूप को समझने से ज्ञात होता है कि इससे परस्पर घृणा तथा विद्रोह की भावना लोगों में पैदा होगी किन्तु बात इसके विपरीत है। कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों में निम्न व्यक्ति को भी उठने को प्रेरित किया। अच्छे कर्म करता हुआ व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय के घर पैदा हो सकता है। इस भावना ने परस्पर प्रेम व उत्साह को जन्म दिया तथा जातियों ने सामाजिक व्यवस्था को तोड़ने का प्रयास नहीं किया।

(7) **दुर्गुणों पर प्रतिबन्ध**—जातियों ने व्यक्ति को दुर्गुणों से भी दूर रखा। यदि समाज विरोधी कार्य करता था तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। ब्राह्मण भी स्त्री या सुरा की लत में पड़कर समाज से निकाल दिये जाते थे तथा नाजायज कार्य करने पर उनका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता था।

(8) **व्यावसायिक कुशलता में वृद्धि**—जातियों का उदय 'श्रम विभाजन' के साथ हुआ। एक जाति के लोग अपने पूर्वजों के पेशों को ग्रहण करते थे जिनमें वे निपुण हो जाते थे। एक लेखक ने स्पष्ट किया है, "कार्य-कुशलता में जाति-प्रथा द्वारा वृद्धि हुई। एक चमार का पुत्र जूता बनाना जितना अच्छा समझ सकता है उतना अन्य कोई नहीं जान सकता क्योंकि वह बचपन से अपने घर में यही कार्य देखता है। लुहार के पुत्र को यह अच्छी प्रकार पता होता है कि लोहा कितना गर्म करने चोट करना चाहिये। इसी प्रकार व्यापारी का पुत्र व्यापार की बातें अधिक शीघ्रतापूर्वक समझ सकता है।" इस प्रकार व्यवसाय वंशानुगत होने से उद्योग तथा शिल्पकला में उन्नति हुई।

(9) **व्यावसायिक संघर्ष की समाप्ति**—एक व्यापार एक ही जाति करती थी। परिणामतः जातियों के कार्य पृथक् रूप से निश्चित हो गये। इस प्रकार व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा कम हो गई। जीविकोपार्जन की समस्या भी हल हो गई।

जाति-प्रथा के दोष-हानि

जाति-प्रथा में लाभ होने के साथ ही अनेक दोष भी हैं। सर हेनरी मेन (Henry Maine) ने इसे "अत्यन्त भयंकर और मानव-परिवार के लिये हानिकर बताया है।

(1) **राष्ट्रीय एकता में बाधक**—जाति-प्रथा राष्ट्र-विरोधी प्रथा है। जाति-प्रथा से हिन्दू समाज को अनेक जातियों तथा उपजातियों में बाँट लिया। परिणामतः उनकी संगठन-शक्ति कमजोर हो गई। हिन्दुओं के जाति-प्रेम में राष्ट्रीय प्रेम को ठेस पहुँचाई। विदेशी शासन की परतंत्रता जाति-प्रथा के कारण सामने आई। विदेशियों से केवल क्षत्रिय ही लड़ते रहे, अन्य जातियों के लोग घर बैठे रहे। राजपूतों तथा मराठों के समय में अनेक आपत्तियाँ इसी कारण आईं। अन्य जाति के लोग योग्यता न होने पर भी उच्च स्थान प्राप्त करते रहे।

(2) **विदेशी आक्रमणों का सामना करने में बाधक**—जब भी विदेशी आक्रमण सामने आया विभिन्न जाति के लोग संगठित होकर शत्रु से न लड़ सके। जाति-व्यवस्था के अनुसार क्षत्रिय ही युद्ध कर सकते थे। अन्य जातियाँ ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, युद्धकाल में निष्क्रिय बनी रहीं। परिणामतः अल्पसंख्यक क्षत्रिय मुस्लिम आक्रमणकारियों के सामने हार गये।

(3) **प्रतिभा का दुरुपयोग**—जाति-व्यवस्था ने प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिभा को विकसित होने का पूरा अवसर न दिया। निम्न जातियों पर बराबर अत्याचार होता गया। व्यवसायों के अनुसार जन्मजात निम्न वर्ग निम्न व्यवसाय करने को बाध्य किया गया। वे अन्य क्षेत्रों में प्रतिभा नहीं दिखा सकते थे। एक चमार सदैव वही कार्य करेगा जो वह करता आया है, चाहे उसमें बौद्धिक योग्यता ब्राह्मण से अधिक हो। परिणामतः योग्य पुरुष अपना उचित विकास न कर पाते जिससे समाज की बड़ी हानि हुई।

(4) **धर्म-परिवर्तन को प्रोत्साहन**—जाति-विच्छेद से अनेक बुराइयाँ भी पैदा हुईं। छोटी-छोटी बातों पर जाति से लोग निकाले जाने लगे। यदि हिन्दू मुसलमान के हाथ का खाना खा ले तो उसे जाति से निष्कासित कर दिया जाता था। ईर्ष्या की भावना भी कभी-कभी प्रोत्साहन देती थी। अनेक निम्न वर्ण के लोग दूसरे धर्मों की ओर आकर्षित हुए तथा जाति से निकाले गये। ऐसे लोगों को धर्म परिवर्तन की ओर मोहित होना पड़ा। अनेक हिन्दू ईसाई बन गये जो निम्न जाति के होने का परिणाम थे।

(5) **अप्रजातांत्रिक भावना का उदय**—जाति-व्यवस्था के कारण अनेक अप्रजातंत्रिक भावनायें भी उदय हुईं। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग जिन अधिकारों का उपयोग करता था, शूद्र वर्ग को उससे वंचित रखा गया। शूद्रों के साथ अभद्र व्यवहार भी होता था। जाति-प्रथा की सबसे बड़ी हानि उन वर्गों की रक्षा से है जो अधिकारी वर्ग कहलाता है। शूद्रों को अध्ययन का अवसर न मिला। परिणामस्वरूप घृणा की भावना पैदा हुई।

(6) **हिन्दू समाज में संगठन का भिन्न-भिन्न होना**—जाति-प्रथा ने समाज के संगठन को नष्ट कर दिया। व्यक्तिगत स्वतंत्रता को छीनकर जनसाधारण को पीड़ित करने वाले यंत्र के रूप में यह जाति-प्रथा कार्य करने लगी। विभिन्न जातियों ने कठोर नियम बनाकर विदेशियों को अपने धर्म में सम्मिलित होने से रोका। मुसलमान तथा अन्य विदेशी जातियाँ आज भी हिन्दू समाज से अलग रहीं। ये जातियाँ घृणा तथा ईर्ष्या की दृष्टि से देखी गयीं। इन्होंने अवसर पाकर हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य किया। इस प्रकार हिन्दू समाज के सदस्यों की संख्या घटती गयी।

(7) **संकीर्ण भावना का जन्म**—जाति-व्यवस्था के कारण संकीर्णता की

भावनायें पैदा होती गयीं। विदेशी जातियों के प्रति घृणा की भावना ने लोगों को नवीन विचारों से वंचित रखा। हिन्दू अपने को संसार में सर्वश्रेष्ठ मानने लगे। इस प्रकार सांस्कृतिक आदान-प्रदान में बाधा उपस्थित हुई। अरबी विद्वान अल्बेरुनी का कथन है, हम केवल इतना कह सकते हैं कि मूर्खता ऐसा रोग है जिसकी कोई औषधि नहीं है। हिन्दुओं का विश्वास है कि उनका जैसा देश, उनका जैसा राजा, धर्म ज्ञान, विज्ञान संसार में और कहीं नहीं है। यह घमण्डी है और उनमें मूर्खतापूर्ण अहंकार बहुत हैं। वह जो कुछ जानते हैं दूसरों को नहीं बताना चाहते। दूसरी जाति वालों और विशेषकर विदेशियों से वह अपने ज्ञान को छिपाने का बहुत प्रयत्न करते हैं। उनकी धारणा है कि संसार में कोई ऐसी जाति नहीं है जो ज्ञान-विज्ञान में उनकी तुलना करे। उनके पूर्वज इतने संकीर्ण दृष्टिकोण के नहीं थे जितने कि इस पीढ़ी के लोग हैं। इस संकीर्णता के कारण विदेशों में यात्रा स्थगित कर दी गई। भारतीय नई उन्नति से अपरिचित हो गये।''

(8) **समाज के विशाल वर्ग की उपेक्षा**—जाति-व्यवस्था के कारण निम्न वर्ग के प्रति अस्पृश्यता की भावना उच्च वर्ग में पैदा हुई। जाति-व्यवस्था का यह रूप भारतीय समाज को टुकड़ों में बाँटने के लिए उत्तरदायी हुआ। समाज की गतिशीलता रुक गई। अस्पृश्यता की भावना ने समाज के एक वर्ग को मृतप्राय बना दिया। अछूत न तो धर्म स्थानों में उपासना कर सकते थे और न ग्रन्थों का अध्ययन कर सकते थे। वे उद्योग भी नहीं कर सकते थे। उन्हें नौकर या दास के रूप में देखा गया तथा उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया।

(9) **राजनीतिक जीवन में विषमता का जन्म**—जाति-व्यवस्था ने राजनीतिक क्षेत्र में भी अनेक समस्याएँ पैदा कर दीं। हिन्दुओं ने मुसलमानों को सदैव अलग रखा। अलबेरुनी के शब्दों में, हिन्दुओं की कट्टरता का शिकार विदेशी जातियाँ होती थीं वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र कहते थे। उनके साथ किसी का विवाह या उठने बैठने खाने पीने का कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। वे समझते हैं कि इससे वे भ्रष्ट हो जायेंगे मुसलमानों में भी हिन्दुओं के प्रति घृणा उत्पन्न हुई। अंग्रेजी शासन को समाप्त करने में उन्होंने अधिक सहयोग नहीं दिया। अंग्रेजों ने भेदभाव को भावना का लाभ उठाया। मिस्टर जिन्ना को भारत विभाजन के हेतु उत्साहित किया गया। हिन्दुओं के भेदभाव के कारण दो राष्ट्र बन गये।

आज भी जाति-व्यवस्था चुनावों में जातिवाद को प्रश्रय देकर देश का अहित कर रही है। सरकारी पदों पर भी जातिवाद को प्रोत्साहन मिल रहा है।

प्रश्न (2) प्राचीन भारत में विभिन्न कालों में जाति-व्यवस्था के स्वरूप पर प्रकाश डालिये और जाति-वर्ग, वर्ण और गोत्र के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। अथवा

जाति-व्यवस्था की गतिशीलता पर प्रकाश डालिए और बताइये कि इस व्यवस्था पर बौद्ध और इस्लाम धर्म का क्या प्रभाव पड़ा।

सिद्धान्तों का इस सन्दर्भ में भी विचार कर लेना आवश्यक है कि भारतीय समाज में विभिन्न युगों में जाति-व्यवस्था का क्या स्वरूप रहा है? जाति-व्यवस्था की गतिशीलता का अध्ययन 4 कालों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(1) वैदिक काल, (2) उत्तर वैदिक काल, (3) धर्म-शास्त्र काल एवं (4) मध्य काल।

(1) **वैदिक काल (आरम्भ से 600 ई० पू० तक)**—वैदिक काल में जाति-व्यवस्था नहीं थी। यह ज्ञात होता है कि इस युग में वर्ग-व्यवस्था ही प्रचलित था। ऋग्वेद में ब्राह्मण में क्षत्रिय और वैश्य वर्णों का उल्लेख प्रमुख रूप किया है। एक, दो स्थानों पर शुद्र वर्णों का भी उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद से यह भी ज्ञात होता है कि उस युग में वर्ण-व्यवस्था भी कठोर नहीं थी और ऊँच-नीच की भावना गम्भीर नहीं थी। देशों के सम्बन्ध में भी किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था और न ही खाने-पीने का। सत्यकाम की कथा से यह ज्ञात है कि जन्म पर भी अधिक बल नहीं दिया जाता था। ब्राह्मणों का काम पूजा-पाठ करना और शिक्षा प्रदान करना ही था परन्तु वे क्षत्रियों का भी कार्य करते थे जैसा कि परशुराम की जीवनी से पता चलता है। खान-पान के सम्बन्ध में भी कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य एक दूसरे के हाथ का बनाया हुआ भोजन खा सकते थे। चूंकि विभिन्न वर्गों में विशेष रूप से ऊपर के तीनों वर्णों में ऊँच-नीच की भावना नहीं थी और न ही इनकी भाषा धर्म एवं संस्कृति में अन्तर था इसलिये अन्तर्विवाह प्रचलित थे। क्षत्रियों की शादी ब्राह्मणों में हो जाती थी। अतः अनुलोम विवाह प्रचलित थे। प्रतिलोम विवाह समाज के द्वारा मान्य नहीं थे।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वैदिक काल तक जाति-व्यवस्था के चिह्न भारत में प्रकट नहीं हुए थे न था वर्ण-व्यवस्था थी परन्तु विभिन्न वर्णों में कर्मानुसार परिवर्तन हो जाते थे। वर्णों में स्तरीकरण का अभाव और हर वर्ण में समाज में अलग-अलग स्थान था।

(2) **उत्तर वैदिक काल में जाति-व्यवस्था (छठी शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी तक)**—इस युग में वर्ण-व्यवस्था 'जाति-व्यवस्था' में परिवर्तित होने लगा था। वर्ण-व्यवस्था में जाति-व्यवस्था के चिह्न परिलक्षित होने लगे थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों वर्ण एक दूसरे से धीरे-धीरे अलग होने लगे थे। उनमें प्रथकता की भावना प्रकट होने लगी थी। शूद्रों का चौथा वर्ण पूरी तरह से स्पष्ट हो गया था। ऊपर के तीन वर्णों के लिये तीन विशेष प्रकार की सम्बन्धों एवं पूजा की विधियों एवं पिण्डों का विधान प्रारम्भ हो गया था। ब्राह्मण की शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी और उनकी कठोरता की नीति के कारण शक्ति का दुरुपयोग होने लगा था। इस युग में जैन और बौद्ध धर्म का विकास हुआ जिसके पृष्ठ पोषक क्षत्रिय ही थे। यह धर्म समानता की नीति पर आधारित था और ब्राह्मणों के विरुद्ध था। जैन और बौद्ध धर्म के पतन के बाद ब्राह्मणों ने अपनी खोयी हुयी शक्ति फिर से प्राप्त करने के लिये जाति के नियमों को भी अधिक कठोर बना दिया। वर्णों का संस्करण हो गया और वर्ग ने अपने को दृढ़ बना लिया। जाति-प्रथा के नियमों का उल्लंघन करने वालों को जाति से बहिष्कृत किया जाता था। जातक ग्रंथों से पता चलता है कि इस युग में प्रत्येक जाति के पेशों को जाति के आधार पर निश्चित कर दिया गया था और उनके अलग-अलग कर्त्तव्यों पर भी प्रकाश डाला जाता था। खान-पान, वेष-भूषा, विवाह आदि पर प्रतिबन्ध लगना प्रारम्भ हो गया था। अन्तर्जातीय विवाह पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये गये थे। यद्यपि अनुलोभ विवाह की आज्ञा थी परन्तु इन विवाहों से उत्पन्न संतानों को सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं था। इस युग में छुआछूत के विचारों का स्पष्टीकरण हुआ। भोजन के सम्बन्ध में नियम बने जिनमें विशेष रूप से शूद्रों द्वारा बना भोजन वर्जित था। शूद्रों

में ऊपर के वर्णों के साथ रहने, विवाह सम्बन्ध स्थापित करने और उनकी छूने की आज्ञा नहीं थी। निम्न-स्तर के शूद्र (चाण्डालों आदि) गाँव के बाहर रखे जाते थे। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में मेगस्थनीज नामक चीनी यात्री सम्राट चन्द्रगुप्त के दरबार में आया था। उसने भारत की 7 जातियों का उल्लेख किया है—(1) दार्शनिक, (2) योद्धा, (3) शिल्पी, (4) कृषक, (5) पशुपालक, (6) सदस्य और (7) परिदर्शक। उसके वर्णन में अवश्य ही भूल है। परन्तु फिर भी जाति के सम्बन्ध में उसके वर्णन की हँस कर डाला नहीं जा सकता। मेगस्थनीज ने स्पष्ट किया है कि अपनी जाति के बाहर किसी को विवाह करने की अनुमति नहीं थी, न ही किसी को अपने पेशों को छोड़ने की अनुमति थी। उदाहरण के लिये योद्धा कृषक नहीं बन सकता था और शिल्पी दार्शनिक नहीं बन सकता था। मेगस्थनीज ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है, "अपनी जाति के बाहर किसी के भी विवाह का अनुमोदन नहीं किया जाता अथवा किसी को भी अपने पेशे या व्यवसाय का प्रदर्शन नहीं करने दिया जाता अथवा कोई एकाधिक पेशों को अपना नहीं सकता। केवल दार्शनिक के लिये ही उसका व्यतिक्रम होता है, जिन्हें कि अपने गुणों के कारण कुछ विशेष सुविधा दी जाती हैं। इस देश की रीति के अनुसार अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध है। उदाहरणार्थं कृषक, अन्य जाति को किसी स्त्री से विवाह नहीं कर सकता था। प्रथानुसार किसी मनुष्य का 2 प्रकार का पेशा करना मना है। कोई एक जाति से दूसरे जाति में प्रवेश नहीं कर सकता था। जैसे यदि कोई पशुपालक है तो वह कृषक नहीं बन सकता। सभी जातियों के लोग त्यागी बन सकते हैं क्योंकि त्यागी का जीवन सहज नहीं बल्कि सबसे अधिक कठोर है।

(3) धर्मशास्त्र युग (तीसरी शताब्दी से 11वीं शताब्दी तक)—धर्मशास्त्र युग का शुभारम्भ दूसरी शताब्दी से होता है। उत्तर वैदिक काल में जाति-व्यवस्था का बीजारोपण तो हो चुका था परन्तु अभी वह पूर्णरूप से विकसित होकर सामने नहीं आया था। धर्मसूत्र के युग में जाति-प्रथा के नियमों की कठोरता, जिसका बीजा-रोपण उत्तर वैदिक काल में हुआ था, चरम सीमा पर पहुँच गई। इस काल में जिनमें केवल मात्र जन्म के आधार पर ही जाति का निर्धारण होने लगा। ब्राह्मणों को मान समाज में बहुत ऊँचा था। वे ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध (लिंक) माने जाने लगे। ब्राह्मणों की महिमा बढ़ी और जाति के नियमों का उल्लंघन करने वालों के लिए विभिन्न प्रकार के नरकों की कल्पना की गई। अब केवल शूद्रों को ही नहीं बल्कि सभी वर्णों का यह परम कर्त्तव्य था कि वे ब्राह्मणों की सेवा करें। राजा भी ब्राह्मणों का सम्मान करता था।

उत्तर वैदिक काल तक जाति-व्यवस्था मुक्त थी परन्तु धर्मशास्त्र युग में अमुक्त बन गई थी। यह मान्यता हो गई कि ब्राह्मण के घर में पैदा होने वाला व्यक्ति ब्राह्मण ही होगा। कर्मों के अनुसार जाति को नहीं बदला जा सकता था। शूद्र घर में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति सदैव शूद्र ही रहेगा। जाति-व्यवस्था के इस रूप को लाने का कार्य ब्राह्मणों ने ही किया। उन्होंने अपने स्वार्थों की पूर्ति के हेतु विभिन्न प्रकार के नियमों का निर्माण किया। स्वर्ग-नरक का विधान किया गया और विभिन्न प्रकार से स्वरूप के विधान का निर्माण किया गया। इस युग में वैश्यों को भी शूद्रों के समान माना जाने लगा। पेशों के प्रारम्भिक विभाजन को धर्मसूत्रों में दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया गया। अन्य विवाह के नियमों को कठोरता से लिया गया एवं अन्तर्जातीय विवाहों

का निषेध कर दिया गया। फिर भी अनुलोम विवाह मान्य थे और इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न द्विज वर्णीय सन्तानों को भी द्विज ही माना गया, परन्तु उनको समस्त धार्मिक अधिकार नहीं दिये गये।

यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह को इस युग में कठोरता से रोका गया परन्तु इस प्रकार के विवाहों का उल्लेख राज परिवारों में अवश्य मिलता है। जैसा कि एक वैश्य राजा के लड़की की शादी दक्षिण के एक ब्राह्मण से हुई थी। वैश्य राजा हर्षवर्धन ने अपनी बहन राजश्री का विवाह एक क्षत्रिय से किया था। इस युग में शूद्रों की स्थिति बहुत अधिक गिर गई। उनको निकृष्ट कोटि का माना जाने लगा। शूद्रों के हाथ का बना भोजन या छुआ हुआ पानी पीना वर्जित था। शूद्रों को किसी प्रकार के सामाजिक अधिकार नहीं दिये गये थे।

(4) **मध्य-कालीन युग (1100-1800 ई० तक)**—मध्य युग में मुसलमानों के आगमन के फलस्वरूप जाति-प्रथा को बहुत बड़ा धक्का लगा। मुसलमानों में जाति-पाति के अधिकार पर भेदभाव का अभाव था और वे समानता के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते थे। अतएव स्वाभाविक रूप में ही मुस्लिम राजाओं ने जाति-प्रथा को बेकार की चीज समझा। कुछ मुसलमान राजाओं ने भारत में इस्लाम के प्रचार का अधिक प्रयास किया और हिन्दुओं पर जजिया नामक कर लगाये। यह कर सभी जातियों पर लगाये जाते थे। इन राजाओं में फीरोज तुगलक, सिकन्दर लोदी और औरंगजेब विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुछ ऐसे मुसलमान शासक हुए जिन्होंने हिन्दू मुसलमान को भाई-भाई के स्तर पर लाने का प्रयास किया तथा हिन्दुओं में जाति-पांति के बन्धनों को तोड़ देने पर बल दिया। इस्लाम धर्म की समानता की नीति से प्रभावित होकर अनेक हिन्दू सन्त जाति-पाति के भेदभाव को दूर करने के लिए संलग्न हुए। क्षत्रियों और कायस्थों पर मुसलमानों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इसका कारण यह था कि क्षत्रिय योद्धा थे और कायस्थ राजकीय कार्यों में संलग्न थे। इन दोनों का सम्पर्क मुसलमानों से अधिक हुआ फलस्वरूप उन पर इस्लाम धर्म का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। अकबर ने भारत में पहली बार सरकारी स्कूल खोले जिनमें हिन्दू मुस्लिम बच्चों को एक साथ फारसी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाती थी। इसका प्रभाव जाति-प्रथा की कट्टरता पर पड़ा। उन जातियों के लोग अधिक प्रभावित हुए जो ब्राह्मणों की कठोरता से पीड़ित थे। कबीर, नानक, चैतन्य महाप्रभु आदि ने छुआछूत एवं आडम्बर आदि की कटु आलोचना की और जाति-पाति के आधार पर ऊँच-नीच की भर्त्सना की। इस सबका परिणाम यह हुआ कि शूद्रों को भी धार्मिक अधिकार प्राप्त हुए। उन्हें अनेक धार्मिक संस्कारों और पूजाओं को करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ में महाराष्ट्र में अनेक शूद्र सन्त जैसे नामदेव, तुकाराम आदि का प्रादुर्भाव हुआ इनके प्रयत्नों से शूद्रों की स्थिति में काफी सुधार हुआ।

इस सबसे यह स्पष्ट है कि मध्य युग में 2 प्रकार की विचारधाराओं का प्रचलन था। एक ओर तो मुसलमान शासक और धार्मिक सन्त यथा कबीर, नामक, चैतन्य और नामदेव आदि थे जो जाति-प्रथा की कट्टरता और ऊँच-नीच को समाप्त करना चाहते थे, दूसरी ओर ब्राह्मणों की कट्टरता की नीति थी। चूंकि इस युग में जाति-प्रथा पर प्रथम वर्ग द्वारा अनेक प्रहार किये गये अतएव ब्राह्मण भी अपनी ओर से अधिक कठोर हो गये। अस्पृश्यता का विचार और अधिक दृढ़ हो गया और अछूतों को बिलकुल

अलग कर देने का प्रयास किया। रक्त की शुद्धता पर बल दिया गया साथ ही बाल-विवाह और सती-प्रथा को प्रोत्साहन दिया गया। विधवा विवाह पर रोक लगा दी गई।

जाति-प्रथा पर बौद्ध धर्म और इस्लाम धर्म का प्रभाव—ऊपर हमने विभिन्न युगों में जाति-व्यवस्था के स्वरूप का विवेचन करते हुए बौद्ध और इस्लाम धर्म को जाति-व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख संक्षेप में कर चुके हैं। यहाँ पर इसका अलग से उल्लेख किया जा रहा है :

बौद्ध धर्म का प्रभाव—भारतीय सामाजिक संगठन को देखने से मालूम होता है कि जाति-व्यवस्था के रूप में बराबर परिवर्तन होता रहा है। 'जाति-प्रथा' का केन्द्रीय सिद्धान्त समाज के भिन्न-भिन्न तत्वों की असमानता है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जब जाति प्रथा बनी थी उसके तुरन्त बाद ही बौद्ध धर्म का समानता पर आधारित जीवन दर्शन इसके रूप को परिवर्तित करने लगा। पर भिन्न-भिन्न प्रकार के सांस्कृतिक और प्रजातीय समूहों से बने हुए भारतीय समाज का वातावरण समानता और प्राणिमात्र के प्रति दया पर आधारित बौद्ध धर्म के लिये बहुत उपयुक्त भूमि नहीं थी। इसलिये अनार्य देशों में तो बौद्ध धर्म अधिक फला-फूला पर भारत की असमानता पर आधारित और ब्राह्मणों द्वारा संचालित समाज-व्यवस्था ने बौद्ध धर्म को असमय ध्वस्त कर दिया।

इस्लाम धर्म का प्रभाव—बहुत बड़े काल से चली आ रही क्षेत्रीय और व्यावसायिक पृथकता और स्वतन्त्रता समाज के लिये बहुत ही अच्छी व्यवस्था लगी। मुसलमानों के आने से जातीय बन्धनों को और मजबूत करने की जरूरत पड़ी। मुसलमान अपने विजेतापन के अभिमान से स्वयं स्थानीय निवासियों से सीमित सम्पर्क ही रखने के इच्छुक थे तथा स्थानीय निवासी अपने जातिगत बन्धनों को और मजबूत करके मुसलमानों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से कतराने लगे थे। मुसलमानों ने अपने शासन-काल में भारत की उन्नति के लिए स्थापत्य कला आदि के क्षेत्र में कुछ योग किया और यदि वे चाहते तो सामाजिक न्याय और समानता के लिये भी भारतवर्ष को कुछ दे जाते। अपने साम्राज्य की रक्षा के लिये मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं के यहाँ भी विवाह किये। उस समय हिन्दुओं की संस्कृति की प्राचीरें अत्यन्त कमजोर हो गई थीं। स्वार्थवश लोगों ने मुसलमानों की पृथकता को कम कर दिया। लोगों ने अपनी कन्याओं का विवाह मुसलमानों के साथ भी किया। यद्यपि अपना धर्म फैलाने के विचार से मुसलमानों ने जातीय असमानता के साथ समझौता भी किया और धर्म परिवर्तन कर देने पर भी लोगों को अपनी पूर्व जाति में बने रहने की अनुमति दे दी।

जाति, वर्ण, गोत्र और वर्ग में अन्तर (1) जाति एवं वर्ण में अन्तर—होकार्ट और उनके अनुयायियों का विचार है कि वर्ग और जाति में केवल नाम मात्र का भेद है, कार्यों का नहीं। परन्तु हट्टन के अनुसार जाति और वर्ण एक दूसरे से भिन्न धारणाएँ हैं। जाति और वर्ण के मध्य यह भ्रम उत्पन्न होता है कि हिन्दू वर्ण-व्यवस्था वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित है और जाति-व्यवस्था में भी हम आधार रूप में इन्हीं वर्णों का उल्लेख कर चुके हैं। इससे स्पष्ट है कि वर्ण जाति के मध्य मौलिक अन्तर उनके क्रियात्मक और संख्यात्मक स्वरूप से ही सम्बन्धित है। वर्ण-व्यवस्था का दृष्टिकोण व्यवस्था है और जाति-व्यवस्था एक संकीर्ण विचारधारा है। यह जाति और अन्तर को स्पष्ट कर रहे हैं :—

(1) वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन की भौतिक विशेषताओं में से एक है और जाति-व्यवस्था का इतिहास इतना प्राचीन नहीं है।

(2) वर्ण-व्यवस्था समाज को केवल चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित करती है जबकि जाति-व्यवस्था समाज की हजारों जातियों और उपजातियों में विभाजित करती है।

(3) वर्ण विभाजन का आधार गुण और कर्म से है जबकि जाति-व्यवस्था का आधार एक मात्र जन्म या वंश है।

(4) व्यक्ति के कर्मों के अनुसार वर्ण की सदस्यता परिवर्तित हो सकती है परन्तु जाति व्यवस्था एक स्थिर व्यवस्था है, जो व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है, आजीवन सदस्य रहता है।

(5) वर्ण-व्यवस्था समानता की नीति पर आधारित है और उसके अन्तर्गत सभी वर्णों का समान महत्व है। परन्तु जाति-व्यवस्था समानता को जन्म देने वाली है। महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा था, वर्ण-व्यवस्था समानता की नीति पर आधारित है। उसके अन्तर्गत कार्यात्मक दृष्टिकोण से भी वर्णों का समान महत्व है, उनमें किसी प्रकार की भी ऊँच-नीच नहीं है। महात्मा गाँधी के अनुसार, वर्ण-व्यवस्था एक वैज्ञानिक सत्य है जिसका कार्य सभी के कर्त्तव्यों को स्पष्ट करके व्यक्ति को अवांछनीय प्रतिस्पर्द्धा से बचाना था। इससे पूर्णतया विपरीत जाति-व्यवस्था इन्हीं शर्तों पर आधारित व्यवस्था का एक ज्वलन्त उदाहरण है, जिसमें उच्च जातियों के सभी प्रकार के विशेषाधिकार दिए गए हैं, स्त्रियों को सभी प्रकार के अधिकारों से वंचित किया गया है। सभी जातियाँ सामुदायिक भावना को प्रदर्शित करती हैं कि उनकी वर्ण-व्यवस्था जैसी उदार नीति से तुलना भी नहीं की जा सकती !

(6) वर्ण-व्यवस्था में लोच का गुण है। उनमें उदारता है। विभिन्न वर्णों के धर्म या कर्त्तव्य-पृथक-पृथक होने पर भी इस अवस्था में अनुलोम विवाह की स्वीकृति दी गई है। दूसरी ओर जाति-व्यवस्था में कठोरता है। यह व्यवस्था पूरी तरह से अन्तर्विवाही है और किसी भी स्थिति में एक जाति को एक दूसरी जाति से विवाह करने की अनुमति नहीं दी जाती।

(7) वर्ण-व्यवस्था कर्त्तव्यों की व्याख्या से सम्बन्धित है जबकि जाति-व्यवस्था कर्त्तव्यों पर बहुत कम बल देती है और सामाजिक, धार्मिक तथा वैवाहिक निषेधों पर ही बल देती है।

(2) **जाति और गोत्र में अन्तर**—जाति तथा गोत्र एक दूसरे के मिलते-जुलते प्रत्यय हैं। एक जाति के व्यक्ति जिस प्रकार एक समाज उत्पत्ति का दावा करते हैं, उसी प्रकार एक ही गोत्र के सदस्य भी अपने को समान पूर्वज की सन्तान मानते हैं। किन्तु इस समानता के बावजूद भी दोनों भिन्न हैं। इन भिन्नताओं को हम निम्न प्रकार से स्पष्ट कर रहे हैं।

(1) गोत्र एक काल्पनिक पूर्वज या देवता पर आधारित होता है। यह एक काल्पनिक समूह होता है परन्तु जाति मुख्य तौर से जन्म पर आधारित होती है और यह एक वास्तविक तथा सुसंगठित समूह होता है।

(2) गोत्र एक बहिर्विवाही समूह है। एक गोत्र का सदस्य अपने गोत्र में

विवाह नहीं कर सकता। परन्तु जाति एक अन्तर्विवाही समूह होता है। एक जाति के सदस्य अपने ही जाति के अन्दर विवाह कर सकते हैं।

(3) गोत्र में बहुधा सभी सदस्यों की सामाजिक स्थिति एक-सी होती है परन्तु जाति में विभिन्न गोत्रों को लेकर सामाजिक स्थिति में अन्तर होता है।

(4) **जाति और वर्ग में अन्तर**—जाति तथा वर्ग आधुनिक समाजों में स्तरीकरण के दो प्रमुख आधार हैं, जाति प्रणाली में व्यक्ति का सामजिक स्तर विशेषाधिकार, कर्म आदि जन्म के अनुसार निश्चित होते हैं। इसके विपरीत वर्ग प्रणाली में, व्यक्ति के कार्य तथा पद का निर्धारण, उसकी योग्यता तथा उपलब्धियों के आधार पर होता है। इन दोनों के अन्तरों को हम निम्न प्रकार से स्पष्ट कर रहे हैं :—

(1) जाति-प्रणाली एक बन्द वर्ग है। जहाँ वर्ग प्रणाली एक मुक्त वर्ग है। जाति में जन्म से सामाजिक स्तर निर्धारित होता है और किसी अन्य जाति में सम्मिलित होने का अवसर नहीं मिलता। वर्ग प्रणाली में मनुष्य की असमानताएँ मान्य होती हैं और उनकी उन्नति के लिए समान अवसर दिये जाते हैं। व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में अपने प्रयास के द्वारा प्रवेश कर सकता है।

(2) जाति में व्यक्तिगत क्षमता और योग्यता की अपेक्षा की जाती है। नीची जाति के व्यक्ति को उसकी योग्यता और क्षमता के बावजूद भी उन्नति के लिए अवसर नहीं दिया है। परन्तु वर्ग में व्यक्ति अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार समाज के शीर्ष पर पहुँच सकता है।

(3) जाति प्रणाली में बहुत हद तक पेशा जन्म से निश्चित हो जाता है परन्तु वर्ग-व्यवस्था से स्वेच्छा के अनुसार पेशा चुना जा सकता है।

(4) जाति-व्यवस्था में जीवन-यापन के सभी कार्यों तथा आचरण को एक निश्चित नियम के अनुसार पूरा करना पड़ता है। खाना-पोना, पूजा, विवाह शिक्षा प्राप्ति आदि सभी के लिए एक निश्चित नियम बने हैं। परन्तु इस तरह की व्यवस्था वर्ग-व्यवस्था में नहीं है।

(5) जाति-व्यवस्था में व्यक्ति के कार्यों को एक विशेष रूढ़ियों और भौतिकता के आधार पर निश्चित कर दिया जाता है परन्तु ऐसी व्यवस्था वर्ग प्रणाली में नहीं है।

(6) जाति-व्यवस्था में सामाजिक सम्बन्ध निश्चित और स्थिर होते हैं परन्तु वर्ग व्यवस्था में सामाजिक सम्बन्ध समय और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं।

(7) जाति-व्यवस्था में प्रत्येक जातियों के अपने-अपने अलग-अलग अधिकार होते हैं और उनके अपने-अपने अलग-अलग पेशे होते हैं। छोटी जातियों की सेवाओं को पाने के लिने बड़ी जातियों में प्रतिस्पर्द्धा होती है। जहाँ वर्ग प्रणाली में कुछ-कुछ इनेगिने व्यक्ति ही शीर्ष स्थान पर होते हैं और सम्पूर्ण वर्ग व्यक्तियों को शोभित करने की चेष्टा करते हैं।

(8) जाति-प्रथा में प्रत्येक जाति को अपने विशेष पेशे के कारण एक आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है, जहाँ वर्ग व्यवस्था में ऊँचे, सामाजिक स्तर वाले व्यक्तियों की आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक प्रस्थिति का सम्बन्ध एक दूसरे से सम्बन्धित होता है। यदि उनकी सामाजिक प्रस्थिति भी जाती रहती है। परन्तु ऐसी व्यवस्था जाति प्रणाली में नहीं पायी जाती है। ●